श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, ४,

वर्णी-वाणी

(द्वितीयभाग)



सङ्कलयिता और सम्पादक —
विद्यार्थी नरेन्द्र

प्रकाशक —
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
भदैनीघाट, काशी

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, काशी
ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक —
फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री



प्रथम संस्करण वि० सं० २००६
मूल्य ५)



मुद्रक —
मेवालाल गुप्त,
बम्बई प्रिंटिंग काटेज,
बाँस फाटक,
काशी

समर्पण—

पूज्य पिता स्व० श्री पटवारी देवीप्रसाद जी
जिन्होंने मुझे इस योग्य बनानेकी आशा में अपने सारे
सुखों का त्याग किया और आयुके अन्तिम क्षणों में भी
पूज्य श्री वर्णीजी के सदुपदेशों को 'वर्णी-
वाणी' से समाधि-मरणके पाठ रूपमें
सुना, उन्हीं पूज्य पिताजी

की

पुण्य स्मृति

में

पूज्य माता श्री सरस्वतीदेवी जी
जिन्होंने नामसे सरस्वती होकर भी मुझे शिक्षित बनाने
रूप श्रद्धा सुमनोंसे उसकी मूक अर्चना जैसा पुण्य
कार्य अब तक अतुल सन्तोषके साथ किया,
उन्हीं 'स्वर्गादपि गरीयसी'
महामहिम जननी

के

कर कमलों

में

श्रद्धावनत

तनुज—

नरेन्द्र

उदार सहायता

सागरके प्रसिद्ध रईस श्रीमान् सेठ भगवानदासजी शोभालालजी बीड़ीवाले उदाराशय, धार्मिक और सरल प्रकृतिके युगल बन्धु हैं। इनके द्वारा उदारतापूर्वक दिए गये दानके परिणामस्वरूप 'वर्णीवाणी' (द्वितीयभाग) का प्रकाशन हो रहा है। आगे भी इस द्रव्य द्वारा वर्णी ग्रन्थमालासे अन्य लोकोपयोगी धार्मिक साहित्य प्रकाशित होता रहेगा।

प्रकाशकीय वक्तव्य

हमें आज श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला काशीसे "वर्णीवाणी" का दूसरा भाग प्रकाशित करते हुए अतिशय आनन्द हो रहा है। वर्णीवाणी (प्रथम भाग) की अब तक तीन आवृत्तियां प्रकाशमें आ चुकी हैं। इनमेंसे अन्तकी दो आवृत्तियां इसी ग्रन्थमाला से ही प्रकाशित हुई हैं। पूज्यपाद प्रात स्मरणीय गुरुदेव श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णीके सदुपदेशोंके प्रति जन समाजका कितना आकर्षण है इसका स्पष्ट आभास प्रथम भागकी तीन आवृत्तियोंसे मिल जाता है, अत ग्रन्थमालाका इस द्वितीय भाग के प्रकाशनकी ओर लक्ष्य जाना स्वाभाविक ही था।

हमारा यह सौभाग्य है कि वर्णी जी अभी हमारे बीच विद्यमान हैं और अपनी अत्यन्त वृद्धावस्था तथा कष्टसाध्य चर्या के बावजूद भी जनता के आत्म-कल्याणार्थ असाधारण परिश्रम कर रहे हैं। जहाँ वे पहुंचते हैं, जनता बावली होकर उनके उपदेशामृतका पान करनेके लिये उमड़ पड़ती है। और उनके दर्शन कर तथा अनन्य मधुर वाणी सुनकर कृतार्थ हो जाती है। ऐसे महापुरुषकी वाणीका सकलन हमारे लिये और हमारी भावी सतान परपराके लिये महान् उपयोगी समझकर ही ग्रन्थमालाने उसका प्रकाशन करना ठीक समझा है। भविष्यमें भी वर्णीवाणीका जितना सकलन होता जायगा, उसका प्रकाशन तीसरे चौथे आदि भागोंके रूपमें ग्रन्थमाला द्वारा होता ही रहेगा।

भूमिदान यज्ञके महाप्रवर्तक प्रसिद्ध सन्त आचार्य विनोवाजी भावे महोदयने पुस्तककी प्रस्तावना लिखकर उसके मूल्यको बढ़ाया है।

इसके प्रकाशनके लिये श्री सेठ भगवानदासजी शोभालालजी बिड़ीवाले सागरवालोंने दो हजार रुपया दानमें दिया है। आपकी संक्षिप्त जीवनी इसी भागमें छपी है। उससे पाठकों को बिड़ीवालोंके जीवनके बारेमें आवश्यक जानकारी मिल जायगी। वास्तवमें बिड़ीवालोंकी धार्मिक भक्ति सराहनीय है और उन्होंने जो ग्रन्थमालाको महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान किया है एतदर्थ वे हमारे धन्यवादके पात्र हैं।

श्री प० मुन्नालालजी समगोरया तथा वैद्यराज प० भगवानदास जी सागरवालोंके नाम तो इस भागके प्रकाशनके सिलसिलेमें किसी भी तरह भुलाये ही नहीं जा सकते हैं। वास्तव में प० मुन्नालालजी समगोरयाकी सत्प्रेरणा ने ही बिड़ीवालोंके अन्त करणमें ग्रन्थमालाके प्रति अभिरुचि जाग्रत की है।

प्रथम भागकी तरह द्वितीय भागका संकलन और संपादन भी श्री विद्यार्थी नरेन्द्रजीने ही किया है। प्रथम भागके पाठक उनकी योग्यता और सक्षमता को भली प्रकार समझ ही चुके हैं।

श्री प० फूलचन्द्जी सिद्धान्तशास्त्री तो ग्रन्थमालाके संचालन का समस्त भार ही सम्हाल रहे हैं। ग्रन्थमालाका जो भी कार्य प्रकाशमें आता है उसका पूर्ण श्रेय पण्डितजी को ही है।

अन्तमें मैं उल्लिखित महानुभावों तथा अन्य प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपसे सहयोग देनेवाले दूसरे सभी महानुभावोंका सादर आभार मानते हुए अपने वक्तव्यको समाप्त कर रहा हूँ।

निवेदक

वंशीधर व्याकरणाचार्य बीना

मंत्री श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला काशी।

लोकनागरी लीपी.

वर्णीजी के सद्वचनों का संग्रह करनेवाली अिस कीताब की प्रस्तावना के तौर पर दो शब्द मैं लीखूं अैसी मांग की गयी है वर्णीजी अेक नीष्काम जन सेवक है और अुन्के वीचार सुलझे हुअे हैं सब धर्मों को वे समान दृष्टी से देखते है और लोगों की सेवा में ही सबका पर्यवसान समझते है अैसे अनुभवीयों के वीचारों का परीशीलन जीतना जनता को होगा कल्याणदायी होगा

काशी वीद्यापीठ, बनारस।
तारीख ३१ ७ १९५२

वर्णीजी और जैन धर्म

सन्त विनोबाजी भावे —

एक ऐसे महापुरुषकी जयन्ती मनानेके लिए हम एकत्रित हुए हैं। जिन्होंने समाज सेवाका कार्य किया है। भूदान यज्ञके सिलसिलेमें मैं ललितपुरमें वर्णीजीसे मिला था। भूदान यज्ञकी सफलताके लिए सहानुभूति प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था कि ऐसे महासन्तको छोटेसे कार्यके लिए घूमना पड़े यह दुःखकी बात है। वर्णीजीने जो कार्य किया है वह बहुत अच्छा है। वे ज्ञान प्रचार चाहते हैं। जनतामें ज्ञान प्रचार हो जानेपर अन्य अच्छी बातें स्वय ही आजाती हैं। मूल सिंचन करनेसे पानी शाखाओं तक स्वय ही पहुँच जाता है। वर्णीजी स्वय जैन नहीं थे पर जैन होकर जैन समाजका ही हित नहीं किया जैनेतरोंका भी हित किया है।

जैनधर्म प्राचीन धर्म है। इसका वैदिक धर्मके साथ अच्छा सम्बन्ध रहा है, किन्तु बीचमें कशमकश व मन्थन भी चलता रहा। दोनोंने रूप बदला पर दूधमें शक्करके समान घुलकर काम किया। नतीजा यह हुआ कि जैनधर्म आज भी है। इसके विपरीत बौद्धधर्म हिन्दुस्थान ही नहीं दुनियाँमें फैला, किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे यह यहाँ नहीं है। जैन चुपचाप कार्य कर रहे हैं। उनकी कार्यशैलीमें विरोध नहीं है। लोग महावीरजीसे कई सवाल पूछते थे। ब्राह्मणोंके प्रश्नोंका जवाब वे उपनिषदों जैसा देते थे। उनका ध्येय पन्थविशेषका प्रचार नहीं था। आत्माका उद्धार मुख्य उद्देश था। अतः आग्रहविना उन्नतिका कार्य जैनोंने किया। बौद्धधर्मकी सुश्रू आज भी चीन और जापानसे कहीं अधिक

हिन्दुस्थानके अन्तस्थलमें है। उनकी भूतदया और अहिंसा आदि हिन्दुओंने भी मानी। यह वैदिक धर्ममें भी है। राजसत्ता द्वारा धर्म फैलनेकी बजाय मिटता है। ईसाईयोंने राजसत्ता द्वारा धर्म फैलानेका प्रयास किया तो झगड़े हुए। हिन्दुओं को राजसत्तासे धर्म फैलानेमें लाभ न हुआ। जैन भी राजा थे। शासनने धर्मके लिए मदद पहुचायी, इसलिए संघर्ष पैदा हुआ। इस्लाम इसका उदाहरण है। बड़ी जमात होना धर्म प्रचारका लक्षण नहीं। सत्यका प्रचार सत्तासे नहीं होता। धर्म और सत्ताका मिश्रण ठीक नहीं। दोनोंमेंसे या धर्म नष्ट होगा या सत्ता नष्ट होगी।

जैन बुद्धिवादी हैं। जैनोंने इतना साहित्य लिखा है कि शायद ही इतनी छोटी जमात इतना साहित्य लिख सके। प्रत्येक शास्त्रमें हजारों ग्रंथोंकी रचना की। बहुतसी सारी भाषाओंमें जैनाचार्योंने ग्रन्थरचना की है। अपभ्रंश, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओंमें इनका साहित्य भरा पड़ा है। मूलभाषाओंके क्षेत्रमें विशेषतया जैनोंका हाथ रहा है, जैनोंने तालीम देना अपना कर्तव्य माना। जब बालक मूलाक्षर क ख ग सीखने जाता है तब 'श्री गणेशाय नमः' विद्यार्थीकी तरफसे बोला जाता है। 'ॐ नमः सिद्धेभ्य' जैन गुरुओंका मूल मन्त्र है। जैन गुरुओंसे हिन्दू भी पाठ पढ़ने जाते थे, किन्तु वे अपने धर्मका भार किसीके ऊपर नहीं लादते थे। उनका कहना था कि विद्या प्रचारसे सब कुछ हो जाता है। वे ज्ञान देकर ही सन्तुष्ट रहते थे। वर्णीजीने भी यही किया।

एक जमाना था जब जैन, बौद्ध, हिन्दू तीनों मिलकर एक ही घरमें रहते थे।'

जैन माध्यस्थ दृष्टिसे काम करते हैं। अहिंसाके सिवाय माध्यस्थ दृष्टि रखते हुए मेल जोलसे रहना विचार भेद होते हुए भी

एक दूसरेकी कद्र करना जैनोंकी चीज है। इस माध्यस्थ दृष्टिने संसारको बड़ी भारी सीख दी है। तर्क और न्यायशास्त्र रचकर इसे पक्की बना दी। तत्त्वज्ञान न देते तो न टिकती, क्यों कि भारतीय तत्त्वज्ञानी आत्मभेदमें बुनियादी शोध करते थे। साम्यवादी भी समदृष्टिको बल देते हैं। "शास्त्रं ज्ञापकं न कारकं" के अनुसार शास्त्र मार्ग सूचक यन्त्रकी तरह स्थिति बता देते हैं। अमलमें लानेपर ही उनका ज्ञान होता है। वर्णीजीने इसी श्रद्धासे काम फैलाया। जैनी और अन्यों को भी प्रेरणा दी। उनकी जयन्ती का लाभ उठाते हुए आत्मा का लाभ करें। नाम और जाति तो बन्धन हैं। महापुरुष चाहते नहीं। जयन्ती मनाने का प्रयोजन अच्छे कामों का अनुकरण करना है। ❀



❀ ७९ वीं वर्णीजयन्ती सप्ताहके उद्घाटनके समय ता० १ सितम्बर सन् १९५२, अनन्तचतुर्दशी को श्री स्याद्वाद जैन विद्यालयमें किया गया प्रवचन।

हिन्दुस्थानके अन्तस्थलमें है। उनकी भूतदया और अहिंसा आदि हिन्दुओंने भी मानी। यह वैदिक धर्ममें भी है। राजसत्ता द्वारा धर्म फैलनेकी बजाय मिटता है। ईसाईयोंने राजसत्ता द्वारा धर्म फैलानेका प्रयास किया तो झगड़े हुए। हिन्दुओं को राजसत्तासे धर्म फैलानेमें लाभ न हुआ। जैन भी राजा थे। शासनने धर्मके लिए मदद पहुचायी, इसलिए संघर्ष पैदा हुआ। इस्लाम इसका उदाहरण है। बड़ी जमात होना धर्म प्रचारका लक्षण नहीं। सत्य-का प्रचार सत्तासे नहीं होता। धर्म और सत्ताका मिश्रण ठीक नहीं। दोनोंमेंसे या धर्म नष्ट होगा या सत्ता नष्ट होगी।

जैन बुद्धिवादी हैं। जैनोंने इतना साहित्य लिखा है कि शायद ही इतनी छोटी जमात इतना साहित्य लिख सके। प्रत्येक शास्त्रमें हजारों ग्रन्थोंकी रचना की। बहुत-सी सारी भाषाओंमें जैनाचार्योंने ग्रन्थरचना की है। अपभ्रंश, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओंमें इनका साहित्य भरा पड़ा है। मूलभाषाओंके श्रोतमें विशेषतया जैनोंका हाथ रहा है, जैनोंने तालीम देना अपना कर्तव्य माना। जब बालक मूलाक्षर क ख ग सीखने जाता है तब 'श्री गणेशाय नम' विद्यार्थीकी तरफसे बोला जाता है। 'ॐ नम सिद्धेभ्य' जैन गुरुओंका मूल मन्त्र है। जैन गुरुओंसे हिन्दू भी पाठ पढ़ने जाते थे, किन्तु वे अपने धर्मका भार किसीके ऊपर नहीं लादते थे। उनका कहना था कि विद्या प्रचारसे सब कुछ हो जाता है। वे ज्ञान देकर ही सन्तुष्ट रहते थे। वर्णीजीने भी यही किया।

एक जमाना था जब जैन, बौद्ध, हिन्दू तीनों मिलकर एक ही घरमें रहते थे।

जैन माध्यस्थ दृष्टिसे काम करते हैं। अहिंसाके सिवाय माध्यस्थ दृष्टि रखते हुए मेल जोलसे रहना विचार भेद होते हुए भी

एक दूसरेकी कद्र करना जैनोंकी चीज है। इस माध्यस्थ दृष्टिने संसारको बड़ी भारी सीख दी है। तर्क और न्यायशास्त्र रचकर उसे पक्की बना दी। तत्त्वज्ञान न देते तो न टिकती, क्यों कि भारतीय तत्त्वज्ञानी आत्मक्षेत्रमें बुनियादी शोध करते थे। साम्यवादी भी समदृष्टिको बल देते हैं। "शास्त्र ज्ञापक न कारक" के अनुसार शास्त्र मार्ग सूचक यन्त्रकी तरह स्थिति बता देते हैं। अमलमें लानेपर ही उनका ज्ञान होता है। वर्णीजीने इसी श्रद्धामें काम फैलाया। जैनी और अन्यों को भी प्रेरणा दी। उनकी जयन्ती का लाभ उठाते हुए आत्मा का लाभ करें। नाम और जाति तो बन्धन हैं। महापुरुष चाहते नहीं। जयन्ती मनाने का प्रयोजन अच्छे कामों का अनुकरण करना है। ❀

❀ ७९ वीं वर्णीजयन्ती सप्ताहके उपलक्ष्य में ता० १ सितम्बर सन् १९५२, अनन्तचतुर्दशी को श्री [illegible] किया गया प्रवचन।

अपनी बात

वर्णी साहित्यके प्रेमी पाठकोंके हाथमें प्रथम भागकी तरह द्वितीय भाग पहुँचते हुए देखकर हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। प्रथम भागके तीन संस्करण हो जाने पर भी उसकी वैसी ही माँग एवं द्वितीयभाग की उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा—यह दोनों ही उसकी लोकप्रियताके प्रतीक हैं।

इस लोकप्रियतासे प्रभावित होकर तो 'सुमनकी झलक'के संग्रह कर्ता ने पुस्तकके द्वितीय संस्करणमें 'वर्णीवाणी' के पूरे पूरे ६-७ अध्यायोंको लेकर एवं 'विश्व शान्तिके मूल उपाय' के संग्रह कर्ताने किसी किसी अध्यायमें श्री क्षु० मनोहरलालजीके भी कतिपय वाक्य जोड़ते हुए 'वर्णी वाणी' से ही पूरी पुस्तक को तयार कर समाजमें वर्णी वाणीकी ही कीर्तिको बढाया है। परन्तु अधिक अच्छा यह होता कि एक तो दोनों महानुभाव श्रीवर्णी ग्रन्थमालासे स्वीकृति ले लेते और दूसरे प्रत्येक भाषण, अध्याय या वाक्यके अन्तमें तिथि, ग्राम या 'वर्णी वाणीसे उद्धृत' होनेका आवश्यक उल्लेख करते। इससे उक्त पुस्तकोंके सम्पादकोंकी विज्ञता, संग्रह कर्ताओंकी सुरीति, पुस्तकों की प्रामाणिकता, वर्णीजीके वाक्योंको पहिचाननेकी सुविधा, ग्रन्थमालाको श्रृद्धिगत करनेकी सद्भावना एवं उसकी व्यवस्था सभी कुछ बन जाता।

प्रसंगवश दोनों पुस्तकोंके भ्रामक वक्तव्योंके स्पष्टीकरणके लिये संक्षेपमें इतना ही कहना है कि 'सुमनकी झलक'में केवल मुरारमें दिये गये भाषणोंका ही संग्रह नहीं है, सागरमें दिये गये भाषणों का भी है। देखिये 'त्यागका वास्तविक रूप' भाषण पृष्ठ १५८ ५६ पर सागरकी चर्चा सहित प्रवचन जो श्री चौधरन बाईके मन्दिरजीमें हुआ था। श्री म०सुमेरचन्दजी भगतसे प्राप्त हुए वर्णी

जीके ६६ पत्रासे वर्णीवाणी (प्र० भा० द्वितीय संस्करण) में केवल १७] पृष्ठ प्रमाण ही वाक्य हमने स्वयं संकलित किये हैं। २०८ पृष्ठकी पूरी पुस्तककी सामग्री या अमोल वाक्यरत्न श्रीभगतजी द्वारा ही संगृहीत होकर हमें प्राप्त हुये। अस्तु।

प्रस्तुत भागमें ली गई सामग्रीके आधार ये हैं—

१—वर्णीजीकी ७ वर्षकी दैनन्दिनी (डायरी) एवं स्मृति पुस्तिका।

२—मेरी जीवन गाथा।

३—सुखकी झलक। इसके लेखांश पूज्य श्री वर्णी जी के चरणोंमें बैठकर पुनः परिष्कार किया गया है।

४—जैन प्रभातमें प्रकाशित लेख

५—श्री मा० परमेष्ठीदासजी द्वारा लिपिबद्ध किये गये इस वर्षके सागर चातुर्मासके प्रवचन।

६—वर्णीजी द्वारा लिखे गये पत्र।

७—समय समयपर मेरे द्वारा लिये गये उनके भाषणोंके उद्धरण।

अतः जिनसे जो सामग्री प्राप्त हुई उनका मैं आभारी हूँ।

सङ्कलन एवं सम्पादन सभी कार्योंमें श्रीमान् पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री महोदयने निरवार्थ पूरा पूरा सहयोग दिया है। पुस्तकका यह भव्य रूप उन्हींकी सत्कृपाका फल है।

यदि सम्पादनमें कुछ सफलता प्राप्त हुई है तो यह उस पूज्यगुरु मण्डलके प्रसादसे जो पूज्य गुरुवर्य महोदय श्रीमान पं० मुकुन्द शास्त्रीजी खिस्ते, साहित्याचार्य, श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, श्रीमान् पं० हिनेन्द्रनाथजी मिश्र साहित्याचार्य, श्रीमान पं० बटुकनाथजी खिस्ते साहित्याचार्य एवं श्रीमान् प्रो० ठाकुर राममूर्ति सिंहजी एम० ए०, एल० टी० काशी, श्रीमान्

डा० बाबूरामजी सक्सेना एम० ए०, डी० लिट्, श्रीमान् पं० क्षेत्रेशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य, श्रीमान् प० रघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री एम० ए० साहित्याचार्य, श्रीमान् डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र एम० ए०, पी० एच० डी०, श्रीमान् डा० रामकुमारजी वर्मा एम० ए०, पी-एच-डी, डी० लिट्, एवं श्रीमान् प० दयाशङ्करजी दुबे एम० ए०, एल० एल० बी० प्रयाग, श्रीमान् प० पन्नालालजी साहित्याचार्य एवं श्रीमान् बाबू जिनेश-कुमारजी 'सचा' बी० ए०, एल० एल० बी० सागर, श्रीमान् प० गोरेलालजी शास्त्री द्रोणगिरि तथा श्रीमान् मा० पूरनलालजी ज्योतिषी द्वारासे समय समय पर प्राप्त होता रहा है, अत सबका चिर ऋणी हूँ।

मेरी भानजी शुभश्री चम्पाबाईजी प्रधानाध्यापिका जैन कन्या-पाठशाला सीरसने पुस्तकके अनेक स्थलोंकी प्रतिलिपि बहुत ही परिश्रमसे की है।

श्री बाबू रामस्वरूपजी एव धर्ममाता श्री ज्वालादेवीजीका चरआभागर विशेष आभारी हू जिन्होंने अपने सरस्वती सदन से वर्णीजीकी अनेक दैनन्दिनियाँ (डायरियाँ) खोज निकालनेका अवसर गत वर्ष प्रदान किया था।

इस तरह प्रत्यक्ष परोक्ष सभी सहायक एव सहयोगियोंका आभारी हूँ, भविष्यमें इसी तरहकी कृपाका आकाक्षी एव भूलोंके लिये क्षमा प्रार्थी हू।

पूज्य वर्णी सन्तकी विमलवाणी—'वर्णीवाणी' से जगजनका कल्याण हो यही भावना है।

काशी।
स्वतन्त्रतादिवस
वि० स० २००६

विद्यार्थी नरेन्द्र

'सागरके सुप्रसिद्ध दानी"

सेठ भगवानदासजी शोभालालजी बिड़ीवालों

का

संक्षिप्त परिचय

श्रीमान् सेठ भगवानदासजी और शोभालालजी सुप्रसिद्ध दानी रत्न हैं। इनके सम्बन्धमें यद्यपि मध्यप्रान्तकी जनताको कुछ भी बतलाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप मध्य प्रदेशके बड़े भारी व्यवसायी हैं और इस द्वारा इन्होंने अथक परिश्रमसे विपुल धन कमाया है। इनका स्वभाव अत्यन्त मृदुल, हँसमुख-आकृति और दयार्द्र परिणाम हैं परोपकार गुणके कारण इन्होंने सागर जिलेमें पर्याप्त सम्मान एवं कीर्ति पाई है।

इस प्रान्तमें इनके कारण जैनसमाजमें काफी प्रेम और सौहार्द्र बढ़ा है। इन्होंने अपने जीवनमें लाखों रुपयों का दान किया है। इनके दानकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये बिना किसी भेदभावके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को पहिचानकर अत्यन्त आदर भावसे अपना कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ दूसरा की आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं। और उसमें अपना सौभाग्य मानते हैं।

ये धर्मके सच्चे श्रद्धानी एवं गुरुभक्त हैं। पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्री १०५क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजके ये परम भक्त हैं। गृहस्थके दैनिक षट्कर्म पालनेमें ये बड़े कट्टर हैं। इनके आचार

विचार, खानपान की शुद्धि और कषायों की मंदता दूसरोंके लिए अनुकरणीय है।

कुछ वर्ष हुए जब सागरमें एक बार जलकी अत्यन्त कमीसे त्राहि-त्राहि मच गई थी। इससे जनता और सरकार बड़ी चिन्तित हुई तब इन युगल बधुओंने शहरमें एक बड़ी भारी टंकी बनाई और उसमें बहुतसे नल फिट कराये और वहीं दूरसे पानी मंगवा कर महिनों तक जनताके कष्ट को दूर किया। इसी प्रकार एक बार अन्न सङ्कटके समय मँहगा गल्ला खरीदकर इन्होंने सस्ते दामोंमें जनताको वितरण कराया था। एक बार किसीकी मोटरसे दूसरेके एक बछड़े का पैर टूट गया और वह मोटरवाला उसे वहीं छोड़ कर भाग गया। लेकिन जब इन्होंने उसे तड़फते हुए देखा तो अपनी दयालुतावश उसे मोटरमें रखे ले आए और उसका इलाज कराया। चार वर्ष हो गये आज भी वे तीन पाँचके वृषभराज आनदसे २ सेर दाना और घास पाते हैं और बगीचे की शुद्ध वायु लेते अपना सुखमय जीवन बिता रहे हैं। प्रतिवर्ष गरीबों का हजार दो हजार कपड़े और गल्ला इनके द्वारा बांटा जाता है। कोई भी मांगनेवाला बिना कुछ पाये इनके यहाँसे खाली नहीं जाता।

ये कितने विनयी हैं, कितने दयालु और कितने धर्म श्रद्धालु हैं यह बात कोई भी व्यक्ति जिसे कुछ दिन इनके साथ रहने का सौभाग्य मिला हो जान सकता है। अभी कुछ दिनकी बात है। पूज्यपाद श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजने स्वयं मुझसे कहा था कि 'भैया! ये बहुत ही निर्मल परिणामी व्यक्ति हैं। यह सब पुण्यका ठाटबाट इनके निर्मल परिणामों का ही फल है। मेरा तो विश्वास है कि इनके द्वारा धर्मका और समाज का बड़ा कल्याण होगा। इत्यादि' मेरा विशेष परिचय अभी पाच

होनेवाला है तथा उसी क्षेत्रपर इनकी ओरसे एक आहारदानशाला भी वर्षों से बड़ी सुव्यवस्थित रूपसे चल रही है। इस प्रकार ये चारों दान करके अपना कर्तव्य निभा रहे हैं।

भारतवर्षके सुप्रसिद्ध श्रीगणेश दि० जैन सं० महाविद्यालयके ये कोषाध्यक्ष एवं श्री दि० जैन महिलाश्रमके उपसभापति एवं श्री शान्तिनिकुञ्ज (उदासीनाश्रम) के सभापति हैं।

मेरे परम मित्र श्रद्धेय पण्डित फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ता० १५ ४ ५३ को श्री ललितपुर डेप्युटेशनके साथ पूज्य वर्णीजीके दर्शनार्थ सागर पधारे थे। उस समय उन्होंने मुझसे व वैद्यराज पं० भगवानदासजीसे वर्णीवाणीके द्वि० भागको प्रकाशित करा देनेके लिये श्री सेठ सा० से प्रेरणा करनेके लिये कहा था। मैंने श्री वर्णी ग्रन्थमाला जैसी उपयोगी संस्थाको सहयोग देनेकी सेठ सा० से प्रेरणा की और उन्होंने उसके लिये तत्काल २०००) दो हजार रुपया श्री वर्णी ग्रन्थमालाके स्थायी कोषमें देना सहर्ष स्वीकार किया। मेरी तो कामना है कि सेठ सा० की भावनायें इसी प्रकार दिन प्रतिदिन उन्नत होती चली जावें जिससे सेठ सा० का, धर्मका और समाजका कल्याण हो। किमधिकम्—

समगौरया-सदन खुशीपुरा सागर	समाज सेवक— मुन्नालाल जैन "समगौरया"

कहाँ क्या पढ़िये ?



वर्णी-वाणी

[कल्याण-कुटीर]

कल्याण कुटीर

१ जो व्यक्ति स्वयं शुद्ध भोजन करते हैं उन्हें अतिथियोंको शुद्ध भोजन देनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। मनुष्यको स्वयं शुद्ध भोजन करना चाहिये। इससे उसकी बुद्धि शुद्ध रहती है। शुद्ध बुद्धिमें तत्त्वज्ञानका उदय होता है, तत्त्वज्ञानसे पर भिन्नताका ज्ञान होता है। परभिन्नताका ज्ञान ही कल्याणका मार्ग है।

(४।४।४९)

२ कल्याणका मार्ग आत्मामें है। आत्मा जब पाप पङ्कसे पृथक् हो जाता है तब संसार बन्धनसे स्वयं मुक्त हो जाता है।

(११।५।४९)

३ जहाँ तक बने संयत बननेका प्रयत्न करो। असंयत ही संसार बन्धनके लिये खड़ा है। मनुष्योंके सम्पर्कसे बचो। अपनी परिणति निर्मल बनानेका प्रयत्न करो। संसारमें ऐसा कोई शक्तिशाली पुरुष नहीं जो सारे संसारको सुधार सके। बड़े बड़े पुरुष हो गये वे भी संसारकी गुत्थियाँ नहीं सुलझा सके। अल्पज्ञानी इसकी चेष्टा करे यह महती दुर्बोधता है। यदि कल्याण करनेकी इच्छा है तब अपने भावोंको सुधारो।

(१०।१।४९)

४ त्यागसे ही कल्याणमार्ग सुलभ है।

(३।७।४९)

५ जगतको प्रसन्न करनेका भाव त्याग दो, जो शुद्ध बने आत्म हितकी ओर दृष्टिपात करो। संसारमें ऐसा कोई नहीं जो परका कल्याण कर सके। कल्याणका मार्ग स्वतन्त्र है।

(६।७।४९)

६ हम निरन्तर कल्याण चाहते हैं परन्तु उस पथ पर आरूढ नहीं रहते, केवल उसके गीत गा गा कर अपनेको धन्य मान लेते हैं या बहुत बहुत अगाडी चेष्टाकी तब मौन धारण कर लिया, इससे अगाडी चेष्टाकी तब भोजनमें नमक, हरी त्याग करनेका उद्योग किया।

(२१।७।४९)

७ मनुष्योंका कल्याण तत्त्व विवेक मूलक रागद्वेषकी निवृत्तिसे होता है। केवल तत्त्व विवेकके परामर्शसे शान्तिका लाभ नहीं।

(२०।७।४९)

८ प्राणी मात्रका कल्याण उसके आधीन है। जिस काल मे वह अपनी ओर दृष्टिपात करता है, अनायास बाह्य पदार्थोंसे विरक्त होकर आत्माके कल्याण मार्गमें लग जाता है।

(११।८।४९)

९ परको प्रसन्न करनेकी अपेक्षा अपनी परिणतिको सुधारो। परसे प्रशंसाकी आशा मत करो। परकी निन्दा मत करो। पर निन्दा केवल आत्म प्रशंसामें ही सहायक हो सकती है। परकी समालोचना करना यह भी एक महान व्यसन है, इसको त्यागो। इसीसे आत्म लाभ होगा। ऐसे कार्योंसे दूर रहे

जिनसे दूसरे आलोचना करें या स्वय आत्म-समालोचना करनी पड़े।

(२५।८।४९)

१० कल्याणका मार्ग तो निराकुलतामें है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नहीं। वास्तवमें हमारा झुकाव आजन्म प्रवृत्तिमार्गकी ओर है अत निरीहमार्गकी ओर जाना अति कठिन है। धन्य है उन महापुरुषोंको जिनकी प्रवृत्ति निर्दोष रहती है।

(१२।९।४९)

११ आत्म हित क्या है? केवल उस आत्म तत्त्वकी ओर लग जाना, जहाँ पर न पर वस्तुको अवकाश है और न पर वस्तु का त्याग ही है, केवल वही वही है।

(८।१०।४९)

१२ व्यवहारमें पड़ना आत्म-कल्याणका बाधक है। जहाँ परके साथ सम्बन्ध हुआ वहीं ससारका पोषक तत्त्व आ गया। इसीका नाम आस्रव है।

(९।१०।४९)

१३ कल्याणका मार्ग निरीहवृत्ति है, आराधना करो परन्तु फलकी वाछा न करो।

(७।११।४९)

१४ अन्तरङ्गकी निर्मलता बिना बाह्य वेष धक्केपके समान है। तोता राम राम रटता है परन्तु उसका तात्पर्य नहीं समझता अत जो कुछ रटो उसको समझो।

(१०।११।४९)

१५ कल्याणका अर्थ है पर पदार्थोंसे ममता त्याग। ममताका कारण अहबुद्धि है।

(१६।११।४९)

१६ संसारमें सभी दुःखोंके पात्र हैं। सारांश यह है कि संसारमें जो सुख चाहते हैं वे मूर्च्छा त्यागें। मूर्च्छा त्याग बिना कल्याण नहीं।

(६।१२।४९)

१७ जो भाव हृदयसे उत्थित हो, उसे पूर्वापर विचार करके तदनुकूल कार्य करनेकी चेष्टा करो। यद्वा तद्वा प्रवृत्ति मत करो। हृदयको यत्र तत्र न भटकाओ, जब इस आत्माका एक अणु मात्र भी नहीं तब इतना प्रयास करके ग्रहण करनेका व्यर्थ मत करो। उतना व्यवहार करो जो आत्म-तत्त्वका बाधक न हो। संसारकी यातनाओंके अर्थ ही तो व्यवहार है।

(२।१।५१)

१८ यदि कल्याणकी अभिलाषा है तब विषयोंको विषवत् त्यागो। क्षमा, मार्दव, आर्जव, दया, सत्यको अमृतकी तरह सेवन करो। इस जीवका वैरी काम है उसे त्यागो। और अनर्थकी सन्तान जो अर्थ है उसे त्यागो। इन दोनोंका मूल जो धर्म है उसे त्यागो। चतुर्थ पुरुषार्थ जो मोक्ष है उसमें प्रेम करो। यही एक पुरुषार्थ है जो कदापि नाश नहीं होता।

(४।२।५१)

१९ आत्म कल्याण करना चाहो तब परकी समालोचना त्यागो। आत्मीय अपराधोंकी समालोचना करो। समालोचनाका यह अर्थ है—उसको त्यागो। केवल 'हममें दोष हैं' इतनेसे कुछ न होगा। जो आत्मामें दोष हों उनको त्यागो। तथा भविष्यके लिये सदा सतर्क रहो।

(१८।२।५१)

२० कल्याणका मूल कारण समता है, और समता उसी

न होगी जिसके मोहका अभाव होगा, और मोहका अभाव उसीके होगा जिसके तत्त्वज्ञान होगा और तत्त्वज्ञान उसीके होगा जिसके स्व और पर पदार्थोंका सम्यग्दर्शन होगा।

(ता० १७। ५। ४१)

२१ कल्याणका मार्ग कल्याणस्वरूप रागादि कलङ्क रहित देवकी उपासनासे होता है।

(ता० २०। ५। ४१)

२२ कल्याणका मार्ग वीतराग विज्ञान है। उसका सम्बन्ध आत्मासे है न कि शरीर से। परन्तु यह अवश्य है कि पर्याय के अनुकूल ही तो कार्य होगा, केवल सहनन ही कल्याण अकल्याणमें प्रयोजक नहीं। प्रथम सहननवाला सप्तम नरक भी जा सकता है और मोक्ष भी जा सकता है। जहां पर अन्तरङ्ग सामग्रीकी पूर्णता होती है वहां पर बाह्य सामग्री भी तदनुकूल मिल जाती है। यदि वेष हो और अन्तरङ्गसामग्रीकी विकलता हो तब शुद्ध नहीं बन सकता। अस्तु वास्तवमें हमें अपने अंतरङ्ग विभवको देख उसकी रक्षा करनी चाहिये। अन्तरङ्ग विभव केवल रागादिककी कृशता है और कुछ नहीं।

(ता० २१। ५। ४१)

२३ परके परिणमनको देखकर हर्ष विषाद करना समार वृक्षको पानी देना है। अनन्तानन्त जीव हैं, उनके अन्तर्गत तावत् परिणमन हो गये, हो रहे हैं, और होंगे इसलिये केवल अपनी परिणति पर विचार करो, वही तुम्हारे कल्याण अकल्याण में उपयोगिनी है।

(२२। २। ३९)

२४ ससार दशाको देखकर जो विरक्त होते हैं उनकी

अपेक्षा आत्म दशा देखकर निरत होने वाले विशेष प्रशंसाके पात्र ही नहीं किन्तु आत्म-कल्याणके भी भागी होते हैं।

(१४।२।३९)

२५ प्रायः पर कल्याणके लिये प्राणी मात्रका यत्न रहता है। इसमें केवल आत्म-प्रशंसाकी ही गन्ध रहती है, और वह गन्ध कदापि कल्याण पथमें अग्रसर नहीं होने देती।

(९।४।३९)

२६ 'कल्याणका मार्ग अति कठिन है' ऐसी धारणा हमारी कायरताकी परिचायक है। अनादि कालसे हम अपने स्वरूपको भूल रहे हैं, और परको ही अपना समझ रहे हैं, निरन्तर उसीका पोषण करते हैं। जितनी आत्मशक्ति है उसी ओर लगा देते हैं। संसारमें पुद्गल द्रव्यके जितने भी विकास हुए हैं उनमें मूल कारण जीव ही है। जीव द्रव्यकी शक्तिका सदुपयोग यदि इस ओर करें तो पुद्गल द्रव्यकी तरह कल्याण पथ भी विकसित हो सकता है।

(१५।४।३९)



कल्याण

१ जिन जीवोंका कल्याण समीप है उनकी प्रवृत्ति अलौकिक होती है। वही भव्य जीव तो निकटतम संसारी हैं। ऐसे जीव ही शुद्ध दशाके पात्र होते हैं। ज्ञानकी वृद्धि कल्याणकी नियामिका नहीं, परन्तु मोहकी कृशता नियमसे कल्याणकी अविनाभाविनी है। जिन जीवोंने मोहको कृश किया, या जिनका मोह कृश हो गया, वही पूज्य और महापुरुष हैं।

(७।८।२६)

२ सब जीवोंसे क्षमाभाव रखो, अन्तरङ्ग निर्मल रखो, यही कल्याणका मार्ग है। प्रति दिन ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक समय उसी भावनाका उपयोग करो जो आत्मा का नश्वर न हो।

(१६।८।२६)

३ यदि कल्याणकी कामना है तब लौकिक मनुष्योंका संसर्ग त्यागो और पारमार्थिक शास्त्रोंका अध्ययन करो।

(२।१।५०)

४ जिनको आत्म कल्याण की रुचि है वे किसीके संकोचमें नहीं आते। किसीके संकोचमें आकर आत्मघात करना कषायी जीवोंकी क्रिया है।

(१२।१।५०)

५ कल्याणका पथ तो कल्याणमें ही है, केवल वार्तोंमें नहीं। बहुतसे मनुष्य संसारकी अनित्यताका आलाप करते हैं परन्तु यह केवल ऊपरी प्रक्रिया है। अनित्यता तथा नित्यता कोई वैराग्यके प्रधान कारण नहीं, उपचार मात्रसे कारण हैं।

(१५ । १ । ४०)

६ आत्म कल्याणके हेतु जगतमें भ्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता यह है कि जहाँ पर दोष हो उसे अन्वेषण कर दूर कर दो। संसारमें कोई भी किसीको न तो कल्याण पथ पर ले जाता है और न अकल्याण पथ पर।

(८ । २ । ४०)

७ समय पाकर मनुष्यके अनेक प्रकारके परिणाम होते हैं, पुण्य पाप उभय परिणाम ही का तो संसार है। इसमें दोनों ही प्रवृत्तियां देखी जाती हैं। उन्हें देखकर ही मनुष्य श्रेयोमार्ग और अश्रेयोमार्गकी कल्पना करते हैं परन्तु इनसे परे जो वस्तु की परिणति है, जिसके द्वारा तत्क्षण आत्मा कल्याणमार्गका अनुभव करता है वह भाव किसीके गोचर नहीं।

(१० । २ । ४०)

८ आत्मामें आत्मत्व बुद्धि होना ही केवल कल्याणका मार्ग है। परमें परत्व बुद्धि होना भी इसीका मार्ग है। जाननेमें अन्तर है यह नहीं, दोनों सम्यग्ज्ञान हैं। एक अपने को जानता है दूसरा परको जानता है। केवल पदार्थका भेद है, वास्तव ज्ञान भेद नहीं। ज्ञान तो प्रकाशक पदार्थ है उसके समक्ष जो आवेगा उसे ही प्रकाशित करेगा।

(२६ । २ । ४०)

९ परपूजा या देवी देवताके नामपर पर जीवका घात कर आत्म कल्याण की भावना करना केवल मिथ्या चेष्टा है।

([illegible]।४।४०)

१० कल्याण मार्गका उदय अपनी आत्मामें है परन्तु जब तक अज्ञानकी विशिष्टता है तबतक वह अति दूर है। अज्ञानके नाशका उपाय भी अन्यत्र नहीं, आत्मामें ही है। केवल हमें अपनी भूलको मिटाना है। उस भूलके लिये गुरु उपदेश और आगम ज्ञानकी महती आवश्यकता है, यह निर्विवाद है। परन्तु उस अज्ञानको मेटनेका प्रयास हमें स्वयं करना पड़ेगा।

(२।७।४०)

११ कल्याणकी गल्पमात्रसे हम कल्याण चाहते हैं। कल्याणके अर्थ हम कायक्लेश करते हैं मानसिक शुभ चिन्तना की वृद्धि करते हैं परन्तु वह मार्ग इन तीनों से परे है। जहाँ पर सङ्कल्प और विकल्पका अभाव हो जाता है, सभी सांसारिक कार्योंके करनेकी चेष्टासे निवृत्ति हो जाती है वही कल्याण है।

(२१।११।४०)

१२ चाहते तो कल्याण हैं और चेष्टा भी कल्याणकी है। अभिप्रायमें मलीनता नहीं। परन्तु कषायोदयमें कुछ बनता नहीं।

(२५।१।४४)

१३ कल्याण का मार्ग आत्मीय गुणोंका अन्यथा परिणमन न होना ही है।

(१५।२।४४)

१४ यह कितनी भूल है कि केवल जानना ही आत्म-कल्याण का मार्ग है। जानना तो एक देखनेकी क्रिया है, कल्याणका मार्ग ज्ञानमें नहीं किन्तु अहङ्कारके अभावमें है।

(३।५।४४)

१५ कल्याणकी लिप्सा सभीको है। उदयकी सामग्री मिलना काललब्धिके आधीन है। फिर भी पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है। कोई भी कार्य कारणपूर्वक ही तो होगा।

(१० । ५ । ४४)

१६ कल्याण सब चाहते हैं परन्तु बाह्य साधनोंके अभावसे उपादानका विकाश रह जाता है।

(१२ । ५ । ४४)

१७ अपनी आत्माको अपने वशमें रखना कल्याणका पूर्ण उपाय है। जिसने संसार परवशता चाही वह कभी भी संसार महोदधिसे पार नहीं हो सकता।

(२५ । ७ । ४४)

१८ जो मनुष्य केवल गल्पवादमें रत हैं उनसे आत्महित होना असम्भव है। अत जो आत्महितैषी हैं उन्हें संसारकी झंझटोंसे परे रहना चाहिये। जो मनुष्य इनसे परे हैं वही इससे पार होता है।

(३० । ७ । ४४)

१९ कल्याणका मार्ग मोही जीवोंने इतना गहन बनादिया है कि सामान्य आदमी श्रवण कर उसे धारण करनेमें असमर्थ हो जाता है। बाह्यमें इतने आचरण उसके साथ लगा दिये जाते हैं कि उन्हींके करनेमें सारा समय चला जाता है। अत आचरण करनेको समय ही नहीं बच पाता।

(३३ । ९ । ४४)

२० केवल द्रव्य दानमें कल्याण नहीं, कल्याणका कारण रागादि निवृत्ति है।

(१९ । १२ । ४४

९ पर्वपूजा या देवी देवताके नामपर पर जीवका घात कर आत्म कल्याण की भावना करना केवल मिथ्या चेष्टा है।

(८ । ४ । ४०)

१० कल्याण मार्गका उदय अपनी आत्मामें है परन्तु जब-तक अज्ञानकी विशिष्टता है तबतक वह अति दूर है। अज्ञानके नाशका उपाय भी अन्यत्र नहीं, आत्मामें ही है। केवल हमें अपनी भूलको मिटाना है। उस भूलके लिये गुरु उपदेश और आगम ज्ञानकी महती आवश्यकता है, यह निर्विवाद है। परन्तु उस अज्ञानको मेटनेका प्रयास हमें स्वय करना पड़ेगा।

(९ । ७ । ४०)

११ कल्याणकी गल्पमात्रसे हम कल्याण चाहते हैं। कल्याणके अर्थ हम कायक्लेश करते हैं मानसिक शुभ चिन्तना की वृद्धि करते हैं परन्तु वह मार्ग इन तीनों से परे है। जहाँ पर सङ्कल्प और विकल्पका अभाव हो जाता है, सभी सासारिक कार्योंके करनेकी चेष्टासे निवृत्ति हो जाती है वही कल्याण है।

(२१ । ११ । ४०)

१२ चाहते तो कल्याण हैं और चेष्टा भी कल्याणकी है। अभिप्रायमें मलीनता नहीं। परन्तु कषायोदयमें कुछ बनता नहीं।

(२५ । १ । ४४)

१३ कल्याण का मार्ग आत्मीय गुणोंका अन्यथा परिणमन न होना ही है।

(१५ । २ । ४४)

१४ यह कितनी भूल है कि केवल जानना ही आत्म-कल्याण का मार्ग है। जानना तो एक ऐसनेकी क्रिया है, कल्याणका मार्ग ज्ञानमें नहीं किन्तु अहङ्कारके अभावमें है।

(३ । ५ । ४४)

१५ कल्याणकी लिप्सा सभीको है। उदयकी सामग्री मिलना काललब्धिके आधीन है। फिर भी पुरुषार्थ करना अपना कर्तव्य है। कोई भी कार्य कारणपूर्वक ही तो होगा।

(१०।५।४४)

१६ कल्याण सब चाहते हैं परन्तु बाह्य साधनोंके अभावमें उपादानका विकास रह जाता है।

(१२।५।४४)

१७ अपनी आत्माको अपने वशमें रखना कल्याणका पूर्ण उपाय है। जिसने संसार परवशता चाही वह कभी भी संसार महोदधिसे पार नहीं हो सकता।

(२५।०।४४)

१८ जो मनुष्य केवल कल्पनाओंमें रत हैं उनसे आत्महित होना असम्भव है। अत जो आत्महितैषी हैं उन्हें संसारकी ममदोंसे परे रहना चाहिये। जो मनुष्य इनसे परे हैं वही इससे पार होता है।

(२९।०।४४)

१९ कल्याणका मार्ग मोही जीवोंने इतना कठिन बना-दिया है कि सामान्य आदमी श्रवण कर उसे धारण करनेमें असमर्थ हो जाता है। बाह्यमें इतने आडम्बर उसके साथ लगा दिये जाते हैं कि उन्हींके करनेमें सारा समय चला जाता है। अत आचरण करनेको समय ही नहीं बचता।

(१३।०।४४)

२० केवल द्रव्य दानसे कल्याण नहीं कल्याणका कारण रागादि निवृत्ति है।

(१९।१२।४४

२१ जिस आत्म कल्याणके लिये प्रयास है यदि वह नहीं हुआ तब पर उपदेशोंमें क्या सार है ? सार तो अपने कल्याणमें है। अपने कल्याणमें हम स्वयं ही कारण हैं। परके द्वारा न तो कल्याण ही होता है और न अकल्याण ही होता है। यह तो हमारी अज्ञानता है जो हम अहर्निश उन्हीं पर पदार्थोंकी जानकारी में अपनी सम्पूर्ण वृत्तिको लगा देते हैं, होता जाता कुछ भी नहीं।
(२५। १२। ४४)



आत्म चिन्तन

१ जगतमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं। जो आज था वह कल नहीं। 'संसार क्षणभङ्गुर है' इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। (हमारी आयु ७४ वर्षकी होगी परन्तु शान्तिका लेश भी नहीं आया और न आनेकी सम्भावना है, क्यों कि मार्ग जो है उससे हम विरुद्ध चल रहे हैं। यदि सुमार्ग पर चलते तब अवश्य शान्तिका आस्वाद आता। परन्तु यहाँ तो उल्टी गङ्गा बहाना चाहते हैं। धिक् इस विचारको जो मनुष्य जन्मकी व्यर्थता कर रहा है। केवल गल्पवादमें जन्म गमा दिया,) नाम महात्माका लाभी महान पापी है।

(१।१।१९४९)

२ भगवन्! तुम अचिन्त्य शक्तिके स्वरूप क्या दूर-दूर के निठुर बन रहे हो? 'भगवन्' से तात्पर्य आत्मासे है। यदि तुमने अपनेको सम्भाल लिया तो फिर जगतको समझानेकी आवश्यकता नहीं।

(५।१।४९)

३ संसारसे उद्धार करनेके अर्थ तो रागादिकी निवृत्ति होनी चाहिये। परन्तु हमारा लक्ष्य उस पवित्र मार्गकी ओर नहीं जाता। केवल निमित्त रागादि पुष्ट हो उसी ओर अग्रेसर

होता है। अनादि कालसे पर पदार्थोंको अपना मान रक्खा है, उसी ओर दृष्टि जाती है, कल्याण मार्गसे विमुख रहते हैं ?

(७ । १ । ४९)

४ हम बहुत ही दुर्बल प्रकृतिके मनुष्य हैं। हर किसीको निमित्त मान लेते हैं। अपने आप चक्रमें आ जाते हैं। अन्यको व्यर्थ ही उपालम्भ देते हैं। 'कोई द्रव्य किसीका बिगाड़ सुधार करनेवाला नहीं' यह मुखसे कहते हैं, परन्तु उस पर अमल नहीं करते।

(१२ । १ । ४९)

५ आचरणके पालन बिना केवल श्रद्धा अर्थकरी नहीं। श्रद्धाके अनुरूप ज्ञान भी हो। परन्तु आचरणके बिना यह श्रद्धा और ज्ञान स्वकार्य करनेमें समर्थ नहीं। शारीरिक शक्ति क्षीण होती जाती है, आत्मा कल्याण चाहता है, अत स्वाध्याय आदिमे चित्तवृत्ति स्थिर रखना चाहिये, प्रपञ्चोंमे पड़कर व्यर्थ दिन व्यय करना उचित नहीं। संसारकी कथाका रोना करना लाभदायक नहीं। गल्पवादके दिन गये, अब आत्मकथाका रसिक होना चाहिये।

(१६,१७,१८,१९ जनवरी १९४९)

६ किसी पर विश्वास मत करो, जो आत्मा माने उसी पर विश्वास करो। आत्मपरणतिको निर्मल बनानेके लिये भेदविज्ञान ही ऐसी वस्तु है जो आत्माका बोध कराता है। स्वात्मबोधके बिना रागद्वेषका अभाव होना अति कठिन ही नहीं असम्भव भी है। अत आवश्यकता इस बातकी है कि तत्त्वज्ञानका सम्पादन करना चाहिये। तत्त्वज्ञानका कारण आगमज्ञान है, आगमज्ञानके अर्थ यथाशक्ति व्याकरण, न्याय, अलङ्कार शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये।

(२३ । १ । ४९)

७ हम इतरको उपदेश दानमें चतुर हैं, स्वय करनेमें असमर्थ हैं। केवल वेष बना लिया, और परको उपदेश देकर महान् बननेका प्रयत्न है, यह सब मोहका विलास है।

(३० । १ । ४९)

८ प्रतिज्ञा करना कुछ कार्यकारी नहीं यदि उसके अनुसार आचरण न किया जाय। गल्पवादसे यथार्थ वस्तुका लाभ नहीं होता।

(२ । २ । ४९)

९ अपनी दिनचर्या ऐसी बनाओ कि विशेषतया पर सम्पर्क न्यून रहे। पर सम्पर्कसे वही मनुष्य रक्षित रह सकता है जो अपनी परणतिको मलीन नहीं करना चाहता। मलीनताका कारण परमें रागद्वेष ही है अत स्वीय मोह राग छोडो।

(२ । ३ । ४९)

१० "समागम ही बन्धका कारण है" यह भ्रम छोड देना चाहिये। बन्धका कारण स्वय कलुषित परिणाम विशिष्ट आप है। चेतन पदार्थमें जो भी व्यापार होता है इच्छासे होता है, इच्छा ही पाप की माता है। हिंसादिक पञ्च पापोका मूल कारण इच्छा है और यह मोह कर्मके निमित्तसे होती है।

(४ । ३ । ४९)

११ शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई, आत्मामें स्फूर्ति नहीं, इसका कारण मोहकी सबलता है। वह देते हैं कि मोह शत्रु प्रबल है, पर स्वय उसके कर्ता हैं। पर पदार्थके शिर व्यर्थ ही दोष मढते हैं।

(१९ । ३ । ४९)

१२ आत्मा स्वतन्त्र है, उसकी स्वतन्त्रताका बाधक अपनी अकर्मण्यता है। अकर्मण्यताका अर्थ है कि इसकी ओर उन्मुख

नहीं होते, पर पदार्थोंके रक्षण भक्षणमें आत्माको लगा देते हैं।

(२२।४।४९)

१३ पर पदार्थोंके गुण दोषोंकी समालोचनाकी अपेक्षा आत्मीय परणतिको निर्मल करना बहुत लाभदायक है। देव पूजा करनेका तात्पर्य यह है कि आत्माकी परिणति निर्मल होने से वह विशुद्धावस्था हो जाती है, क्योंकि देव पदवी प्राप्त हो जाता है। मेरा आत्मा भी यदि इनके कथित मार्ग पर चले तब कालान्तर में हम भी तत्तुल्य (देवकी तरह) हो सकते हैं।

(१२।६।४९)

१४ लोक निन्दाके भयसे व्रतको पालना कोई लाभप्रद नहीं। आत्माकी जो भयादि परिणति है उसे दूर करनेकी चेष्टा करो। "संसार दुःखमय है" इस भयसे भूतको त्यागो। संसार तो संसार ही रहेगा, यदि उससे अपनेको रक्षित रखना चाहते हो तब मध्यस्थ हो जाओ। पर पदार्थके निमित्तसे रागद्वेष होता है यह भ्रान्ति निकाल दो। रागद्वेषकी जननी तुम्हारी ही प्रवृत्ति है। जिस दिन उस प्रवृत्तिसे मुख मोड लोगे यह सब जाल बन्धन अपने आप टूट जायगा।

(१३।६।४९)

१५ हमारी प्रकृति इतनी दुर्बल है कि हम स्वयं जालमें फँस जाते हैं। स्वात्मतत्त्वके सम्मुख नहीं होते। स्वात्मतत्त्वमें दर्शन और ज्ञानकी ही मुख्यता है, उसे हम उस रूप नहीं रहने देते। निरन्तर पर पदार्थोंके सम्पर्कमें अपनी प्रवृत्ति करना चाहते हैं, यही हमारी महती अज्ञानता है, इसे मेटना ही हमारे कल्याण पथमें साधक होगा।

(१४।७।४९)

१६ हमने निरन्तर यह प्रयास किया कि जगत् कल्याण पथ पर चले। परन्तु हम स्वयं कहाँ चल रहे हैं? हमने अपने को समझा नहीं। इस मनुष्य भवको पाकर भी यदि अपनेको नहीं पहिचाना तब फिर ऐसा सुअवसर आत्महितका कब आवेगा? वैसे तो ऐसा कौन होगा जो अपनेको न जानता होगा? 'हम' कहनेसे ही तो हम अपनी सत्ता स्वीकार करते हैं, अनुभव भी होता है कि 'मैं बोल रहा हूँ।' इस प्रतीतिके होने पर भी हम व्यर्थकी झंझटोंमें अपनी आयुके दिन बिता देते हैं।

(२४।७।५९)

१७ व्यर्थ बात करना आत्म-पवित्रताकी अवहेलना करना है। संकोच करना आत्माको दुर्बल बनाना है। अतः जहाँ तक बने पर से सम्बन्ध त्यागो। परके साथ सम्बन्धसे ही आत्मा दुर्गतिका पात्र होता है। इसलिये स्वात्मसम्बन्धकी ओर ही चेष्टा करनी चाहिये।

(३१।७।५०)

१८ दृढ़प्रतिज्ञ रहो, कार्य सिद्धि यह प्रधान मार्ग है। प्रयत्न सम्यग्दर्शन व ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। [illegible] आत्म-लाभ नहीं होता। आत्मलाभ कहीं अन्यत्र नहीं पास ही है। इस तरफ आज तक हमने दृष्टिपात नहीं किया। हम उसको [illegible] चेष्टा करते हैं। कोई भी व्यक्ति आज तक पराया न समझ सका और न समझ सकता है, केवल कर्तव्य मार्ग ही [illegible] यह दुर्लभ कर रहा है, और यथार्थ ज्ञान बिना [illegible] [illegible] नहीं है।

(३।१८)

१६ 'आत्माका अस्तित्व है' इसमें सन्देह नहीं परन्तु इसमें जो विकृत परिणमन है वही उपद्रवोंकी जड है। उसे निर्मूल करना चाहिये।

(२६ । ८ । ४९)

२० शुद्ध चित्तके वास्ते शुद्ध आत्माको जानो। शुद्ध ज्ञान वह है जिसमें रागादि भावकी कलुषता न हो। शत्रु रागादिक ही हैं, अन्य कोई नहीं। रागादिकके अनुकूल पर पदार्थ होता है तब तो उसकी रक्षाका प्रयत्न होता है और रागादिक प्रतिकूल होनेसे उसके नाशके लिये प्रयत्न करनेकी सूझती है। धिक् इस परिणति को।

(३१ । ६ । ४९

२१ अन्तरङ्गसे देखो तब सभी पदार्थ भिन्न भिन्न हैं, स्वतन्त्र हैं, अद्वैत हैं उन्हें अपना मानना इसका अर्थ यदि वे हमारे हो गये तब उनका स्वत्व गया और हम उनरूप होनेसे अपने स्वत्वसे वञ्चित हुए दोनो ही का अभाव हो गया।

(५ । १० । ४९)

२२ अन्तरायका होना लाभदायक है। जो दोष होते हैं वे अपगत हो जाते हैं। क्षुधा परीषहके सहनेका अवसर आता है, अवमौदर्य तपका अवसर अपने आप हो जाता है। आत्मीय परिणामोंका परिचय सहज हो जाता है।

(१ । १२ । ४९)

२३ हे आत्मन् ! अब तुम इधर उधरके विकल्पोंको त्यागो। केवल स्वात्म-कल्याणकी चेष्टा करो। अब तुम्हारी बाह्यशक्ति क्षीण हो गई, चला जाता नहीं अन्न हजम नहीं होता, बोलनेकी शक्ति घट गई, मुखसे लार बहती है, पैर उठते नहीं। अब तो

शान्तिसे अपनी ओर देखो। केवल लौकिक प्रतिष्ठामें अपना जीवन उत्सर्ग मत कर दो, इसका पाना अतिदुर्लभ है। प्रशंसा पुद्गल शब्दमय है, उसका स्पर्श आत्मामें नहीं। आत्मा अखण्ड अचिन्त्य है। उसीपर विजय प्राप्त करो, व्यर्थके उपद्रवोंसे उसे सुरक्षित रखो।

(१९। ११। ५४)



आत्मतत्त्व

१ 'आत्म-चिन्ता क्या है' इसका विकल्प बहुतसे मनुष्यों-को रहता है। तथा आत्मद्रव्यके जाननेके लिये बड़े बड़े पुराण पढ़ते हैं बड़े बड़े पुरुषोंसे सत्सङ्ग करते हैं। परन्तु यह कोई अस्पष्ट वस्तु नहीं। जिसमें यह विचार होते हैं वही तो आत्मा है। जहां सुख दुख एव इष्टानिष्टकी कल्पना होती है वही आत्मा है।

(८ । ३ । ३०)

२ 'आत्मा क्या है' यह जो प्रश्न करता है वही तो आत्मा है। तथा जो उत्तर देता है वही आत्मा है। जिसमें यह बात उत्पन्न होती है कि मैं अज्ञानी हूँ अत ज्ञानी बननेका प्रयत्न करूं, जिसमें ऐसे अनेक भाव होते हैं वही आत्मा है।

(१२ । ३ । ३९)

३ आत्मा द्रव्य है, क्योंकि वह ज्ञानादिक गुण तथा रागा-दिक पर्यायोंका आश्रय है। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूपादि गुण और संस्थानादि पर्यायोंकी वृत्ति होनेसे द्रव्य व्यवहार होता है तद्वत् ही आत्मामें जानना। पुद्गल तो प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर है अत उसके अस्तित्वमें कोई सन्देह नहीं परन्तु आत्मा तो प्रत्यक्ष नहीं इसलिये उसके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है? यह प्रश्न अबोध सूचक है। जिस दीपकके द्वारा घटका ज्ञान होता है उसे

स्वीकार किया जाय और उस दीपकको स्वीकार न किया जाय तब आप उसे क्या कहेंगे? इसी प्रकार पुद्गलको तो प्रत्यक्ष माने परन्तु जिसने पुद्गलको प्रत्यक्ष कराया उसे न माने तो यह कहाँतक सङ्गत है? जो घटादिकको जाननेवाला है वह तो ज्ञान है और वह गुण है। इसी गुणका आश्रयीभूत आत्मा है। अतएव यह प्रतीति होती है कि 'घट विषयक ज्ञानवान मैं हूँ'। आत्मद्रव्यके द्वारा ही संसारके यह समस्त व्यापार हो रहे हैं, उसीकी विकृतावस्थाका नाम संसार और विकाराभाव होने-पर जो अवस्था शेष रहती है उसी का नाम मोक्ष है।

(२८,१९।६।३९)

४ परमार्थसे सभी द्रव्योंका परिणमन स्वद्रव्यमें ही होता है। इसलिये जो आत्मद्रव्य है उसका भी परिणमन उसीमें होता है। उसका मुख्य परिणमन ज्ञान है, ज्ञान ही आत्मा-को अन्य पदार्थोंसे पृथक् कराता है। तब जब आत्माको श्रुतके द्वारा जानता है। कौन जानता है? आत्मा ही जानता है, जानने-वाला ही आत्मा है, और जाननेके योग्य भी यही है, और जाननेकी शक्ति भी उसीकी ही एक पर्याय है। इसलिये यही ध्वनित होता है कि आत्मा आत्माको, आत्माके द्वारा आत्माके लिये, आत्मासे आत्मामें जानता है, यही परमार्थसे श्रुतकेवली है। और जो सम्पूर्ण श्रुतको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह व्यवहार है। यहाँपर पर पदार्थों का जाननेकी मुख्यतासे कथन किया है—पूर्व जो श्रुतकेवली कहा उसमें मुख्य ज्ञेय आत्मा ही है, यहाँ पर ज्ञेयान्तर है।

(९।१०।३९)

५ आत्माकी प्रकृति जाननेकी है परन्तु तुमने उसको नाना प्रकारके पदार्थ संसर्गसे इतना दूषित बना लिया है कि वह जब

भी अपना कार्य करेगी, पर पदार्थके सहयोगमें ही कर सकेगी। जिसके पास जाओ यही राग आलापेगा कि बिना परके कुछ नहीं हो सकता। भला सोचो तो सही इस महती अज्ञानताकी भी कोई अवधि है?

(१६।१२।४९)

६ आनन्दकी जननी आत्माकी ही परिणति है। और वह कहीं नहीं। न तो उसका उत्पत्तिस्थान तीर्थ है, और न पुस्तक है, और न यह साधुसमागम ही है। अपितु जिस समय हम इन सभी बाह्य कारणोंसे विरक्त होकर अपने ज्ञाता द्रष्टाकी ओर लक्ष्य करेंगे उसी समय वह कल्याण जननी आविर्भूत हो जावेगी। वह जननी कल्याणरूपा है, उसके होते ही हमारे जो ज्ञानादिक गुण अनादि कालसे तिरोहित हो रहे हैं, अपने आप उदयको प्राप्त हो जावेंगे।

(२४।१२।४९)

७ आत्माका ध्येय दुःखसे निवृत्ति है। उसके लिये प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं, जिन कार्योंसे आकुलता होती है उन कार्योंके उत्पादक कारणोंको त्यागना ही दुःख निवृत्तिका उपाय है।

(१।१।४०)

८ आत्मा एक ज्ञाता द्रष्टा पदार्थ है, इसके साथ न जाने हुए और विपाककी बला कहाँसे आकर लग गई? उत्तर यह है कि आत्मा ही इसके उपार्जनमें मूल कारण है। अनादि कालसे यह गोरखधन्धा चला आया है और इसकी कड़िया (राग द्वेष) को अब न तोड़ा गया तो आगे भी चलता रहेगा।

(२१।१।४०)

९ सर्वप्रथम आत्मनिश्चयकी आवश्यकता है। उसके बाद अन्य ज्ञानकी आवश्यकता है क्योंकि भेदज्ञानके विषय ये

दो ही पदार्थ हैं—एक आप और दूसरा अपनेसे भिन्न पर पदार्थ। आपको जाननेका साधन अपने ही पास है। जैसे दीपकको जाननेके लिये अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं होती उसी तरह आत्माको जाननेके लिये अन्य ज्ञानकी भी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा हम जगतके पदार्थोंको जानते हैं उसीसे अपने आपको भी जानते हैं।

(२६ । ३ । ४०)

१० औरको समझनेकी अपेक्षा अपने ही को समझना अच्छा है। यदि अपनी प्रकृति ज्ञानमें आ गई तब सभी आ गया। अन्यथा कुछ नहीं आया। ठीक ही है—"आपको न जाने सो क्या जाने जहानको।"

(४ । २ । ४०)

११ आत्माओंमें हीनाधिकता होना कोई आश्चर्यकारी नहीं। क्योंकि कर्मोंकी विचित्रता हीनाधिकतामें प्रयोजक है।

(१८ । २ । ४०)

१२ जितनी प्रवृत्ति है बन्धमूलक है। इस जीवकी शरीरमें आत्मबुद्धि हो रही है और शरीरको अपना माननेसे उसकी रक्षाके लिये पर पदार्थोंमें राग करना स्वाभाविक है। अत जिनको इन रागादिकसे भय है उन्हें उचित है कि वे शरीरको आत्मासे भिन्न समझें।

(१३ । ४ । ४०)

१३ आत्मा ही आत्माका मित्र है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिस शुद्ध स्वरूप आत्माने रागादिक कलङ्कित अपने आत्माको जीत लिया उस आत्माका आत्मा ही मित्र है। और

आमासे भिन्न सभी परकीय पदार्थ अनात्मीय हैं अतः उन्हें अपना माननेकी जो परिणति है वही आत्माका शत्रु है।

(१०।५।४०)

१३ संसार बन्धनरूप है, यहें। आत्मा भी यह वस्तु है जो इस बन्धनको बनाता और मिटाता है। आत्मा ही संसारका एक मुख्य पदार्थ है, यह चाहे तो चौरासी लाख योनियोंका निर्माण करे और यदि चाहे तो अन्तर्मुहूर्तमें इनका नाश कर दे। इसकी महिमा अचिन्त्य और अनन्त है, इसके इशारे पर संसारका निर्माण और विनाश होता है।

१६।५।४०

१४ आत्मतत्त्व तक जाना कोई कठिन नहीं, क्योंकि इसके लिये किसी क्षेत्रान्तरमें जानेकी आवश्यकता नहीं है, अपने ही विचारमें तो वह अनायास प्राप्त हो सकता है परन्तु हम अपने विचारोंको अति अपवित्र बनाकर अपनेको उत्तम मान रहे हैं। यही तो बड़ी भारी भूल है। जिस समय आत्मासे यह भूल निकल जाय, कषाय चली जाय, समझो कि वह तत्त्व स्वयं प्रकाशमान हो जायगा।

(२१।५।४०)

१६ आत्मद्रव्यकी ही नहीं सभी द्रव्योंकी अचिन्त्य महिमा है परन्तु आत्माको जो विशेष आदर प्राप्त है उसका कारण जानना गुण है। अन्य जो पदार्थ हैं वे स्वकीय स्वरूपके भोक्ता नहीं, क्योंकि उनमें जाननेरूप चैतन्य गुणका अभाव है। आत्मातिरिक्त जो शेष पञ्च द्रव्य हैं वे अचेतन हैं। उनमें स्वपरको जाननेकी शक्ति नहीं। आत्मा अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है। यह जानना सर्वोपरि गुण है।

परन्तु संसारमें मोहात्म्यके निमित्तसे आत्मामें मिथ्यादर्शन रूप परिणाम होता है, जिसके सद्भावमें हमें स्वपर भेद विज्ञान नहीं होता। और इसके अभावसे हम शरीर पुत्र कलत्र हीमें आत्मीयताकी कल्पना कर उनके सद्भावके लिये अनेक प्रकारके पापोंका संचयकर अहर्निश इसी पाप कार्यमें संलग्न रहते हैं। धर्म कर्मोंकी अवहेलना करनेमें पटु रहते हैं। यद्यपि उनका अस्तित्व अपने पुरुषार्थके अधीन नहीं, जब उनकी पर्यायका अन्त आ जाता है, उस समय हमारे नाना प्रकारके प्रयत्न होने पर पर्यायका अन्त हो जाता है।

(२४।६।४०)

१७ आत्मा अनन्त शक्तिका धनी है। अतः कायरताको छोड़कर हमें उसकी अचिन्त्य अनन्त शक्तिका लाभ लेना चाहिये।

(१०।७।४०)

१८ हर एक अपनी परिणति निरन्तर उत्तम होनेकी अभिलाषा रखता है। जघन्यसे जघन्य और अधमसे अधम अपनेको हीन नहीं समझता। वास्तवमें आत्मामें कलुषितपना नहीं। यह जो उसमें होता है नैमित्तिक है। आत्मा स्वभावसे ही मलीन नहीं, क्योंकि यह उस मलीनताको दूर करनेकी चेष्टा करता है। यदि उसके साथ उसका तादात्म्य होता तो कदापि उसके दूर करनेका साहस न करता।

(६।८।४०)

१९ 'आत्मा अनन्त सुखका पात्र है' केवल यह कथा करनेसे क्या प्रयोजन निकला? उसके जाननेका भी तो प्रयत्न करो। 'सुख क्या वस्तु है' पहिले इसका निर्णय करो, तब फिर अनुमान करो कि किस आत्मामें यह पूर्ण होगा? जब तक आंशिक सुखका ज्ञान नहीं तबतक अनन्त सुखकी अनुमिति होना

कठिन है। आंशिक ज्ञानका सद्भाव देखकर ही तो यह अनुमान होता है कि किसी आत्मामें इसकी पूर्णता होगी। धूम वह्निकी व्याप्ति जिसे गृहीत है वही तो धूमको देखकर अग्निका अनुमान कर सकता है।

(३१ । ८ । ४०)

२० यह आत्मा अतिसूक्ष्म है, क्योंकि प्रत्येकके ज्ञानगम्य नहीं। यह बहुत जनोंकी कथा है परन्तु इसमें कुछ तत्त्व नहीं। आत्मवस्तु प्रत्येक मनुष्यके ज्ञानगम्य है। यदि यह अनुभवका विषय न होता तब सुख दुःखका अनुभव ही न होता।

(१२ । १ । ४४)

२१ आत्माका स्वभाव जानना देखना है। परन्तु जो देख जानकर निवृत्त होता है वह आत्मपरिणतिसे च्युत हो जाता है और उसी समय संसारकी यातनाओंका पात्र होता है।

(३० । ५ । ४४)

२२ आत्मबोध होना कोई कठिन बात नहीं। केवल दृष्टिकी विषमता ही बाधक है। जहाँ बाधकता गई, कल्याण समीप है।

(३२ । ७ । ४४)

२३ आत्मदृष्टिके बिना यह सब उपद्रव है। जिन जीवोंने अपने आपको न जाना वे कदापि परका हित नहीं कर सकते। इसका मूल कारण यह है कि जब मेघोंसे आच्छादित सूर्य स्वयं ही प्रकाशमान नहीं तब परको प्रकाशित कैसे करेगा?

(२ । ८ । ४४)



आत्म-निर्मलता

१ यदि आपकी आत्मा निर्मल है तो वह स्वयं कठिनसे कठिन भी कार्य करनेमें समर्थ हो जायगी। निर्मल आत्माके जो भाव हैं वही धर्म है और उनसे जो वाक्य हैं वही आगम है।

(४।४।२९)

२ चारित्र परिपालनमें बाह्य क्रियायें भी सहायक होती हैं क्योंकि वे कथञ्चित् शुभ परिणामोंकी नियामक होती हैं। परन्तु कुछ लोग बाह्य व्यापारको कुछ भी न समझ अपने आचरणको एकदम मलिन कर लेते हैं। ऐसे लोगोंसे कभी भी आत्म-हित नहीं हो सकता। जो मनुष्य मदिराको पानी समझ उसका उपयोग करेगा वह नियमसे पागल होगा। अतः बाह्य आचरण भी पवित्र बनानेका प्रयत्न करो। इस प्रयत्नसे एक दिन कषायकी प्रवृत्ति रुकेगी, अन्तरङ्गकी निर्मलता होगी।

(२५।५।२९)

३ आपकी अन्तरात्मा जितने अंशोंमें निर्मल होगी उतने ही अंशोंमें शान्तिकी वृद्धि होगी। शान्ति शब्दोंमें नहीं, कायमें नहीं, मनमें नहीं, इसका उदय आत्मामें ही होता है। तथा इसके विरुद्ध जो अशान्ति है वह भी मन, वचन, कायके परे है। इसका भी मूल कारण आत्मा है। यदि इस अशान्तिसे बचना चाहते हो तो आत्माकी रक्षा करो, आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, उसे

मानवता की कसौटी

मानवता की कसौटी

१ मनुष्यको सागरके समान गम्भीर होना चाहिये, सिंहके समान स्वाभिमानी और शूर होना चाहिये। यही लौकिक और पारमार्थिक सुखकी जननी है।

(३।१।१९, ४९)

२ सबको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनेवाला महान मूर्ख है। परोपकार करनेका अभिमान करनेवाला मनुष्य नहीं। जो कार्य निरपेक्षतासे करेगा वही मनुष्य है। मनुष्य वह है जो आत्माको कर्मोंसे बचावे। परोपकारकी भावना शुभोपयोग है। यह भी बन्धकी जननी है। जो बन्धमें डाले वह आत्माको उज्ज्वल बनानेमें समर्थ नहीं।

(१।९।३९)

३ मनुष्य जन्मकी सार्थकता संयमके पालनेसे है और संयमका अर्थ कषायसे आत्माकी रक्षा करना है। इसके लिये परपदार्थोंसे सम्पर्क त्यागो। पर पदार्थोंका सम्पर्क सर्वदा ही रहेगा। लोकमें सभी पदार्थ सर्वत्र हैं, केवल उनमें हमारी जो आत्मीय कल्पना है वही त्यागने योग्य है। त्यागनेका अर्थ यही है जो यह भाव न हो कि 'यह पदार्थ मेरा है।' पदार्थ शुद्ध मार्गमें न तो साधक

१३ मनुष्योंके साथ व्यर्थ विवादमें समय नष्ट कर देना मनुष्यता नहीं, मूर्खता है, क्योंकि व्यर्थ विवादमें स्वपर वञ्चना होती है, आत्माकी अवहेलना होती है, जिसका फल अनन्त संसारके सिवा और कुछ नहीं है।

(२१ । ५ । ३९)

१४ 'मैं किसीका उपकार कर रहा हूँ' इस भावनासे रहित होकर जो उपकार करेगा वह उत्तम मनुष्य है। जो उपकार बुद्धिसे सहायता करेगा वह मध्यम मनुष्य है। जो प्रत्युपकारके भावसे सहायता करेगा वह जघन्य मनुष्य है। जो अपनी ख्यातिकी भावनासे सहायता करेगा वह अधमाधम मनुष्य है।

(१९ । ८ । ४८)

१५ एक तो वे मनुष्य हैं जो आत्म-कल्याण करते हैं और दूसरे वे मनुष्य हैं जो स्वपर कल्याण करते हैं। ये दोनों ही उत्तम हैं। एक वे मनुष्य हैं जो परकी सहायता पाकर स्वात्म-कल्याणके मार्गमें लग जाते हैं, एक वे मनुष्य हैं जो निरन्तर अपना और परका अकल्याण करना ही अपना ध्येय बना बैठे हैं। तथा निरन्तर अपना ही अकल्याण करते रहते हैं।

(१९ । ३ । ४०)

१६ मनुष्य वही है जो संसारकी वासनाओंका दास न हो। गल्पवादमें तो सभी चतुर और धर्मात्मा हैं किन्तु जो कार्य में तत्पर हों उन्हींकी गणना भद्र मनुष्योंमें हो सकती है।

(१४ । ५ । ४४)

१७ मनुष्य वही है जिसके द्वारा संसारका भला हो। अपना भला तो सभी चाहते हैं और यह भला केवल बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रखता है परन्तु जिस कल्याणमार्गसे संसार परम्परा का उच्छेद हो जावे उस ओर बहुतोंकी दृष्टि नहीं।

(१० । ७ । ४४)

१८ इन मनुष्योंका संसर्ग अहितकर है—

१—जो हृदयका स्वच्छ न हो।

२—जो पक्षपाती हो।

३—जो आगमकी आज्ञाकी अवहेलना करता हो।

४—जो दम्भ रखता हो।

५—जो धर्मात्मा बननेकी चेष्टा करे परन्तु वास्तविक सिद्धान्तको न माने।

(२१।५।५४)

१९ मनुष्य जन्मकी सफलता इसीमें है कि अपनेको परसे भिन्न जानकर आपरूप होनेका प्रयत्न करना, क्योंकि यही जन्म ऐसा है जिसमें आपरूपमें लीन होनेकी योग्यता है परन्तु देवोंके भेद-ज्ञानके अनुरूप चारित्र धारण करनेकी योग्यता नहीं है। यही कारण है कि उनको सर्वार्थसिद्धि पद मिलने पर भी ३३ सागर असंयममें जाते हैं।

(१२।८।५४)

२० मनुष्य वह है जो आत्मीय गुणोंमें अनुरक्त रहता है, जो आत्माके प्रतिकूल आचरण करता है वही संसारी है। संसार एक विषम, भयावह, दुस्तर अरण्य है। इसमें मोहरूपी सिंह द्वारा क्षुद्र जीवोंको नाना यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। जो इन यातनाओंसे बचना चाहते हैं वे अपनी मनुष्यताका ध्यान रखते हैं।

(१८।८।५४)

—:o:—

धर्म और धर्मात्मा

१ लोगोंकी धर्मके प्रति श्रद्धा है किन्तु धर्मात्माओंका अभाव है। लोग प्रतिष्ठा चाहते हैं परन्तु धर्मको आदर नहीं देते। मोहके प्रति आदर है धर्मके प्रति आदर नहीं।

२ धर्म आत्मीय वस्तु है, उसका आदर विरला ही करता है। जो आदर करता है वही संसार सागरसे पार होता है।

(दैनन्दिनी ३।१।४९)

३ खेद इस बातका है जो हमने यह मान रक्खा है कि धर्मका अधिकार हमारा है। यह कुछ बुद्धिमें नहीं आता। धर्म तो वह वस्तु है जिसके पात्र सभी आत्मा हैं। बाधक कारण जो हैं उन्हें दूर करना चाहिये।

(२१।१।४९)

४ धर्म बाह्य चेष्टामें नहीं, न अधर्म ही बाह्य चेष्टामें है। उसका सम्बन्ध सीधा आत्मासे है। आत्माकी सत्ताका अनुमापक सुख दुःखका अनुभव है तथा प्रत्यभिज्ञान भी आत्माकी नित्यतामें कारण है। प्रत्येक मनुष्य सुखकी अभिलाषा करता है।

(७।२।४९)

५ परोपकार करनेकी ओर लक्ष्य नहीं, इसका कारण यह है कि हम लोग आत्मतत्त्वको नहीं जानते अतः यद्वा तद्वा प्रवृत्ति

पर अपनेको धर्मात्मा मान लेते हैं। धर्मात्मा वही हो सकता है जो धर्मको अङ्गीकार करे।

(२०।१।४९

६ हम लोग मन्दिरके उपासक हैं, धर्मके वास्तविक मर्मसे दूर हैं। धर्म आत्माकी शान्ति परिणतिके उदयमें होता है अतः उचित तो यह है कि पर पदार्थोंमें जो आत्मीय सम्बन्ध है उसे त्यागना चाहिये। जब तक यह न होगा सभी क्रियायें निस्सार हैं। इसका अर्थ यह कि अनात्मीय पदार्थोंके साथ जबतक निजत्व की कल्पना है तबतक यह कभी भी धर्मका पात्र नहीं हो सकता।

(२१।१।४९)

७ धर्मका स्वरूप तो निर्मल आत्माकी परिणति है। इसकी प्राप्ति मोह रागद्वेषके अभावमें होती है। यदि रागद्वेषकी प्रचुरता है तब आत्माका कल्याण होना असम्भव है।

(२।५।४९)

८ प्रत्येक व्यक्तिको धर्मसाधनमें सावधान होना चाहिये। धर्मसाधनका अर्थ है परिणामोंकी स्वच्छतासे अपनी रक्षा करना। धर्मका तात्पर्य बाह्य क्रियाओंसे नहीं है। अज्ञानी लोग ही बाह्य आचरण और अन्नादिके त्याग मात्रमें धर्म मानते हैं।

(२।६।४९)

९ धर्म जीवका स्वच्छ स्वभाव है। इसका उदय होते ही आत्मा कैवल्यावस्थाका पात्र हो जाता है।

(१३।६।४९)

१० धर्मका विकास स्वच्छ आत्मामें होता है।

(२०।६।४९)

११ धर्मका तत्त्व सरल है किन्तु अन्तरङ्गमें माया न होनी चाहिये।

(२२।७।४९)

१२ धर्म आत्माकी निज परिणति है, उसका प्राप्त होना कठिन नहीं परन्तु फिर भी हमारी प्रकृति अनादिसे पर पदार्थोंमें उलझी रहती है। इससे हम सर्वथा स्वात्मतत्त्वसे वञ्चित रहते हैं। इधर-उधरके कार्योंमें व्यग्र रहते हैं और व्यग्र मनुष्य आत्मतत्त्वके पात्र नहीं।

(५।८।४९)

१३ लोग अभ्यन्तरसे धर्मको धारण नहीं करते। केवल लौकिक प्रतिष्ठाके लिये व्रत धारण करते हैं। धर्मका समझना कठिन है। मर्म वही समझता है जिसके अन्तरङ्गसे धर्मकी रुचि हो। रुचिके अनुकूल ही क्रिया होती है।

(१८।८।४९)

१४ सब मनुष्य अपने विषय भोगमें आसक्त हैं। कुल परम्पराकी परिपाटीसे धर्मकी रक्षा हो रही है। धर्मके सिद्धान्तासे धर्मकी प्रवृत्ति नहीं है किन्तु "हमारे प्राचीन पुरुषोंकी यही पद्धति रही, इससे हमको भी करना चाहिये" इस रूढ़िवादपर ही है। यदि मानव धर्मके वास्तविक रहस्यको समझते, सिद्धान्तापर चलते, तब यह रूढ़िवाद कभीका ध्वस हो जाता।

(२१।८।४९)

१५ ससारमें परिग्रह पापकी जड़ है, यह जहाँ जावेगा वहीं पर अनेक उपद्रव करावेगा। करावे किन्तु जिनको आत्महित करना है वे इसे त्यागें। त्यागना परिग्रहका नहीं, मूर्च्छा त्यागना ही धर्म है।

(७।१०।४९)

१६ धर्मका स्वरूप सुननेमें नहीं आता, सुननेका विषय तो शब्द है। शब्दसे हम अर्थकी कल्पना करते हैं, वह कल्पना भी परम्परासे चले आनेवाले संकेतों द्वारा व्यवहारमें चली आती है। जैसे घट शब्दसे घट अर्थका बोध होता है और पट शब्दसे पट-का प्रतिबोध होता है। सङ्केतोंकी रचना वक्ताकी इच्छाके अनुकूल होती है।

(१६ । १० । ४९)

१७ मनुष्य धर्मका आदर करता है, धर्मका आदर होना ही चाहिये, क्योंकि वह निज वस्तु है, वह परकी निरपेक्षता ही से होता है। हम अनादिसे जो भ्रमण कर रहे हैं उसका मूल कारण हमने आत्मीय परिणतिको नहीं जाना। बाह्य पदार्थोंके मोहमें आकर रागद्वेष सन्ततिको उपार्जन करते रहे और उसका जो फल हुआ वह प्राय सबके अनुभवगम्य है।

(२८ । १० । ४९)

१८ लोगोंकी श्रद्धा धर्ममें है परन्तु धर्मका स्वरूप समझने-की चेष्टा नहीं करते। केवल पराधीन होकर कल्याण चाहते हैं। कल्याणका अस्तित्व आत्मामें निहित है किन्तु हमारी दृष्टि उस ओर जाती नहीं।

(२३ । ११ । ४९)

१९ मनुष्योंकी धार्मिक रुचि कुछ समयके प्रभावसे ह्रास हो रही है। स्त्रीगण धर्मकी इच्छा रखता है परन्तु मनुष्योंमें इतनी शक्ति और दया नहीं जो उनको सुमार्गपर ला सके। जब स्वय सुमार्गपर नहीं तब औरोंको क्या सुमार्गपर लावेंगे ? जो स्वय अपनेको धर्म कलङ्कसे रक्षित नहीं रख सकते वह परकी क्या रक्षा करेंगे।

(२७ । ११ । ४९)

२० दया सच्चा धर्म है। दयासे ही संसारकी स्थिति योग्य रहती है। जहाँ निर्दयता है वहाँ परस्परमें कलह रहता है। वर्तमान संसारमें जो कलह हो रहा है वह दयाके अभावके कारण ही है। वर्तमानमें मनुष्य इतने स्वार्थी हो गये कि एक दूसरेकी दया नहीं करते।

(२८ । ११ । ४९)

२१ मनुष्य धर्मके पिपासु हैं परन्तु धर्मका मर्म बतानेवाले विरले हैं। अपने अन्तरङ्गमें यद्वा-तद्वा जो समझ रखा है वही लोगोंको सुना देते हैं। अभिप्राय स्वात्म-प्रशंसा का है। यह समझते हैं कि हमारे सदृश अन्य नहीं। धर्मके ठेकेदार बनते हैं। धर्म आत्माकी मोह-क्षोभसे रहित परिणतिका नाम है, उसपर दृष्टि नहीं।

(२९ । ११ । ४९)

२२ प्रायः धर्मका आदर सभी करते हैं और दृष्टि भी मनुष्योंकी धर्मकी ओर है और उसका फल भी शान्ति मानते हैं। धर्मके विरोधी मोह राग-द्वेषमें भी विश्वास है। आत्माका हित भी धर्मसे मानते हैं परन्तु अनादि कालसे पर पदार्थोंके द्वारा धर्मकी उत्पत्ति मान रहे हैं। तथा इसी तरह अधर्मकी भी उत्पत्ति परसे मान रहे हैं। जैसे जब परजीवका वध होता है तब हिंसाका कारण उस पर जीवको ही मानते हैं। तथा जो पर जीवका घात हुआ उसे ही हिंसा मानते हैं। वास्तवमें मारनेके जो परिणाम हुए वह परिणाम हिंसा है और वही आगामी बन्धका कारण है। अतः जिन्हें हिंसासे आत्माकी रक्षा करना इष्ट है उन्हें सबसे पहिले परिणामोंको निर्मल करना चाहिये।

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।"

रागादि भावोंकी उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है। इसके विपरीत परिणाम ही हिंसा है।

"यत् खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥"

कषाय के योगसे द्रव्य भाव रूप प्राणोंका जो घात होता है वही हिंसा है ऐसा जानकर अहिंसक होना चाहिये। जो जीव अहिंसक होंगे वही सच्चे परम धर्मके उपासक हैं और वही संसार बन्धनसे मुक्त होंगे।

(१।१।५१)

२३ धर्म उसको कहते हैं जो समयके अनुकूल हो, जिससे आत्माको शान्ति मिले। जहाँ आत्माको शान्ति नहीं मिलती वहाँ धर्मका लाभ नहीं प्रत्युत अधर्म होता है।

(१३।१।३८)

२४ धर्मका यथार्थ आचरण किये बिना कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकता। चर्चा करना धर्म नहीं, धर्म तो आत्म-स्वरूपकी वास्तविक पहिचान है।

(७।४।३९)

२५ धर्मकी उत्पत्ति यथार्थ ज्ञानीके ही होती है।

(२०।५।३९)

२६ धर्म कोई पृथक् वस्तु नहीं, धर्मीसे अभिन्न परिणाम ही धर्म है। धर्मोंका जो समुदाय वही धर्मी है। धर्म और धर्मीके पृथक् प्रदेश नहीं, दोनोंके प्रदेश एक ही हैं। परन्तु लोकमें धर्म शब्दका व्यवहार पुण्यके लिये होता है और अध्यात्म शास्त्रवाले चारित्रको धर्म कहते हैं।

(१३।६।३९)

२७ धन खर्च करनेसे धर्म नहीं होता। शरीरको कृश करनेसे भी अन्पाग धर्म नहीं होता।

(२९। ३। ५०)

२८ धर्मके नामपर जितना रुपया अनायास ठगा जाता है उतना सट्टामें नहीं। सट्टामें तो लाभ और हानि दोनों हैं परन्तु यहाँ तो हानिका नाम भी नहीं, क्योंकि यहाँ तो बातोंकी सफाई और कामकी सरलता भर दिखाना है, इस वाग्जालमें अच्छे-अच्छे आ जाते हैं। कारण भी है कि ससारी जीव सदा आर्त रहते हैं और उससे छूटनेके लिये जिस किसीने जो कुछ भी उपाय बताया कि उसके जालमें आ जाते हैं।

(१३। ५। ५०)

२९ त्याग धर्म ही धर्म है, क्योंकि वस्तु स्वभावका विकाश केवल वस्तुमें ही होता है। वस्तु स्वभावसे तो सदा ही है परन्तु अनादि पर द्रव्यकी ममतासे पर द्रव्यके साथ सम्बन्धित हो रहा है। वह सम्बन्ध आत्माके मोहादि परिणामसे जन्य है अत जो मनुष्य केवल अवस्थाको चाहते हैं उन्हें इन पर-पदार्थोंसे रागादिककी निवृत्तिकर लेना ही परम श्रेयस्कर है।

(३१। १०। ५०)

३० धार्मिक भावोंकी प्रीति घटती जाती है और यह यहाँतक घटेगी कि दो या तीन पुस्तमें नाममात्र रह जावेगी, क्योंकि जो बड़े हैं वह बालकोंको धर्ममें नहीं लगाते।

(५। १२। ५०)

३१ धर्मके नामसे संसारको धोखा दिया जा सकता है। अनेक मनुष्य धर्मकी ओटमें जन साधारणसे अनेक वस्तुएँ छीन लेते हैं।

(१५। १। ५४)

हम लोग वास्तवमें धर्म साधनके कारणोंसे अभी परिचित नहीं। बड़े आदमियोंके समागमसे प्रमादी और लालची हो गये हैं।

(१०।१।४४)

३१ लोगोंकी रुचि धर्म श्रवणमें उत्तम रहती है परन्तु उसपर अमल करनेवाले बहुत अल्प हैं। धर्म वह पदार्थ है कि यदि उसपर अमल किया जावे तब संसार यातनाओंसे मुक्ति मिल सकती है।

(१०।१।४४)

२४ संसारमें बहुतसे मनुष्य व्यवहार क्रियामें धर्म मान रहे हैं। क्रिया नाम व्यापारका है। व्यापार करनेमें उपयोग और योगकी आवश्यकता है। जहाँ कषाय सहित उपयोग होता है और योगकी चञ्चलता है वहीं संसारका अस्तित्व है। कषाय जानेके बाद फिर योगोंकी चञ्चलता बाधक नहीं।

(२२।१२।४४)



पूर्ण होनेपर एक हजारकी आशा हो उठती है और उसके पूर्ण होनेपर दस हजारकी आशा हो जाती है। इस तरह इसका गर्त सदा दसगुणा बढता ही जाता है।

(२३ । १ । ४९

११ स्वाध्याय करो, किसीसे भी व्यर्थ वार्तालाप मत करो, समयकी प्रतिष्ठा आत्माकी प्रतिष्ठा है, इसलिये जितना भी हो सके समयका सदुपयोग करो।

(१ । ६ । ४९)

१२ किसी कार्यका संकल्प मत करो, यदि कुछ करना ही इष्ट है तब सब कार्य करनेकी इच्छा त्याग दो। इच्छा ही दुःख की जननी है, उसे रोकना ही सुखका कारण है।

१३ सुख कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो याचना करनेसे प्राप्त हो सके। उसके लिये प्रयत्न आवश्यक है, पुरुषार्थ अपेक्षित है। कुम्भकार घड़ा चाहता है, और यह भी जानता है कि घड़ा मिट्टीसे बनाया जाता है, तथा अपने घरमें मिट्टीका एक ढेर भी रखता है परन्तु यदि वह निरन्तर मिट्टीके ढेरकी पूजा करता रहे, सिद्धि मन्त्रका जाप्य भी कराता रहे तो भी घड़ा बननेका नहीं। घड़ा तभी बनेगा जब वह घड़ा बनानेके सभी आवश्यक प्रयत्न करेगा। यही व्यवस्था सुखके सम्बन्धमें है।

(१८ । ३ । ४९)

१४ जहाँतक बने परकी वञ्चना मत करो। इससे परकी वञ्चना हो, न हो, परन्तु आत्मवञ्चना तो हो ही जाती है। आत्म-वञ्चनाका तात्पर्य यह कि जिस कषायसे आप वर्तमानमें दुखी हैं उसीका बीज फिर बोते हैं।

(२६ । ६ । ४९)

१५ आत्माको दुःख देनेवाली वस्तु इच्छा है। यह जिस विषयकी हो उसकी जबतक पूर्ति नहीं होती तबतक यह जीव दुःखी रहता है। आत्मा भी आगामी दुःख ही का पात्र होता है। यह सब होनेपर भी यह आत्मा निज हित करनेमें संकुचित रहता है। केवल संसारकी वासनाएँ इसे सताती रहती हैं। वासनाओंमें सबसे बड़ी वासना लोकेषणा है जिसमें सिवाय संक्लेशके और कुछ नहीं।

(२६।६।४९)

१६ किसीके व्यामोहमें पड़कर प्रतिज्ञा भङ्ग मत करो। उसीकी प्रतिज्ञाका पालन भलीभाँति हो सकता है जो दृढ़विश्वास और अथक प्रयत्नपर निर्भर है। गल्पवादके कारण सुमनमें सुगन्धि नहीं आ सकती।

(१४।६।४९)

१७ यद्वा तद्वा मत बोलो, वही बोलो जिससे स्वपरका हित हो। यों तो पशु पक्षी भी बोलते हैं पर उसके बोलनेसे क्या किसीका हित होता है? मनुष्यका बोल बहुत कठिनतासे मिलता है।

(१५।१०।४९)

१८ वास्तवमें अन्तरङ्ग वासनाकी ओर ध्यान देना चाहिये। यदि अन्तरङ्ग वासना शुद्ध है तब सब कुछ है। अनादि कालसे हमारी वासना परपदार्थोंमें ही निजत्वकी कल्पना कर असंख्य प्रकारके परिणामोंको करती है। वे परिणाम कोई तो रागात्मक होते हैं और कोई द्वेषरूप विपरिणम जाते हैं, जो अनुकूल हुए उनमें राग और जो प्रतिकूल हुए उनमें द्वेष हो जाता है।

(२६।१०।४९)

१९ सब मनुष्य सुख चाहते हैं परन्तु सुखप्राप्ति दुर्लभ है। इसका मूल कारण यह है कि उपादान शक्तिका विकाश नहीं। वक्ताओंको यह अभिमान है कि हम श्रोताओंको समझाकर सुमार्गपर ला सकते हैं। श्रोताओंकी यह धारणा है कि हमारा कल्याण वक्ताके आधीन है।

(११ । ११ । ४९)

२० न्यायमार्गमें जिनकी प्रवृत्ति होती है उनकी अन्तमें विजय होती है। अन्याय मार्गमें जो प्रवृत्त होते हैं वही न्याय मार्गमें चलनेवालों द्वारा पराजित होते हैं अतः मनुष्यको चाहिये कि न्यायमार्गमें चले। संसार दुःखमय है इसका कारण आत्मा पर पदार्थको निज मानकर नाना विकल्प करता है।

(१३ । ११ । ४९)

२१ जीवन उसीका सार्थक है जो पराये दुःखमें सहायता करता है। गल्पवादकी अपेक्षा कर्तव्यपथमें विचरण उत्तम है।

(१४ । ११ । ४९)

२२ मोहके उदयसे यह जीव पदार्थका अन्यरूप श्रद्धान करता है इसीसे दुःखी होता है। जैसे कोई मनुष्य सर्पभ्रान्तिसे भयभीत होता है। यह भ्रम दूर हो जावे तब भय नहीं। इसी प्रकार पर पदार्थोंसे निजत्व बुद्धि त्याग देवें तब सुखी हो जावे।

(१८ । ११ । ४९)

२३ हम लोग अपनेही परिणामोंसे दुःखी होते हैं और निमित्त ... आरोप करते हैं। इसीतरह सुखी भी अपने परिणामोंसे हैं। यहांतक कहें जो कुछ करते धरते हैं, हम स्वयं उसके ... परमें आरोपकर संसारको अपना शत्रु मित्र बनानेकी

चेष्टा करते हैं। यह सब अज्ञानकी चेष्टा है। वह अज्ञान कोई अन्य वस्तु नहीं अपनाही मोह जनित अज्ञानका परिणाम है।

(रा २० । ५ । [illegible])

२४ आत्म विश्वास संसारमें सुखका मूल उपाय है। [illegible] साथही जो अनावश्यक परिग्रह है उसे अलग करो, [illegible] जल्दी प्रकट न करो, धार्मिक आचरण निष्कपट ही [illegible] अत जो नियम लिए हैं उन्हें निरतिचार पालन करो [illegible] कारण है।

([illegible])

२५ संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुखकी [illegible] सुख किसी वस्तुमें नहीं, आत्मा ही जिस समय [illegible] में रागद्वेष नहीं करता उसी समय इसके [illegible] नहीं आती। अत चाहे कोई भी हो कभी [illegible] करनेकी चेष्टा मत करो।

([illegible])

२६ सुखकी जड आत्माश्रित है। [illegible] समय सुखरूप होता है उस समय [illegible] जो करता है वही आत्मा है, [illegible] सुख है।

([illegible])

२७ व्याकुलताका कारण [illegible] 'हमारा क्या कर्तव्य है?' जब [illegible] मार्गके पथिक कैसे बन सकते हैं [illegible] यापन कर रहे हैं। उसका मूल [illegible] भिन्नता है।

'गङ्गामें गङ्गादास, यमुनामें यमुनादास।'

जिसने जो कहा, जहाँ जो मिला, उसीसे हाँ में हाँ मिला दी, निजका कुछ भी नहीं। यही दुःखका कारण है। यह मिटे तो सुख ही सुख है।

(१०।२।३९)

२८ आत्मामें जो भाव अहितकर प्रतीत हों उन्हें न होने देना यही तुम्हारा पुरुषार्थ है। हम प्रायः सुख भी चाहते हैं और आकुलता जनक कार्य भी करते हैं अतः यदि सुखकी इच्छा है तब जिस कार्यमें आकुलता होती है उसे न करो। 'जगत सुखी हो' ऐसी भावना बुरी नहीं, परन्तु 'मैं जगतको सुखी करूँ' यह चेष्टा सुखकर नहीं।

(८।३।३९)

२९ जब मनोरथमें नाना कल्पनाएँ हैं और शक्ति एक कल्पनाके पूर्ण करनेकी नहीं तब सुखकी प्राप्ति दुर्लभ क्या असम्भव ही है।

(१०।८।३९)

३० संसारमें सभी प्राणी सुखकी इच्छा करते हैं और कारण भी इस प्रकारके संग्रह करते हैं कि जिनसे सुख मिले परन्तु वह कारण सुखके नहीं, क्योंकि निमित्त कारणोंसे न आज-तक सुख मिला और न आगे भी उनसे मिलनेकी आशा है। जब वर्तमानमें बाह्य-पदार्थ सुखके कारण नहीं तब उत्तर कालमें होंगे यह मानना सर्वथा मिथ्या है।

(१२।११।३९)

३१ संसारमें वही मनुष्य सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकता है जिसने अपनी मनोवृत्तिको स्वाधीन बना रखा है।

(१०।१।४०)

३२ यथार्थ बात सुननेसे भी मनुष्योंको दुःख होता है। यदि सुखी होना चाहते हो तब इन पर पदार्थोंके साथ सम्पर्क छोड़ो। इनकी मीमांसा करनेसे अपने परिणामोंमें कषायका उदय होता है और यही दुःखका कारण होता है। जहाँ कषायकी परिणति है वहीं जीव दुःखी होता है।

(२३ । २ । ४०)

३३ शान्तिसे जीवन व्यतीत करो। बर्बर प्रकृतिको त्यागो। किसीके भी साथ अनुचित व्यवहार मत करो। जो तुम्हें कष्टप्रद ज्ञात होता है वह व्यवहार दूसरोंके प्रति मत करो। संसारमें ऐसी कोई भी पद्धति नहीं है जिससे प्रत्येकको प्रसन्न किया जा सके। केवल अपनी आत्मामें उत्पन्न विकारोंको शान्त करनेकी चेष्टा करो यही एक पद्धति सुख प्राप्तिकी है। परको आनन्दित करनेकी चेष्टा स्वात्मानन्दकी बाधिका है। आनन्द नाम निराकुल आत्माकी परिणतिका है, उसमें परको सुखी करनेकी इच्छा आने से उसके स्वरूपका घात ही है, क्योंकि आकुलता ही तो आत्माकी निराकुलतारूप आनन्द परिणामोंका घात करनेवाली व्याधि है।

(३, ४, । ५ । ४०)

३४ संसारकी दशा अति शोचनीय है। जो आज राजा है वह कल दरिद्र हो जाता है, जो दरिद्र था वह कुबेर जैसा धनिक देखा जाता है। यह भी हमारे मोहकी लहर है। राजा होकर न तो यह आत्मा सुखी हो सकता है और न रंक बनकर दुःखी हो सकता है। यह सब हमारी कल्पनाओंकी महिमा है कि जिसके पास धन होता है उसे हम सुखी कह देते हैं और जिसके पास धन नहीं होता उसे हम दुःखी कह देते हैं। परन्तु सुख और दुःखका सम्बन्ध वस्तुतः धनसे नहीं अपितु उसका सम्बन्ध आत्मपरिणामोंसे है। जिसके पास धन है फिर भी उसके

बढानेकी तीव्र इच्छा है तब वह दुःखी है। और उसके घटनेमें यदि अपनेको निर्धन समझता है तब भी दुःखी है और उसके होते हुए भी यदि उसकी रक्षाकी चिन्ता है तब भी दुःखी है। अत यह निष्कर्ष निकला कि धनादिक बाह्य वस्तु सुखके कारण नहीं अपितु अन्तरंगकी मूर्च्छाका अभाव ही सुखका कारण है।

(२१।१।५०)

२५ बहुत विकल्प बहुत दुःखकर होते हैं। दुःख किसीको इष्ट नहीं, क्योंकि इसके होने पर शान्ति नहीं मिलती। शान्ति कोई भिन्न वस्तु नहीं, केवल जिसके होने पर अपने आत्माको किसी प्रकारका दुःख न हो वही शान्ति है। बेचैनीके अभावमें जो सुख स्वाधीन है उसका आस्वाद आ जाता है और वह सुख अनिर्वचनीय है।

(२६।१।५०)

२६ परपदार्थके अस्तित्वमें स्वामीपनेकी कल्पना कर सुख मानना अज्ञानी जीवोंकी चेष्टा है। यही कारण है कि ज्ञानी जीव तो पर पदार्थोंके सम्बन्ध होने पर अपनेको मुनीम मानता है और अज्ञानी जीव उनका स्वामी बनता है। यह महती अज्ञानता ही तो है।

(२७।१।५०)

२७ निमित्त कारण न तो दुःखदायी हैं, न सुखदायी। हमारी कल्पनाके अनुसार वे सुख और दुःखरूप हो जाते हैं। इसीलिये वही चन्द्रोदय संयोगी पुरुष स्त्रीको सुखदायी और वियोगी पुरुष स्त्रियोंको दुःखदायी प्रतीत होता है। वह तो जैसा है वैसा ही है। अथवा वही कुमुदका विकाशन और कमलका मुद्रित करने वाला होता है।

(२४।७।५०)

३८ आजन्मसे अब तक कितनी अवस्थाएँ हुईं इसका हमें प्रतिभास भी नहीं। केवल उन अवस्थाओंको जो हमारे ज्ञानमें आईं यदि निरूपण किया जावे तब एक पुराण बन जावे। उनमें अच्छी भी मिलेंगी। अच्छीसे तात्पर्य केवल दया आदिके परिणाम जिनमें होते हैं। परन्तु जिससे आत्मामें शान्तिका उदय होता है उसका मिलना कठिन ही होगा। उपाय अनेक शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हैं परन्तु उस रूप परिणतिका होना प्राय कठिनसा प्रतीत होता है। कह देना और बात है, उस रूप हो जाना अन्य बात है। ज्ञान और चारित्रमें अन्तर है। चारित्रका उदय चारित्रमोहके क्षयोपशमादिसे होता है और ज्ञानका उदय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमादिसे होता है। यह अवश्य है कि ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होते ही होता है। अत सम्यग्दर्शनके अर्थ ही प्रयास सुखकर है।

(२०।७।५०)

३९ सुखकी जननी निराकुलता है, लालचका रोग अतिबुरा है। इसका रोग जिसके चढ़ जाता है वह कदापि सुखी नहीं हो सकता। सुखका मूल कारण पर पदार्थकी लालसाका अभाव है वह जब तक बनी रहती है तब तक सुख होना असम्भव है।

(२०।१०।५०)

४० संसारमें वही मनुष्य सुखी होता है जो अपने परायेका ज्ञान कर सब पदार्थोंसे ममता छोड़ देता है। ममता ही संसारकी जननी है। इसका सद्भाव ही आत्माका दुःखका बीज है।

(३।२।४४)

४१ दुःखका कारण अज्ञान और मोह है। अत जब तुम्हारे मनमें हेय और उपादेयका ज्ञान हो तब जो दुःखके

निमित्त हैं उनसे पृथक् रहो और जो सुखके कारण हैं उन्हें संग्रह करो। व्यर्थकी कल्पनाएँ कर दुःखके पात्र मत बनो।

(२५ । ५ । ४४)

४७ सब विकल्पोंको त्यागो, यही आत्मसुखका मूल उपाय है। व्यर्थके विवादमें आत्मगुणका घात होता है। संसारका वैभव असार है परन्तु जो साररूप हो सकते हैं उनके स्वामी कषायके आवेगमें अपनी प्रभुता चाहते हैं।

(२८ । ५ । ४४)

४८ संसार यातनाओंके नाशका उपाय आशाको रोकना है। आशाको रोकनेका उपाय अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीयताका त्याग है।

(१० । ८ । ४४)

४९ संसारमें सभी सुख चाहते हैं और उसके लिये प्रयास भी करते हैं फिर भी सुख नहीं पाते। इसका कारण यह है कि सुखके विरुद्ध जो दुःख है उसीकी सामग्रीकी हम योजना करते हैं।

(१० । १० । ४४)

शान्ति मदन

१ सभी लोग संसारमें शान्ति चाहते हैं परन्तु भला जब संसारका स्वरूप ही अशान्तिका पुञ्ज है तब उसमें शान्तिका अन्वेषण करना कदली स्तम्भ (केलेके वृक्ष) में सार अन्वेषण करनेके सदृश है। शान्ति संसारमें असम्भव है। लौकिक मनुष्य स्थान विशेषको संसार और विशेष स्थानको मोक्ष समझते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। सत्य यह है कि संसार अवस्था आत्माकी परिणति विशेष है।

(२०।५।४९)

२. आत्माकी निर्मलता ही सुखका कारण है। सुख ही शान्तिका उपाय है। उपाय क्या सुख ही शान्ति है।

(१।६।४८)

३ शान्तिका लाभ तो मिथ्याभिप्रायके त्यागसे होगा। परन्तु उस ओर किसीकी दृष्टि नहीं। इसीका मुख्य प्रयास ही कल्याणका मार्ग है। परन्तु हमारी भूलसे हम संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं।

(११।६।४९)

४ अन्तरंग रागद्वेषका त्याग करना ही आत्मशान्तिका मार्ग है। अन्तरंग रागादिक आत्माके शत्रु हैं, इनसे आत्मामें अशान्ति पैदा होती है और अशान्ति आकुलताकी जननी है। आकुलता ही दुःख है, दुःख किसीको इष्ट नहीं। सब संसार दुःखसे भयभीत है।

(१।७।४९

५ मनके विकल्प छोड़ो, और शान्ति तत्त्वकी ओर दृष्टिपात करो। अन्यथा यह जन्म तो जावेगा ही, पर जन्म भी निरर्थकसा हो जायगा। और यदि यही व्यवस्था रही तब वही दशा होगी जो अतत्त्वज्ञोंकी होती है। तत्त्वज्ञ होनेका फल तो यह है कि आत्माको इन पर पदार्थोंके सम्पर्कसे होनेवाले अनेक विकल्पोंसे जिनमें कुछ सार नहीं, दूर करनेकी चेष्टा की जाय। अथवा यह भावना ही त्यागो।

(२० । ७ ४९)

६ शान्तिका कारण अभ्यन्तरमें है, बाह्य तो निमित्तमात्र है। निमित्त कारण बलात्कार नहीं करता किन्तु यदि तुम कार्य करना चाहो तब यह सहकारी कारण हो जाता है।

(२६ । ७ । ४९)

७ आत्माकी शान्तिका उपाय परसे सम्बन्ध छोड़ो। अपनी परिणति पर विचार करो। विचारका मूल कारण सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति आप्त कथित आगम ज्ञानके अनुकूल विचार विमर्शसे होती है। आप्त रागद्वेष रहित है। अत रागादि दोषोंको जानो। उनकी पारमार्थिक दशासे परिचय करो। उसका त्याग ही ससार बन्धनसे मुक्तिका उपाय है। रागादिकोंका यथार्थ स्वरूप जान लेना ही उनसे विरक्त होने एव शान्ति प्राप्त करनेका मूल कारण है।

(२ । ९ । ४६)

८ शान्तिका कारण वीतराग भाव है और वीतराग भावका उदय जिन दर्शनसे होता है। यद्यपि वीतरागता वीतरागका धर्म है। वीतराग आत्मा मोहके अभावमें होता है किन्तु जिस आत्मामें वीतरागताका उदय होता है उसकी मुद्रा बाह्यमें शान्त रूप हो जाती है। शरीरके अवयव स्वभावसे ही सौम्य हो जाते

हैं। यह असम्भव बात नहीं। जिस समय आत्मा क्रोध करता है उस समय क्रोधीके नेत्र लाल और मुखाकृति भयङ्कर हो जाती है, शरीरमें कम्प होने लगता है, दूसरा मनुष्य देखकर भयभीत हो जाता है। इसी तरह इस प्राणीके जब शृंगार रसका उदय आता है तब उसके शरीरका अवलोकन कर रागी जीवोंके रागका उदय आ जाता है। जैसे कालीकी मूर्तिसे भय झलकता है, वेश्याके अवलोकनसे रागादिकोंकी उत्पत्ति होती है। तब वीतरागके दर्शनसे जीवोंके वीतराग भावोंका उदय होता है। वीतरागता कुछ बाह्य से नहीं आती जहाँ राग परिणतिका अभाव होता है वहीं वीत रागताका उदय होता है।

२६।२।५१)

९ वस्तुतः शान्ति सभी चाहते हैं परन्तु शान्तिके जो साधक कारण हैं उन्हें प्रयत्न करनेकी चेष्टा नहीं करते। प्रत्युत उनके द्वारा ही उसे चाहते हैं। विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पूर्वको जानेवाला यदि पश्चिमको चले तब कभी भी अपने गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुंच सकता। इससे सिद्ध हुआ कि शान्तिके बाधक कारण जो मिथ्याभाव हैं उन्हें तो त्याग नहीं करना चाहता और जिन पदार्थोंमें विपरीत अभिप्रायसे निजत्व का अभिप्राय हो रहा है उन पदार्थोंको त्यागना चाहता है। वे तो भिन्न हैं—पृथक् हैं।

(८।३।५१)

१० शान्तिका मूल धीरता है। उसके लिये—सब किसी पर क्रोध मत करो, धर्मका लक्षण क्षमा समझो, भोजनके समय अति शान्त परिणामोंसे भोजन करो, उदयके अनुकूल जो भोजन मिले उसीमें सन्तोष करो, कर्मोदयकी विचित्रता देखकर हर्ष विषाद मत करो। संसार नाशके उपाय उपवास, एकान्तवास, गृहत्याग

आदि बताये हैं उनका अभ्यास करो। उन व्रतों पर अधिक ध्यान दो जिनसे आत्मसंशोधन होता है। ऐसे किसी भी कार्यको कठिन मत समझो जो आत्महित साधक है।

(२।१।३९)

११ शान्तिका उदय निराकुल दशामें होता है। जहाँ व्यग्रता है वहाँ निराकुलता रूप शान्तिकी उत्पत्ति नहीं।

(११।९।३०)

१२ परका देखकर हर्ष विषाद मत करो। झूठी प्रशंसा कर दूसरोंको प्रसन्न करनेका तात्पर्य केवल स्वात्म प्रशंसा है। हमारा व्रत तप ज्ञान ध्यान सबोंका प्रयोजन केवल स्वात्म प्रशंसाकी ओर रहता है। यही अशान्तिका कारण है।

(१२।११।३९)

१३ आकुलताका आश्रय हमारा आत्मा बन रहा है, जिस समय आकुलताकी निवृत्ति हमसे हो गई उसी समय शान्तिका उदय हो जायगा। आकुलता और शान्ति यह दोनों परस्पर विरोधिनी पर्यायें हैं शीत और उष्णकी तरह एक साथ कभी नहीं रह सकतीं।

(१९।११।३९)

१४ कथनीसे आत्महित बहुत दूर है। चित्तको सन्तोष करना अन्य बात है, अभ्यन्तर शान्तिका रसास्वादन करना अन्य बात है। अन्तःकरणमें जब तक आकुलताके अभावका अनुभव नहीं तबतक शान्तिका आभास भी नहीं। अतः बाह्य आलम्बनोंको छोड़ स्वावलम्बन कर रागादिकोंकी उपक्षीणता करनेका उपाय करो।

(२५।११।३९)

१५ चित्तवृत्ति शान्त करनेके लिये पर पदार्थसे सम्पर्क

त्यागो। इसका तात्पर्य परमें इष्टानिष्ट कल्पनाका त्याग करना है।
(२८।१।१९)

१६ आजकल द्रव्योपार्जनकी जो पद्धति है उससे अभ्यन्तरमें अति कलुषता है और उसका ही यह परिणाम है कि धार्मिक कार्योंमें अधिकांश बाधाएँ आती हैं। उपार्जनमें कलुषता और व्ययमें दुरभिमान इस तरह जहाँ कषायोंका साम्राज्य है वहाँ शान्ति कैसे मिल सकती है?

(७।२।१९)

१७ शान्तिकी परिभाषा यह है कि चित्तमें क्षोभ न हो कलुषताका अनुभव न हो।

(१६।२।१९)

संसारकी चिन्ता करनेसे केवल अनर्थ ही होता है। आत्म चिन्तन करनेसे आत्मगत जो दोष हो उन्हें पृथक् करना और जिन गुणोंका विकास हुआ हो उनकी वृद्धि करना।

(१८।२।४९)

१८ बहुत प्रयास करने पर भी आत्मामें शान्तिका आस्वाद नहीं आता, अतः यही ज्ञान होता है कि हम अभी शान्तिके यथार्थ पथसे बहुत दूर हैं या अभी काललब्धि अति दूर है, या लोगोंको दिखानेके लिये हमारा यह प्रयास है। इनमेंसे काललब्धि तो सर्वज्ञ ज्ञानगम्य है, उसका हमें क्या प्रत्यय हो सकता है? हम अपनी प्रवृत्तिका स्वयं स्वच्छ बना सकते हैं। स्वच्छता यही है जो अपनेमें परके प्रति निर्ममताका भाव हो। यही शान्ति पथ है।

८।४।१९

१९ जगत्‌में शान्ति नहीं, इसका कारण यह है कि जगत् रागादिक द्वारा ही निर्मित है और रागादिक स्वयं

आकुलताका आकर है। उसमें शान्तिका खोजना मरुभूमिमें कमल खोजनेके तुल्य है।

(२६ । ७ । ३९)

२० शान्तिका आविर्भाव आत्मामें ही होता है और आत्मा ही से होता है। आत्माकी शक्ति द्वारा आत्मा ही उस आत्मभावको अपने द्वारा अपने ही लिये अपनेमें अनुभव करता है। वह शान्ति पुद्गलोंकी पर्यायोंमें नहीं है। लोग निरन्तर पराश्रित बुद्धि हैं अत उसे परमें ही अन्वेषण करनेका उद्यम करते हैं।

(७ । ३ । ४०)

२१ हम सौम्य बननेका प्रयत्न करना चाहिये। सौम नाम चन्द्रका है। चन्द्रकी ज्योत्स्ना शीतल और प्रकाशक है, उसके सद्भावमें प्राणियोंकी दाह वेदना शान्त होती है। अर्थात् चन्द्रकी ज्योत्स्ना शारीरिक दाहकी उपशान्तिका कारण है, वह भी तभी जब कि अन्तरङ्गमें किसी प्रकारकी शल्य न हो। शल्य अन्तरङ्ग की दाहक है, उसे यह शान्त नहीं कर सकता।

(११ । ३ । ४०)

२२ हम स्थानोंमें, पर्वतोंमें, नदियोंमें, मूर्तियोंमें, शास्त्रोंमें, साधु समागम और दुर्जनोंसे दूर रहनेमें शान्तिकी कामना करते हैं। यही करते करते आयु पूर्ण हुई जाती है परन्तु शान्ति आकाश कुसुम ही बनी है। सच तो यह है कि शान्ति इन सबमें नहीं है, शान्ति तो अपने पास ही है। अज्ञानको हटाकर, विभाव परिणतियोंको छोड़कर शुद्ध आत्माको पहिचाननेभरकी आवश्यकता है।

(१४ । ३ । ४०)

२३. शान्तिका अनुभव होना कोई कठिन नहीं, जिन जीवों

ने अपने आत्मत्वको जानकर पर पदार्थोंमें आसक्ति छोड़ दी, शान्ति उनके पास ही है।

(१५ । ४ । ५०)

२४ यदि शान्तिकी अभिलाषा है तब इस अशान्ति मूलक अभिलाषाको त्यागो। श्री गुरुओंने तो मोक्षाभिलाषा तकका निषेध किया है। अभिलाषा वस्तु ही परजन्य होती है और इसकी प्रकृति निरन्तर ऐसी है कि आत्मा पर पदार्थको ग्रहण करनेकी चेष्टा करता है। लोकमें पर पदार्थको ग्रहण करनेवाला चोर कहलाता है।

(२४ । ४ । ५०)

२५ परमार्थसे कोई क्रिया न तो शान्तिकी साधिका है न बाधिका। शान्तिके बाधक रागादिक भाव हैं और उनका अभाव ही साधक है।

(१० । १० । ५०)

२६ चित्त शान्त रखनेके लिये विशेष विकल्प त्यागो, किसीसे मोह मत करो। जो ज्ञान प्राप्त है उसका सदुपयोग करो। प्राप्तका सदुपयोग न कर अप्राप्तकी आशा करना अशान्तिका कारण है।

(१० । ८ । ४४)

२७ शान्तिका मूल कारण आत्मामें रागादिकी निवृत्ति होना है।

(१६ । ९ । ४४)

निराकुलता

आकुलताकी उत्पत्तिमें मूर्च्छा ही कारण है अतः जिन्हें आकुलता इष्ट नहीं वे मूर्च्छाका त्याग करें। पर वस्तुमें आत्मीयत्व की कल्पना ही मूर्च्छा है।

(१६।१।२९)

जिस वस्तुके ज्ञानमें आकुलता हो, चैन न पड़े, वही दुःख है। अतः यह जो वैषयिक सुख है वह भी दुःख रूप ही है, क्योंकि जबतक वह नहीं होता तबतक उसके भोगनेकी आकुलता रहती है, होने पर भोगनेकी आकुलता रहती है। यह आकुलता ही जीवको नहीं सुहाती अतः यही दुःखस्वरूपा है। भोग विषयिणी आकुलता दुःखात्मक है इसमें तो किसीका विवाद नहीं परन्तु शुभोपयोगसे सम्बन्ध रखनेवाली जो आकुलता है वह भी दुःखात्मक है। यदि ऐसा न होता तो उसके दूर करनेका प्रयत्न ही व्यर्थ हो जाता। यहाँतक कि शुद्धोपयोगको प्राप्त करनेकी जो अभिलाषा है वह भी आकुलताकी जननी है। अतः जो भाव आकुलताके उत्पादक हैं वे सभी हेय हैं। परन्तु संसारमें अधिकतर भाव तो ऐसे ही हैं और उन्हींके पोषक प्रायः सभी मनुष्य हैं।

(१, २।८।२९)

आत्मामें जो इच्छा उत्पन्न होती है वही आकुलताका कारण है। इसीसे आचार्योंने इच्छादि विकारोंके अभावमें शान्ति मानी है। गृहस्थसे परिव्राजक क्यों सुखी है? इसलिये कि सम्पूर्ण परिग्रहको त्याग कर उसने निराकुल एवं निरीह वृत्तिका अवलम्बन लिया है।

(६।२।२९)

केवल आकुलताके अभावमें सुख होता है। अन्य कोई कारण सुखका नहीं। अब ऐसी प्रवृत्ति करो जो निवृत्ति मार्गमें सहायक हो। जबतक पर पदार्थोंमें अनुराग है प्रवृत्ति दूषित ही रहेगी।

(२३ । ३ । ४०)

संसारमें नानाप्रकारकी आकुलताएँ हैं और संसारी जीव इनके चक्रमें फँसे हुए अपने दिन व्यतीत कर रहे हैं। किसीको भी चैन नहीं, क्योंकि परपदार्थोंके सम्बन्ध कोई राग करपान्न हैं और कोई द्वेषके उपान्न हैं। इस तरह संसारका चक्र आकुलता द्वारा ही परिचालित है।

(१६ । ४ । ४०)

निराकुलता शान्तिका सरल उपाय है। परन्तु हम दूसरे चक्रमें आ जाते हैं। और आजन्म उन पदार्थोंमें ही अपनी आयु पूर्ण कर पुनश्च संसारके पात्र बनते हैं।

(२६ । ४ । ४०)

जब कोई मनुष्य किसी प्रकारका कार्य करता है उसके पहिले उसके मनमें जो कार्य करना चाहता है उस कार्यके करनेकी इच्छा रहती है और वही इच्छा उसकी आकुलताकी उत्पादक होती है और जो आकुलता है वही दुःख है। अतः निराकुल होनेका जो प्रयास है वही सुख कारक होगा।

(२५ । ११ । ४०)

त्याग

१ त्याग वह वस्तु है जो त्यक्त पदार्थके अभावमें अन्य वस्तुकी इच्छा न हो। नमकका त्याग मधुर (मिठाई) की इच्छाके विना ही सुन्दर है।

(२०।१।४९)

२ यदि वास्तवमें धार्मिक बुद्धि है तब उस त्यागीको गृहस्थके मध्यमें नहीं ठहरना चाहिये। गृहस्थोंके सम्पर्कसे बुद्धिमें विकार हो जाता है और विकार ही आत्माको पतित करता है, अतः जिन्हें आत्महित करना है वे इन उपद्रवोंसे सुरक्षित रहते हैं।

(२१।१।४९)

३ भोजनकी प्रक्रियाको सरल बनाओ। सेवकके मुँहताज मत बनो, अपने कार्यके लिये पर निर्भर मत रहो। त्यागका अर्थ यह नहीं कि समाजके लिये भारभूत बनो। तत्त्वार्थसूत्रमें गृद्धपिच्छने कहा है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (जीव परस्पर उपकार करते हैं) अतः जैसे भोजनादि द्वारा समाज तुम्हारा उपकार करता है उसी तरह तुमको भी उचित है कि यथायोग्य ज्ञानादि दान द्वारा उसका उपकार करो। यदि तुम त्यागी न होते तब निर्वाहके अर्थ कुछ व्यापारादि करते, उसमें तुम्हारा [illegible] जाता, अतः तुम्हारा जो भोजनादि द्वारा [illegible] ज्ञानादि द्वारा तुम्हें भी प्रत्युपकार कर उऋण [illegible]

४ सम्पूर्ण व्रत और त्यागका यह तात्पर्य है [illegible] दूर हो। यदि वे पृथक् नहीं होते तब उस व्रत और [illegible]

कोई महिमा नहीं। प्रत्युत वह दम्भ है और अपनी आत्माको अनन्त संसारका पात्र बनानेका प्रयास है।

५ वर्तमान समयमें लोग ज्ञानादिककी वृद्धि तो करते नहीं केवल व्यर्थके त्यागमें अपनी आत्माको फँसाकर निरन्तर आर्तध्यानके पात्र होते हैं। त्यागके मूल भूत उद्देश्यकी उन्हें कोई खबर ही नहीं।

(२४, २६। २। ३४)

६ त्याग सबकी उत्पत्ति कषायसे होती है और उसका प्रयोजन कषायको क्षीण करना है। अतः जो वस्तु आत्माको क्लेश कर हो उसे त्यागना ही उत्तम है।

(२७। २। ३९)

७ ममत्व दुःख और त्यागमें सुख है। सुखका घातक पर वस्तुका ममत्व है। जबतक वह नहीं जाता तबतक आत्मा संसार के दुःखोंसे नहीं छूटता।

(१७। ५। ३८)

८ अन्तरङ्गकी वृत्तिमें जबतक परिवर्तन न होगा, बाह्य त्याग दम्भ है।

(२७। ५। ३६)

९ त्याग या चारित्र गुणका विकास विषयी जीवोंके कभी नहीं होता।

(३०। ५। ३९)

१० मनुष्य अपनी प्रशंसाके लिये सब कुछ त्याग देता है परन्तु इसके माने त्याग नहीं। कषाय पीडासे लाचार होकर द्रव्य को यों ही गमा देता है।

(३०। ५। ३९)

११ त्यागमें कुछ स्वाद नहीं, स्वाद तो रागादिक विभावोंके

असम्भव है। बाह्य त्याग केवल बाह्य प्रभावका जनक है। अन्तरङ्गके स्पर्श करनेमें इसकी सामर्थ्य नहीं।

(२१।२।४०)

१२ त्याग उत्कृष्ट है त्यागके बिना कल्याण नहीं, परन्तु इसमें दम्भ नहीं होना चाहिये।

(०।४।४०)

१३ त्यागकी निर्बलता दूर किये बिना केवल शास्त्रका अध्ययन कर मूर्च्छाको मिटाना मनुष्यों द्वारा पुरुषार्थ किये बिना ही केवल आराम मात्र छोड़नेके तुल्य है।

(२९।५।४०)

१४ ज्ञानमें त्यागमें कारण अन्तरङ्गकी निर्ममता है। ज्ञानसे तो केवल पदार्थका परिचय होता है। यह रागका भी साधक है और वीतरागताका भी साधक है। तत्त्व दृष्टिमें न रागका कारण है। ममत्वसे निर्ममताका भाव किसी भाग्यशाली जीवके होता है किन्तु भाव होनेपर जो विलम्ब करते हैं वह फिर उसी स्थानपर पहुँच जाते हैं जहाँ कि पहले थे।

(१।१०।४०)

१५ संसारमें गृहत्याग दो तरहका होता है। एक मनुष्यके तो यह भाव होते हैं कि निर्वाहके योग्य परिग्रह रखकर धर्म साधन करना और एक मनुष्यके यह भाव होते हैं कि इस परिग्रह पिशाचको छोड़ो, इससे कभी भी कल्याणकी सम्भावना नहीं। परन्तु पूज्य वह महात्मा है जो उत्तम दिगम्बर पदका आलम्बनकर व स्वाधीन वीरचर्याको अङ्गीकार कर धर्म साधन करता है। मार्गमें दोनों ही आरूढ़ हैं—एक साक्षात्मोक्षमार्गका पात्र है और दूसरा परम्परासे।

(१, २।१०।४०)

१६ त्यागी वही प्रशंसाका पात्र है जो जितेन्द्रिय हो।

(२९।२।४१)

१७ वास्तवमें त्यागके महत्त्वको गृहस्थ लोग जानते हैं। इसीसे वह बड़े प्रेमसे अपने घर त्यागियोंको भोजन कराके घरको पवित्र मानते हैं। हम लोग जो त्यागी हैं वे इस महत्त्वका उपयोग नहीं करते। वास्तवमें त्यागसे आत्महित करना चाहिये। अन्तरङ्गमें जो उद्योग होता है वही क्रोधादि कषायकी शान्तिका उपाय है। हमें उचित है कि उसे दूर करें। केवल नमक, मिर्च इत्यादि छोड़नेकी चेष्टामें आत्मशक्तिका दुरुपयोग न करें। अन्तरङ्ग शत्रुओंको पराजित करनेकी चेष्टा करें।

(१,३।७।४१)

१८ त्यागी लोग संयमकी ओर लक्ष्य रखें तो यह दुरवस्था ही क्यों हो?

(११।७।४४)

१९ त्यागीगण विवेकसे कार्य नहीं लेते, परस्परमें ईर्षा रखते हैं, यह सब कलि का विलास है, अन्यथा गृह त्यागनेपर भी शान्ति क्यों नहीं आती? गृहत्यागका तात्पर्य यही है कि पर पदार्थमें जो मूर्च्छा है उसे त्यागो। घर छोड़ा और अन्तरङ्गकी मूर्च्छा न छोड़ी तब गृहत्याग व्यर्थ है।

(१९।९।४४)

२० जहाँपर त्यागियोंका समागम होता है वहाँपर अनेक विसंवाद उपस्थित होते हैं। लोगोंमें न तो ज्ञानार्जन करनेकी इच्छा है और न त्यागकी चेष्टा है। केवल गृहस्थोंके यहाँ अनेक बाह्य त्याग दिखाकर उन्हें संकटमें डाल देना है। त्यागके नामपर यह अशोभन कार्य है।

(२६।६।४४)

दान

१ मनुष्य जिस वस्तुका दान करता है उसे अपनी समझता है। इसीसे अहंबुद्धि होती है। यही संसार भ्रमणका कारण है। अतः दान करनेसे धनका धन गया और संसारके पात्र हुए। इसलिये दान करनेका अभिप्राय है कि धन वस्तु पुद्गल द्रव्य है, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। केवल मोहसे अपनी मानते थे। आज हमारा उससे ममत्वभाव छूटगया इसीका नाम दान है। दूसरा अर्थ—

"स्वपरोपकाराय द्रव्यातिसर्जनं दानम्।"

स्वपरोपकारके लिये द्रव्यका त्याग करना दान है।

(२६ । ३ । ४९)

२ आजकल लोग अभ्यन्तरसे मान कषायके अभिलाषी हैं यही कारण है कि उसी जगह दान करना चाहते हैं जहाँ अधिकसे अधिक व्यक्ति उनकी प्रशंसा करें। जरासा काम करेंगे परन्तु पत्थरके पाटियेपर नाम अवश्य लिखा देंगे। मन्दिर आदिमें भी सजावट ऐसी ही वस्तुओंसे करेंगे जिनके लिये खर्च किये गये पैसे भले ही मांसाहारी जीवोंके यहाँही क्यों न जावें?

(२६ । ३० । ६ । ३५)

३ संसारमें जो मनुष्य नामके लाभसे दान देते हैं मेरी समझमें तो उनके पुण्यबन्ध भी नहीं होता, क्योंकि तीव्र कषायमें पापका ही सञ्चय होता है। परन्तु क्या किया जाय पहिले लोभ कषायसे ग्रहण किया था, अब मान कषायसे त्याग

रहे हैं। कषायसे पिण्ड न छूटा, पर हाँ इतना हुआ कि दानी कहलाने लगे।

(८ । ११ । ३६)

५ वस्तु दानके समय उन नीच जनोंका जिनकों पर सङ्कोचिन्दय मत होओ। पर वस्तुके देनेमें सङ्कोच करना तथा लघुगौरव भावकी मनमें कल्पना करना अपनी आत्माको लघु बनानेका प्रयत्न है।

(१२ । ११ । ४०)

६ लोग केवल दान देनेमें महान पुण्य समझते हैं, ठीक भी है परन्तु उसके साथही दृष्टि भी आत्मीय गुणोंके विकासमें जानी चाहिये। दानसे जो लोभ कषायका त्याग होता है उस ओर हमारी दृष्टि नहीं।

(१३ । ५ । ४४)

६ शहरोंमें जो दानकी पद्धति है वह अपनी प्रसिद्धिके लिये है। 'संसारमें हमारी ख्याति हो' जहाँ यह भावना है वहाँ लोभके सिवा कुछ नहीं। दानके लोभसे यद्वा तद्वा धन व्यय करते हैं।

(१९ । ५ । ४४)

७ परोपकारके लिये अपने धनका जो त्याग है उसीका नाम दान है।

(२० । ५ । ४४)

८ मेरा तो विश्वास है कि वर्तमानमें पात्रोंकी अपेक्षा दान देनेवालोंके अधिक विशुद्धि रहती है। उनका अभिप्राय अति कोमल और भक्तिरससे भरा रहता है।

(११ । ९ । ४४)

धैर्य

१ अधीरता दुःखोंकी माता है। जो भी कर्म उदयमें आवे धीरताके साथ सहर्ष भोगना ही सुखका उपाय है।

(१८ । ७ । ३९)

२ किसी कार्यको असम्भव समझ हताश न होओ, उद्यमशील रहो, अनायास मार्ग मिल जावेगा। मार्ग अन्यत्र नहीं अपने पास है, भ्रमको दूरकर प्रयत्न करो तो उसका पता अवश्य ही लग जावेगा।

(७ । २ । ४०)

३ मनुष्योंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं उन्हें देखकर हर्ष विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं। कषायोंके उदयमें अनेक प्रकारके भाव होना दुर्निवार है। वही जीव संसारमें उत्कृष्ट और पूज्य है जो निखिल आपत्तियोंके उदय होनेपर अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता।

(१८ । ८ । ४०)

४ "भवितव्य दुर्निवार है" इस वाक्यका प्रयोग धैर्यशील पुरुष कभी नहीं करते। वह सदा साहसके साथ उद्योग ही करते हैं और कार्य सिद्धिके पूर्व कभी भी उसे नहीं त्यागते।

(१८ । ३ । ४०)

५ जो मनुष्य किसी कार्यमें धैर्यपूर्वक अन्तरङ्गसे प्रवृत्ति करता है उसे कोई भी कार्य दुष्कर नहीं। किन्तु जो केवल कार्यकल्पनाके विकल्प गङ्गामें ही गोता लगाता रहता है वह कोई भी कार्य नहीं कर सकता। केवल मनोरथके रथपर बैठनेवाले गन्तव्य

स्थानपर नहीं पहुच सकते किन्तु मार्गपर चलनेवाले ही पहुच सकते हैं।

(२५।५।४०)

६ जिस कार्यके लिये जो समय नियत है उसे उसी समय करो। ऐसा करनेसे चित्तमें धीरता और स्फूर्ति आयगी।

(२९।८।४०)

७ विपत्ति आनेपर अच्छे अच्छे मनुष्य धैर्य छोड देते हैं।

(११।१०।४४)



ध्यान

"एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम्"

१ अन्य ज्ञेयोंमे चिन्ताको रोककर एक ज्ञेयमें लगा देना ध्यान कहलाता है। आत्माका उपयोग पदार्थोंको जानता है और फिर एक पदार्थसे पदार्थान्तर जाननेकी जो चेष्टा होती है वह सब कषायके निमित्तसे होती है। हम एक पुस्तक पढ जाते हैं फिर भी जो दूसरी पुस्तक पढनेकी इच्छा होती है उसमें मूल कारण कषाय ही तो है, अन्य कुछ नहीं। यदि कषायका उदय न हो तब यह सब चेष्टाएं रुक जायें। शुक्ल ध्यानमेंही जो भेद आचार्योंने किये हैं उनमें प्रथम शुक्ल ध्यान तो कषायोंके सम्बन्धसे होता है, दूसरे शुक्लध्यानमें कषायोंका अभाव होनेसे न तो योगका पलटन होता है और न ध्येयसे ध्येयान्तर होता है। इसको ध्यान कहनेका तात्पर्य यह है कि यह क्षयोपशमभावमें होता है। और क्षयोपशमभाव अन्तर्मुहूर्तमें नाश होनेवाला है। अत इसे ध्यान कह देते हैं। वस्तुवृत्त्या उपचारसेही ध्यान कहना सङ्गत है।

(२३।१०।४०)

२ ध्यानको तपके अभ्यन्तर भेदमें भी आचार्यने कहा है और तपका लक्षण—"इच्छा निरोधस्तप" इच्छाका निरोध तप है। इच्छा कषायोंका परिणमन विशेष है और उसका उदय चारित्र गुणमेंही होता है अर्थात् चारित्र गुणका विकार ही इच्छा है। तब उसका जो अभाव होगा वह चारित्रही का परिणमन तो होगा अत चारित्र गुणकी स्थिर परिणतिका नाम ही ध्यान है।

(२४।१०।४०)

उपवास

१ उपवासका प्रयोजन कषाय, विषय और आहारका त्याग है। कहा भी है—

"कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स तु विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः॥"

जिसमें कषाय, विषय और आहारका त्याग हो उसे उपवास कहते हैं। जिसमें यह नहीं है वह तो केवल लङ्घन ही है। अतः यदि अन्तरङ्गकी कषाय शान्त नहीं हुई तब उपवास करनेमें क्या लाभ?

२ उपवासके दिन यदि धर्म ध्यानमें काल न बिताकर व्यापार आदि गृहकार्यमें काल बीतता है तब उपवासका कोई महत्त्व नहीं। संयमकी रक्षापूर्वक सुख शान्तिके साथ स्वाध्यायमें समय व्यतीत हो तब भी उपवास उचित ही है, अन्यथा लङ्घन ही है इसमें कोई लाभ नहीं।

३ जो व्यक्ति उपवास करता है वह स्वयं अपनी आत्म निर्मलताका अनुभव करे। यदि उसे अपनेमें विशुद्धिका आभास न हो तब पुनः आत्मसंशोधन करे कि भूल कहाँ हुई है?

४ धर्मप्रेमी वह हो सकता है जो रागद्वेष जैसे शत्रुओंपर विजय करनेकी चेष्टा करे। केवल उपवास करनेसे यदि रोग वृद्धि हो जाय तब ऐसे उपवास संयमके साधक नहीं, प्रत्युत घातक हैं।

(२३, ७४ । २ । ४९)

मौनव्रत

१ मौनव्रतका प्रयोजन सामाजिक चिन्ताओंसे मनकी वृत्तिका निरोधकर रागादिकको कृश करना है। यदि इस ओर दृष्टि नहीं गई तब मौन रखनेसे कोई विशेष लाभ नहीं। यदि बाह्य वचनकी प्रवृत्ति नहीं भी हुई किन्तु अन्तरङ्ग रागादिकोंकी शृङ्खला पूर्ववत् वृद्धिरूपा ही होती गई तब इस मौनसे केवल लोगोंकी वञ्चनाकर स्वकीय मान कषायकी वृद्धि करना ही है। जिसका फल नीच गोत्रके बन्धके सिवा और कुछ नहीं है। अतः अन्तरङ्गमें रागादिकोंको स्थान मत दो। जबतक तुम्हारी भावना सराग न होगी कदापि रागादि नहीं हो सकते।

(२० । १ । ३९)

२ मौनका अर्थ यह है कि उस दिन अपना अभिप्राय काय द्वारा व्यक्त न करना तथा लिखकर भी प्रगट न करना। यदि कषाय नहीं घटी तब बोलनेमें क्या हानि? सबसे उत्तम मौन तो यह है कि उस दिन अपनी वृत्तिको स्वाधीन रखा जाय। यदि यह नहीं कर सकते तब लोगोंकी वञ्चनाके लिये तथा अपनी प्रतिष्ठाके लिये इस व्रतका सदुपयोग नहीं प्रत्युत अन्तरङ्गमें कषायकी प्रचुरता होनेसे वह व्रत नहीं व्रताभास है, और उसका फल अधोगति है।

(१८ । ३ । ३९)

३ जहाँ बोलनेकी इच्छा होगी वहाँपर प्राणियोंसे संसर्गकी लालसा होगी। जो कि मूर्च्छा है। इससे छूटनेके लिये मौनव्रत सबसे अच्छा है।

)

८ मौनव्रत तो वही कहलाता है जिसमें मनमें बोलनेकी कषाय न हो। केवल ऊपरसे न बोलना मौनव्रत नहीं। यदि नहीं बोलनेसे मौनव्रत होजावे तो एकेन्द्रिय पञ्चस्थावर जीव पृथिवी, जल, अग्नि, हवा और पेड पौधोंके भी मौनव्रत हो जायगा। जैसे केवल परिग्रहके न होनेसे अपरिग्रही नहीं किन्तु मूर्च्छाके अभावसे अपरिग्रही होता है वैसे ही केवल मुँहसे न बोलनेसे मौनव्रती नहीं किन्तु बोलनेकी कषायके अभावसे मौनव्रती होता है।

(१४।५।४०)

सन्तोष

१ सन्तोषका अर्थ यह है कि अनुचित कषायोंके वेगसे अपने परिणामको पृथक् करो। पञ्चेन्द्रियके विषयमें न्यूनता करो, अन्तरङ्गमें जो अभिलाषा है उसे रोको। सन्तोषका यह अर्थ नहीं कि हमारे पास जो कुछ ज्ञान और चारित्र है वही बहुत है, अब उसके लिये आगे और प्रयत्न करनेकी आवश्यकता ही नहीं। हाँ यह विचारधारा उसदिन प्रशंसनीय होगी जिसदिन विषय कषायसे चित्तवृत्तिमें विकार न होगा। अतः जबतक विषय कषायकी अभिलाषाका त्याग नहीं तबतक और ज्ञानार्जनका सन्तोष हितकर नहीं।

(२५।२।५०)

२ संसारमें सुखका मूल कारण सन्तोष है। सन्तोषका अर्थ है कर्मोदयसे जो कुछ लाभ हो उसमें अधिकके लिये लालच न करना। प्रथम तो जो वस्तु लाभ हो उसे भी आपत्तिरूप मानना। सन्तोषके लिये ऐसी भावना होना चाहिये कि—"कब मैं इन परपदार्थोंमें मोक्तापनकी बुद्धिसे बच जाऊँ? अनन्तर आत्मा आत्मा रह जावे।"

(३।१०।४४)

महावीर सन्देश

महावीर सन्देश

१ जिस व्यक्तिकी आत्मामें संशय और भय है वह कभी अपने आपको उन्नत नहीं बना सकता अतः निशङ्क और निर्भय बनो।

२ धर्म सांसारिक सुख देनेके लिये नहीं है, और न उसमें इन छोटी वस्तुओंकी कामना करना चाहिये। वह तो मोक्षसुख देनेवाली शक्ति है परन्तु वह प्राप्त तभी होगी जब कि व्यक्ति निष्काम रहे।

३ जैसा काल बदलता है, वैसी ही संसारकी समस्त वस्तुएं बदलती रहती हैं। यह कोई बात नहीं कि जो आज बुरा है वह कल अच्छा न हो, और जो आज अच्छा है वह कल बुरा न हो। इसलिये संसारके किसी भी पदार्थसे राग और द्वेष नहीं करना चाहिये। संसारके समस्त चराचर पदार्थोंमें हेयोपादेयका ज्ञान रखते हुए समभाव ही रखना चाहिये।

४ संसार एक अगाध समुद्र है तो श्रद्धा एक नौका भी तो है। परन्तु स्मरण रहे कि सज्ज्ञान और सदाचार अर्थात्, विवेक एवं विशुद्धताके दो पतवार उसके लिये अवश्य आवश्यक हैं।

५ सद्गुण देखना है तो दूसरोंमें देखो, दोष देखना है तो अपनेमें देखो। अपनी प्रशंसा और पराई निन्दा होना अपने आपको ले गिरनेवाले कुएँ और खाई हैं।

६ कुमार्गपर जानेवाले प्राणियोंको सुमार्गपर लगाना परम पुण्य है। समयके अनुसार उसे हित मित प्रियवचनोंसे समझाकर,

आवश्यक सेवा कर और द्रव्यकी उचित सहायता देकर उसका स्थितीकरण करो; यही समीचीन धर्म है।

७ संसारके समस्त प्राणीमात्रके प्रति दया और मित्रताका व्यवहार करो। दया और मित्रता यह दोनो गुण सुखी जीवनके खजानेकी अक्षय पूंजी है।

८ सूर्य और चन्द्रसे कुछ सीखना है तो एक बात सीखो कि तुम्हारा व्यवहार इतना प्रसन्नताका हो कि तुम्हें देखतेही दूसरोंके हृदय कमल प्रफुल्लित हो उठे, कषायसे व्याप्त हों तो भी शान्त हो जावें।

९ राजा रङ्क धनी गरीब, स्वामी-सेवक, मित्र-शत्रु, ब्राह्मण या भङ्गी कोई भी क्यों न हो पेड अपनी छायामें सभीको बैठने देते हैं, फूल अपनी सुगन्धि सभीको देते हैं, सूर्य अपना प्रकाश और चन्द्र अपनी चाँदनी सभीको देते हैं तब तुम्हें भी आवश्यक है कि अपने धर्मको सभीको दो। बिना किसी धर्मभेदके, बिना किसी वर्णभेदके, और बिना किसी जातिभेदके यदि तुमने यह काम कर लिया तो समझो कि तुमने अपने धर्मका सच्चा स्वरूप समझ लिया है।

१० ज्ञानका सञ्चय करो परन्तु वह सच्चा ज्ञान होना चाहिये। यदि वह ज्ञान सच्चा (श्रद्धासहित) नहीं है तो न होनेके बराबर ही है। इसलिये यदि विश्वके पदार्थोंका ज्ञान न हो सके तो कमसे कम आत्मज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न तो करनाही चाहिये।

११ चींटी हो या हाथी, हिरण हो या सिंह छोटे-बड़े-सबल निर्बल सभी प्राणियोंमें आत्मा एक बराबर है। दुखकी कारण सामग्री मिलनेपर सभीको दुख होता है अत कभी किसीको न सताओ, न प्राण हरण करो। ऐसा करना हिंसा है, हिंसा सबसे बड़ा पाप है।

१२ सदा सत्य बोलो। परिमित प्रिय और सत्य वचन बोलनेसेही मनुष्यका सन्मान हो सकता है।

१३ हिंसा जैसा ही पाप चोरी करनेका लगता है। यह एक निन्द्यकृत्य है। जहाँ आवश्यकताएँ बढ़ती हैं, लालसा बढ़ती है वहां चोरीकी भावना होती है। जो न्यायपूर्वक अर्जन करो उसेही सन्तोषपूर्वक व्यय करो।

१४ ब्रह्मचर्य एक रत्न है, मानव जीवन एक खजाना है। रत्नको खो दियातो खजाना किस कामका? खजाना खाली होने पर फिर भर सकते हैं परन्तु इस खजानेको भरना असम्भव है। धार्मिक शारीरिक और आर्थिक उन्नतिका एक केन्द्र है तो वह है ब्रह्मचर्य। पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करो। न कर सको तो परस्त्रीका त्याग और स्वदार सन्तोषव्रतकी प्रतिज्ञा करो। पर्वके दिनोंमें स्वस्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्य रखो। स्मरण रहे कुलटाएँ और वेश्याएँ जीवनका जीवित अभिशाप हैं।

१५ संसारकी कोई भी वस्तु तुम्हारी नहीं। इसलिये उनसे स्नेह छोड़ो, ममत्व छोड़ो, त्याग करनेका प्रयत्न करो। आवश्यकतासे अधिक कोई भी वस्तु मत रखो। आवश्यकतासे अधिक परिग्रह रखना दूसरोंका हिस्सा छीनना है, उन्हें दुःखी करना है।

१६ क्षमा, विनय, सरलता, सन्तोष, सत्य, संयम, तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस मोक्ष महलकी सीढ़ियाँ हैं, जितनी कुशलतासे चढ़ोगे उतनेही ऊपर पहुंचोगे।

१७ सद्ग्रंथकी भक्ति, सतशास्त्रका अध्ययन और सद्गुरुका सेवा ये उन्नतिके तीन मार्ग हैं।

मुक्ति मन्दिर

१ कल्याणका पथ निर्मल आत्मामें है। जहाँ अन्यकी अणुमात्र भी मूर्च्छा है वहाँ श्रेयोमार्ग नहीं है। बन्धावस्था ही संसारकी जननी है। अन्यकी कथा छोडो। परमात्मासे अनुराग भी परमात्मपदका घातक है। बन्धमें मूर्च्छा रखकर अपनेको वीतरागी मानना क्या धोखा देना है? अनादि कालसे इसी मूर्च्छाने आत्माको संसारका पात्र बना दिया है। आत्माकी परिणति दो प्रकारकी है, एक विकृत परिणति और दूसरी अविकृत परिणति। विकृत परिणतिही संसार है। विकृत परिणतिमेंही यह आत्मा परको निज मानता है। विकृत परिणतिके अभावमें परको पर आपको आप मानने लग जाता है। इसीको स्वसमय कहते हैं। जिस समय आत्मा अपनेको परसे भिन्न मानता है उसी समय दर्शन ज्ञानमय आत्माका परपदार्थोंमेंसे निजत्वका अभिप्राय चला जाता है किन्तु चारित्रमोहके सद्भावमें अभी उसमेंसे रागादिका संस्कार नहीं जाता किन्तु रागादि भावोंका कर्तृत्व नहीं रहता। यही श्रीअमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

> "कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
> अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः॥"

आत्माका स्वभाव कर्तापना नहीं है, जैसे भोक्तृत्व नहीं। अज्ञानसे आत्मा कर्ता बनता है और अज्ञानके अभावमें नहीं। चेतना आत्माका निजगुण है, उसका परिणमन शुद्ध और अशुद्ध दो तरहका होता है। अशुद्ध अवस्थामें वह आत्मा पर पदार्थका

कर्ता और भोक्ता बनता है। और अज्ञानके अभावमें अपने ज्ञानपने का ही कर्ता होता है। कहा भी है—

ज्ञानसे अतिरिक्तका अपनेको कर्ता मानना यही कर्मचेतना है, और ज्ञानसे अतिरिक्तका भोक्ता अपनेको मानना यही कर्मफल चेतना है।

ऐसा सिद्धान्त है—

"य परिणमति स कर्ता य: परिणामो भवेत् तत्कर्म।
या परिणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥"

जो परिणाम आत्मा स्वतन्त्र करता है, वह परिणाम तो कर्म है और आत्मा उसका कर्ता होता है, तथा जो परिणति होती है वही क्रिया है। ये तीनों परमार्थसे भिन्न नहीं। जिन्होंने आत्म तत्वकी ओर दृष्टि की उन्होंने परसमागम होनेवाले भावोंको नहीं अपनाया। यही बूटी संसार रोगका नाश करनेवाली है। बन्धावस्था दो पदार्थोंके संयोगसे होती है। इस अवस्थामें होनेवाला भाव संयोगज है। ने पदार्थ चाहे पुद्गल हो, चाहे जीव और पुद्गल हो। जहाँ सजातीय दो पुद्गल होते हैं वहाँपर एक तरहका भी परिणमन होता है और मिश्र भी होता है। जैसे दाल और चावल के सम्बन्धसे खिचड़ी होती है, उसका स्वाद न चावलका है, न दालका है। एवं हल्दी चूनामें दोनोंका एक तृतीय रङ्ग हो जाता है। यद्यपि चूना हल्दी पृथक् पृथक् हैं परन्तु दोनोंका रङ्ग लाल है।

(२१, २०, १३१३१५१)

२ जिस पदार्थमें चाहे वह चेतन हो, चाहे अचेतन हो, जो गुण और पर्याय रहते हैं, वे गुण और पर्याय उसीमें तन्मय होकर रहते हैं। इतना अन्तर है कि गुण तो अन्वयरूपसे बराबर

सामान्यरूपसे निरन्तर द्रव्यमें तादात्म्य सम्बन्धसे रहता है और पर्याय क्रमवर्ती होती है। वे व्यतिरेकरूपसे रहती हैं। उनका उस कालमें द्रव्यके साथ तादात्म्य रहता है। स्वामीकुन्द कुन्द महाराजने कहा है—

"परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं होदि।"

जैसे आत्मामें चेतना गुण है, और मति, श्रुति, अवधि, मन पर्यय यह उसकी पर्यायें हैं। चेतना अन्वयी है और ये पर्यायें क्रमवर्ती हैं। पर्याय क्षणभगुर है, और गुण नित्य हैं। यदि पर्यायोंसे भिन्न गुण न माना जावे तब एक पर्यायका भङ्ग होनेपर जो दूसरी पर्याय होती जाती है वह बिना उपादानके कहाँसे उत्पन्न होगी? अतः मानना पड़ेगा कि पर्यायका कोई आधार है। जो आधार है उसीका नाम गुण है और उसका जो विकार है वही पर्याय है। जैसे आम प्रारम्भमें हरा होता है काल पाकर वही पीला होजाता है तब यह देखा जाता है कि आमका रूप प्रागवस्थामें हरित पर्यायका आश्रय था वही काल पाकर पीत होगया। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो आमका रूप हरित अवस्थासे पीत अवस्थामें परिवर्तित हुआ इसीका नाम उत्पाद और व्यय है।

(४।१।५१)

२. धर्म वह वस्तु है जो आत्माको संसार बन्धनसे मुक्त करदेता है। उसके बाधक पाप और पुण्य हैं। सबसे महान पाप मिथ्यात्व है, इसके उदयमें जीव अपनेको नहीं जानता। परपदार्थोंमें आत्मीयताकी कल्पना करता है। कल्पना ही नहीं उसे स्वरूपमें अपना स्वरूप मानता है। शरीर पुद्गल परमाणु-पुञ्जका एक पुतला है। उसको आत्मा मान बैठता है और अहर्निश उसकी रक्षामें व्यग्र रहता है। यदि कोई कहे—"भाई! शरीर

तो अनित्य है, इसके अर्थ इतने व्यग्र क्यों रहते हैं? कुछ परलोककी भी चिन्ता करो।" तब तत्काल उत्तर मिलता है—'न तो शरीरातिरिक्त कोई आत्मा है और न परलोक है, यह तो लोगोंको ठगनेके लिये ऋषि, आचार्य और पण्डितजनोंने एक मूर जाल बना रक्खा है। सच यह है जो चार्वाकलोग कहते हैं—

"यावज्जीव सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत॥
न जन्मन. प्राड् न च पञ्चतापा,
परो विमिश्रोऽव्यये न चान्त।
निशान्ततिर्यङ् न च दृश्यतेऽस्मात्,
भिन्नो न देहादिह कश्चिदात्मा॥

जबतक जीवन है सुखसे जिओ, ऋण भी क्यो न लेना पड़े परन्तु घी अवश्य पिओ। मर जानेके बाद क्षार हुआ शरीर फिर नहीं लौटता। पृथिवी जलादिका समुदाय ही एक आत्मा है। जैसे गेहूं आदि सड़कर एक मादक शक्तिको उत्पन्न कर देते हैं वैसे ही एक जीव हो जाता है। शरीरसे अतिरिक्त जीव कोई पदार्थ न तो जन्मसे पहिले और मरणके पश्चात् किसीने कभी देखा है और न सुना है।

यह है चार्वाकका वह शरीर पोषक सिद्धान्त जिसमें आत्माके पोषणके लिये कोई सुविधा आवश्यक नहीं समझी गई है। सोचिये तो सही जब कि इस नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये यह भौतिक भोजन प्राप्त करनेके लिये न्याय अन्याय सभी करनेको तत्पर रहते हैं, तब अविनाशी आत्माकी रक्षाके लिये ज्ञान दर्शनका

भाजन प्राप्त करनेके हेतु हमें न्यायपूर्ण सभी प्रयत्न करनेमें अपना समय क्या नहीं लगा देना चाहिये ?

(२५ । १ । ५१)

४ आत्मकल्याणके लिये जो व्यक्ति तत्पर होना चाहते हैं उनसे तो यही कहना है कि जो काम करो उससे ममता त्याग कर ही कार्य प्रारम्भ करो। निजमें अहङ्कार न आने दो। संसारमें वही मनुष्य अधिकतर दुःखका भाजन होता है जो किसी कार्यका कर्ता बनता है। जो कर्ता बनता है वह भोक्ता नियमसे होता है क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व यह दोनों अविनाभावी धर्म हैं। कर्ता बनना ही अज्ञानमूलक है। जिस समय जो कार्य होता है वह उपादान और निमित्तसे होता है। उपादान और निमित्त दोनों ही कार्य उत्पत्तिमें सहकारी हैं। उपादान तो एक होता है, और सहकारी अनेक होते हैं। पूर्व पर्याय सहित द्रव्य तो उपादान कारण होता और उत्तर पर्याय संयुक्त द्रव्य कार्य होता है। न केवल द्रव्य कारण है, न केवल पर्याय कारण है। अपितु पूर्व पर्याय सहित द्रव्य ही कारण है। पूर्व पर्यायका जब अभाव होता है उसी समय उत्तर पर्यायका उत्पाद होता है। द्रव्य अन्वयी रूपसे जो पहिले था वही उत्तर कालमें है। यदि पर्यायकी विवक्षाकी जावे तब असत्पर्यायका ही तो उत्पाद होता है। द्रव्य दृष्टिसे विचार किया जावे तो न तो उत्पाद है और न विनाश है। सामान्य रूपसे न तो कोईका उत्पाद है, और न विनाश है, पर्याय दृष्टिसे उत्पाद विनाश दोनों ही होते हैं।

(२७ । १ । ५१)

५ यह आत्मा यदि रागादि दोषोंसे मुक्त हो जावे तब परमात्मा सदृश हो सकता है। सद्धर्मका सिद्धान्त है कि सादृश अस्तित्व एक होने पर भी स्वरूपसे पदार्थोंका अस्तित्व भिन्न-भिन्न

होता है। सभी मनुष्य सामान्यतया एक सदृश होने पर भी स्वरूप अस्तित्वसे भिन्न भिन्न हैं। ऐसा सिद्धान्त अनेक विवादोंकी शान्तिका साधक होता है।

(१९। ११५१)

६—"आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

अपनी आत्माके प्रतिकूल पड़नेवाले कोई भी कार्य दूसराके प्रति मत करो, अथवा ऐसी प्रवृत्ति करो जो अन्यका इष्ट है, तुम्हें भी इष्ट है, जीवमात्रको यही इष्ट है। चेतना स्वभाव सभीमें विद्यमान है, उसके द्वारा ही यह जीव आत्म और परका जानता है उसका स्वभाव ही जानना देखना है। जो स्वको जानता है उसे दर्शन कहते हैं और जो परको जानता है उसको ज्ञान कहते हैं। आत्मामें एक चेतन गुण है उसमें दीपकके सदृश स्वपराव भासकत्व है। इससे अतिरिक्त जितने गुण हैं व सब निर्विकल्प हैं। ज्ञान ही ऐसा गुण है जो विकल्पवान् है। विकल्पका अर्थ है अर्थको अवभास करे। यह गुण ही आत्मा और परका अवभास करता है। चैतन्यका चमत्कार ही आत्माका अस्तित्व बनाये है। इसकी महिमासे इस जगत्की व्यवस्था बन रही है। इसीसे कहा है—

"नमस्तस्यै सरस्वत्यै विमलज्ञानमूर्तये।
विचित्रता लोकयात्रेयं यत्प्रसादात् प्रवर्तते॥"

उस विमल ज्ञानकी मूर्ति सरस्वतीके लिये नमस्कार हो जिसके प्रसादसे संसारकी यह विचित्र यात्रा आनन्द समाप्त होती है। इसीसे गुरुको नमस्कार किया है क्योंकि गुरु ही अज्ञानान्धकारका नाशकर ज्ञानका विकास कराते हैं।

२०। ११

७ मोक्षमार्गकी सरल पद्धति है, उसको इतना दुरूह बना लिया है कि प्रत्येक प्राणी सुनकर भयभीत हो जाता है। धर्म जब आत्माकी परणति है तब उसको इतना कठिन दिखाना क्या शुभ है ?

(११ । ३ । ४९)

८ मोक्ष आत्माकी सरल परिणतिको कहते हैं। उसके अर्थ जितने प्रयत्न हैं यदि उसका लाभ न हुआ तब सब व्यर्थ है।

(१३ । ६ । ४९)

९ परीषह सहन करना तप है। आत्माकी अचिन्त्य सामर्थ्य है, अचिन्त्य सामर्थ्यका अर्थ यह है कि यदि इसका अभिप्राय निर्मल हो तब अनायास ही यह आत्मा संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है।

(२४ । ६ । ४०)

१० आत्मासे कुछ भी याञ्चा न करो, बल्कि आत्माको शुद्ध रहने दो। द्रव्यसे तो शुद्ध है ही, पर्यायकी शुद्धता बिना संसार बन्धन छूटना कठिन है। पर्यायकी शुद्धिका मूल कारण रागद्वेषका परित्याग ही है। रागद्वेषकी उत्पत्तिमें परज्ञेय कारण पड़ते हैं अतः पर पदार्थोंका सम्पर्क त्यागो। यद्यपि पर पदार्थ बन्धके जनक नहीं फिर भी बन्ध कारणमें विषय पड़ते हैं।

(२ । ८ । ४९)

११. उचित यह है कि संसारके प्राणी मात्र पर दया करो। हमलोग आवेशमें आकर संसारके प्राणियोंका नानाप्रकारसे निग्रह करते हैं। जो अपने प्रतिकूल हुआ उसे अपना शत्रु और जो अनुकूल हुआ उसे अपना मित्र मान लेते हैं। "वास्तवमें न तो कोई मित्र है, न शत्रु" यदि यह भावना निरन्तर रहे तो कालान्तरमें मुक्ति हो जाय।

(३० । ९ । ४९)

१२ यह सब चाहते हैं कि येनकेन उपायेन ससार बन्धन से छूटें। इसके अर्थ महान् प्रयास करते हैं। सर्वांगसे अधिक त्यागियों और पण्डितोंकी सुश्रूषा करते हैं। यही समझते हैं कि त्यागी और पण्डितोंके पास धर्मकी दुकान है। उनका जितना आदर सत्कार करेंगे उतना ही हमको धर्म लाभ होगा। किन्तु होगा क्या? सो कौन कहे। 'फूटी ढेरी ऊँट पुजारी' वाली बात है।

(१२ । ११ । ५६)

१३ जिनके विचारोंमें मलिनता है उनके कोई भी व्यापार लाभप्रद नहीं। सभी चेष्टाएँ ससार बन्धनसे मुक्त होनेके लिये हैं परन्तु मनुष्योंके व्यापार ससारमें फँसनेके ही लिये हैं। व्यापार का प्रयोजन पञ्चेन्द्रियोंके विषयसे है।

(२१ । ११ । ५६)

१४ चरणानुयोगके सिद्धान्त अटल हैं, उनका तात्पर्य यही है कि पर पदार्थोंसे ममता हटाओ। हमलोग उन पदार्थोंको त्यागकर प्रसन्न हो जाते हैं कि हमने बहुत ही उत्तम कार्य किया। परमार्थसे विचार करो—"जो पदार्थ हमने त्यागे वे क्या हमारे थे?" तब आप यही कहेंगे वे हमसे भिन्न थे तब आप जो उनको आत्मीय समझ रहे थे, यही महती अज्ञानता थी। यावत् आपको भेद ज्ञान न था उन्हें निज मान रहे थे यही अनन्त संसारके बन्धनका मान था। भेद ज्ञान होनेसे आपकी अज्ञानता चली गई फिर यदि आप उन पदार्थोंको दानकर फल चाहते हैं तब दूसरेको अज्ञान बनानेका ही प्रयास है और तुम स्वय आत्मीय भेद ज्ञान को मिटानेका प्रयत्न कर रहे हो अत यह आदानकी पद्धति है अल्पज्ञानियोंके लिये है भेद ज्ञानवाले तो इससे तटस्थ ही रहते हैं अत दान लेने-देनेका व्यवहार छोड़ो, वस्तुका विचार करो,

आत्माका ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है, उसमें विकार न आने दो। विकारका अर्थ यह कि ज्ञानदर्शनका कार्य जानना देखना है, उसे मोह रागद्वेष से कलुषित मत करो। इन्हींका नाम मोक्ष है। जहां राग द्वेष-मोह है वहां संसार है। जहां संसार है वहीं बन्धन है, जहां बन्धन है वहीं पराधीनता है।

(५।१।५१)

१४ हम निरन्तर इस प्रकारकी चेष्टा करते हैं कि रागादि शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेवें परन्तु हम आजतक उनपर विजय प्राप्त न कर सके। इसका मूल कारण यही ध्यानमें आता है कि हमने अभीतक परमें निजत्व कल्पनाको नहीं त्यागा है। अतएव हम परसे अपनी प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा मान रहे हैं। जहां किसी व्यक्तिने कुछ प्रशंसा सूचक शब्दोंका प्रयोग किया हम एकदम प्रसन्न हो जाते हैं, निन्दा सूचक शब्दोंका प्रयोग किया तो अप्रसन्न हो जाते हैं। इसका मुख्य हेतु अभी हमने यही समझा है कि पर हमारा बुरा भला कर सकते हैं। संसारमें अधिकांश मनुष्य ईश्वरको ही कर्ता-धर्ता मानते हैं, 'स्वतन्त्र हम कुछ नहीं कर सकते' इसपर भी पूर्ण अमल नहीं। यदि कोई काम अच्छा बन गया तब अपनेको कर्ता मान लिया। यदि नहीं बना तब 'भगवानको यही करना था' बस फिर विचार नहीं। यदि इस विचारसे छूटे तब 'शुभाशुभ परिणामोंसे उपार्जित कर्मोंका प्रभाव है हम क्या करें? ऐसा ही होना था' ऐसा विश्वास औरोंका है। यदि इन भले मानवोंसे पूछिये वह कर्म कहांसे आये? तब उनका यही उत्तर है कि 'यह अपने कर्त्तव्यका फल है' इस प्रकार यह संसारकी प्रणाली चल रही है और चली जावेगी, मोक्षका होना अति कठिन है।

(११।१।५१)

१६ कर्तव्य पथपर चलने वाले ही संसारसे पार होते हैं।

(१५।१।५१)

१७ किसीसे मेल करनेके लिये राग और वियोग करनेके लिये द्वेषकी आवश्यकता है परन्तु मोक्ष एक ऐसा पदार्थ है जिसके लिये न राग आवश्यक है न द्वेष किन्तु उपेक्षा आवश्यक है। इसके लिये संसारके व्यवहारोंसे दूर रहना आवश्यक है।

(१०।११।४९)

१८ पर पदार्थोंकी परिणति बुरी-भली मानना ही मोक्ष मार्गसे परे जाना है। मोक्षमार्ग सरल है, उसके लिये बड़े-बड़े शास्त्र और बड़े-बड़े विद्वानोंके समागमकी अपेक्षा नहीं केवल अन्तरङ्ग कलुषताके अभावकी अपेक्षा है।

(१४।१।२९)

१९ सभी ग्रन्थोंका तात्पर्य कषाय क्षय करना है तथा कषायकी न्यूनता ही मोक्षमार्ग है।

(१८।१।५०)

२० कोई पदार्थ जब इष्ट-अनिष्ट न भासे, स्वकीय रागादि परिणाम ही को सुख और दुःखका कारण समझे। जब ऐसी सुमति आने लगे तब समझे कि अब संसारका अन्त होनेका शुभ अवसर आ गया।

(६।१।२६)

२१ परिग्रह कदापि मोक्षमार्गका साधक नहीं। परिग्रहका त्याग किये बिना बाह्यमें नाना प्रकारकी तीर्थ यात्राएँ आदि करनेसे कल्याणका भागी नहीं हो सकता। जैसे राजाकी आज्ञा है कि हिंसादिक पांच पापोंका करनेवाला दण्डका भागी होगा। अतः कोई मनुष्य इन पांच पापोंसे विरक्त हुए बिना राजाकी सेवा सुश्रुषाकर दण्डसे नहीं बच सकता। इसी तरह संसार नाशके जो

उपाय बतलाये गये हैं उनको उपयोगमें लाये बिना निरन्तर परमात्माके स्मरण मात्रसे कोई भी व्यक्ति संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता।

(७।९।३९)

२२ अधिकांश मनुष्य केवल मनोरथ मात्रसे संसार बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं परन्तु पानीका स्पर्श किये बिना तैरना सीखने जैसी उनकी यह क्रिया हास्यास्पद ही है। संसार बन्धनसे मुक्त होनेका उपाय तो यह है कि आगामी विषयोंमें प्रेम मत करो।

(२५।५।४०)

२३ संसारमें इस लोकेषणाने ही हमको आत्मतत्त्व उठने से रोका। क्या मोक्षमार्ग कोई अमूल्य और दुर्लभ वस्तु थी? हमारी ही अज्ञानता उसे आकाशकुसुम बनाये है। तिलकी ओट पहाड़ है।

(११।७।४०)

२४ जो अव्यवस्थित है वह मोक्षमार्गका अधिकारी नहीं। ऐसे मनुष्योंके साथ सम्पर्क रखना आत्माको गर्तमें डालनेके सदृश है।

(१६।६।४४)



सच्ची श्रद्धा

१ विशेषता तो इसका नाम है कि संसारको असार जान उससे विरक्त हो परन्तु विरक्तता तो दूर रही हमारे बन्धुवर्ग श्रद्धानसे भी वञ्चित रहते हैं। श्रद्धान गुण वह वस्तु है जिसके होनेसे यह जीव आपसे आप संसारके पदार्थोंसे उदासीन हो जाता है।

(२६।५।४६)

२ श्रद्धा आत्माका अपूर्व गुण है, इसके होनेसे सभी गुण सम्यक् हो जाते हैं। इसकी महिमा अचिन्त्य है। इसके होनेपर ज्ञान सम्यक् और मिथ्या चारित्र अविरत शब्दसे व्यवहार होने लगता है।

(२८।५।४९)

३ शान्तिका मूल उपाय श्रद्धा है। यथार्थ श्रद्धाके बिना शान्तिकी आशा करना पानीसे घी निकालनेके सदृश है।

(३।१।४९)

४ श्रद्धाका यथार्थ होना ही संसार सागरसे पार उतारनेका कारण है। संसार कोई वस्तु नहीं केवल अपनी श्रद्धाकी विपर्यता है।

(१७।१२।४९)

५ जिनके सत्य श्रद्धा है, तथा सम्यग्ज्ञान है वह काल पाकर मोक्षके भागी हो सकते हैं किन्तु जिन जीवोंने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं किया, केवल आचरणके ऊपर दृष्टि है वे

जीव विभ्रम वालेके सदृश आत्म-कल्याणके भागी नहीं हो सकते।

(१२।८।५०)

६ जो भी कार्य श्रद्धापूर्वक किया जाता है उसीका समीचीन फल लगता है। अश्रद्धाके द्वारा जो काम किया जावेगा उसका भी फल होगा परन्तु तात्पर्य यह है कि जैसी भावना अभिप्रायमें होगी, बन्ध उसीका होगा। अत जिनकी भावना सत् श्रद्धासे सुवासित है वही संसारके बन्धनासे मुक्त होंगे। असद्भावना संसार बन्धनका कारण है।

(२७।११।५०)

७ सभी धर्मोंकी मूल जननी श्रद्धा है। यदि श्रद्धा नहीं तब उत्तर कालमें ज्ञान और चारित्र नहीं, और ज्ञान और चारित्रके अभावमें प्राय कुछ भी नहीं। अत जिन महानुभावोंको अपना सुधार करना हो उन्हें श्रद्धापूर्वक ज्ञान और चारित्रकी रक्षा करना चाहिये।

(२८।११।५०)

ज्ञान गुण राशि

१ ज्ञानकी महिमा अपार है, उसका जिसको स्वाद आ गया वह इन बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं करता। क्योंकि ज्ञान पदार्थ केवल जाननेवाला है। उसमें पदार्थ प्रतिभासित होता है अर्थात् पदार्थका परिणमन तो पदार्थमें है, ज्ञानमें पदार्थ नहीं आता, ज्ञानकी परिणति ही ज्ञानमें आती है।

(१८।४।४६)

२ निश्छल, निष्कपाय, निर्भीक, निरीह और नम्र विद्वानोंसे समाजकी महती शोभा है। यदि समाज इनकी प्रतिष्ठा करे तब अनायास ही धर्मका विकाश हो सकता है। क्योंकि ऐसे विद्वान् लोग धर्मके स्तम्भ हैं, इनसे ही धर्म मन्दिर सुरक्षित रह सकता है।

(१९।४।४९)

३ ज्ञानके बिना न तो हम सम्यग्दर्शनकी वन्दना कर सकते हैं और न चारित्र गुणकी ही।

(१९।४।४९)

४ समाजमें विद्वान् और व्याख्याता बहुत हैं, उत्तम भी हैं, किन्तु वे स्वय अपने ज्ञानका आदर नहीं करते। यदि वे आज ज्ञानका आदर स्वय करें, ससार स्वय मार्गपर आ जावे। अथवा न भी आवे तो स्वय का कल्याण होनेमें तो कोई सन्देह ही नहीं है।

(१६।६।४९)

५ क्षयोपशम ज्ञानका होना कठिन नहीं, किन्तु सम्यक् ज्ञान होना अति दुर्लभ है। इसका मूल कारण यह है कि हम

अनात्मीय पदार्थमें आत्मीय बुद्धि मान रहे हैं। आजतक न कोई किसीका है, और न था, न होगा, फिर भी हम अन्यथा माननेमें नहीं चूकते। फल उसका अन्यथा ही है।

(२२।७।४९)

६ आगमाभ्यास भी उतना ही सुखद है जितना आत्मा धारण कर सके। बहुत अभ्यास यदि धारण शक्तिसे परे है तब जैसे जठराग्निके बिना गरिष्ठ भोजन लाभदायक नहीं वैसे ही यह अभ्यास भी लाभदायक नहीं प्रत्युत हानिकारक है।

(२६।९।४९)

७ शिक्षाके बिना उपदेशका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः सबसे पहिले हमको अपने बालकोंको शिक्षा देना चाहिये। बिना शिक्षाके हम अविवेकी रहते हैं। जो चाहे हमको ठग लेता है, हमारा चारित्र निर्माण नहीं हो पाता। हम अज्ञातावस्थाके कारण पशु कहलाते हैं। यद्यपि हम चाहते हैं कि संसारमें सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करें परन्तु ज्ञानके अभावमें कुछ नहीं जानते और सदा परके दास बने रहते हैं। ज्ञान आत्माका गुण है परन्तु कोई ऐसा आवरण है जिससे हमारा विकास रुका रहता है। शिक्षा-गुरु उस विकाशमें साधक बनते हैं। विकाशका जहाँ उदय होता है वह शिष्यका गुण है। परमार्थसे विचारो तब शिष्यके विचारों मे शिष्य सुबोध होता है। गुरु तो शब्दोंका उच्चारण करता है, उनका अर्थ तो शिष्य ही विचारता है।' मेरी धारणा यह है कि श्री तीर्थङ्कर भगवानके दिव्योपदेशका अर्थ श्रोतागण लगाते हैं, उसमें उपादान कारण श्रोतागण ही हैं।

(४।३।५१)

८ ज्ञानी होनेकी प्रत्येक प्राणीकी इच्छा है परन्तु परिश्रम से डरता है। परिश्रम से डरना और तत्त्वज्ञानका उपासक बनना

यह कितनी विरुद्ध कल्पना है? ऐसी ही जैसे कि तैरना आ जावे और पानीका स्पर्श न हो।

(२५।२।३९)

९ जैसे सूर्यका उदय पदार्थोंका प्रकाशक है, चाहे वह पदार्थ सुखद या दुःखद कुछ भी हों, यह प्राणियोंकी रुचिपर निर्भर है। इसी तरह ज्ञान पदार्थोंका प्रकाशक है, अच्छा बुरा रागीय कल्पना है।

(३०।३।३९)

१० ज्ञान वह वस्तु है जिसमें 'स्व' और 'पर' दोनों भासमान हों। किन्तु जब ज्ञानके साथ मोहका सम्बन्ध रहता है तब उस ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना होती है। यह कल्पना ही ज्ञानकी निर्मलताको ढकनेवाली है। जब इस कल्पनाका आवरण हट जाता है तब संसारके समस्त पदार्थ दर्पणकी तरह ज्ञानमें प्रतिभासित होने लगते हैं।

(१०, ११।४।३९)

११ ज्ञान आत्माका निजधर्म है। यही एक ऐसा गुण है जो अपनी और परायी व्यवस्थाको बनाए है। जबतक यह गुण अपने पुरुषार्थसे च्युत है तभी तक संसार है। अर्थात् पर पदार्थमें जबतक इस जीवकी इष्टानिष्ट कल्पना होती है तभी तक संसार बन्धन है। उस कल्पनाका उत्पादक यह गुण नहीं, उसकी जो कल्पना होती है उसका मूल तो मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनकी इतनी प्रबल महिमा है कि अपनेको अपना नहीं मानने देता।

(२५।२।४०)

१२ लौकिक प्रतिष्ठाके लिये यदि तुम ज्ञानादिकका अर्जन करते हो तो अर्जन करना न करनेके आमा-

का निज स्वभाव है, उसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि जो रागादिक ज्ञान गुणके घातक हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न करो। ज्ञान गुणमें पदार्थ प्रतिभासमान होते हैं यह उसकी स्वाभाविक स्वच्छता है। उसमें जो इष्टानिष्ट कल्पना है वही उसके स्वरूपके घातक हैं और वही दुःखके कारण हैं। जप तप संयम दान पूजा और परोपकार आदि जितनी क्रियायें हैं वह सब इसीकी निर्मलताकी साधिका हैं।

(४ । ४ । ४०)

१३ अज्ञानसे उपार्जित कर्मोंका नाश ज्ञानसे होता है। जैसे किसी मनुष्यको रस्सीमें साँपका भ्रम हो गया परन्तु जैसे ही वह इस अज्ञानके विपरीत "यह सर्प नहीं है" ऐसा ज्ञान प्राप्त करता है तुरन्त रस्सीमें साँपके भ्रमसे उत्पन्न होनेवाले भयसे मुक्त हो जाता है।

(१० । ४ । ४०)

१४ इस लोक में ज्ञानके सदृश और कोई भी पदार्थ पवित्र नहीं है। परन्तु ऐसा पवित्र ज्ञान प्राप्त करनेके लिये श्रद्धालु और संयमी होना परमावश्यक है।

(१८ । ४ । ४०)

१५ ज्ञानका लक्षण स्वपर व्यवसायी है, यह सिद्धान्त है। पर पदार्थको जाननेमें चाहे किसीको जाने, न जाने परन्तु अपने को नियमसे जाने। जैसे दीपक थोड़ी दूरके पदार्थ प्रकाशित करता है परन्तु अपना प्रकाश तो कर ही लेता है। अतः परका जानना तो एक तरहसे उपचार ही है, क्योंकि ज्ञानमें ज्ञेय जाता नहीं, केवल वह ज्ञान उस पदार्थके निमित्तसे जो अपनेमें परिणमन हुआ उसे जानता है। इसी तरहसे मिथ्या दृष्टिका भी ज्ञान है। जैसे कामला रोगी शंखको जानता है और उसे पीला दिखता है

तो क्या उसका ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं। यह नहीं कह सकते, केवल वह ज्ञान मिथ्या है इससे वह कहना है कि मेरे ज्ञानमें यह शंख पीला दीखता है, यदि वह ज्ञानको न जाने तब ऐसा कहना कि मेरे ज्ञानमें पीला शंख आया, नहीं बने और ज्ञानको जाना तब आपको भी जाना। जैसे क्या यह ज्ञान मिथ्यादृष्टिको नहीं होता कि मैं सुखी हूँ। सुखी वस्तु ही तो आत्मा है। इसीसे मेरी यह श्रद्धा है कि वह भी आत्माको जानता है और वह क्षयोपशम मनको होना चाहिये। अन्यथा आत्मा जड़ हो जावेगा।

(३०।११।४०)

१६ सुधारका मूलकारण ज्ञान है परन्तु उसके अनंतरा साधन नहीं।

(१५।१।४४)

१७ आत्मज्ञानकी, जिसने अवहेलना की वह मनुष्य होकर भी नर नहीं। नरका अर्थ है ससार बन्धनसे छूटनेकी जो चेष्टा करे। और जिनके आत्मज्ञान नहीं वे ससार बन्धनसे नहीं छूट सकते। ससार बन्धनसे दूर होनेका उपाय चारित्र है और चारित्र की सिद्धि सम्यग्ज्ञानाधीन है।

(१०।११।४४)

१८ ज्ञान निर्मल स्वच्छ दर्पणवत् है। जैसे दर्पणमें स्वभावसे ही घटपटादि प्रतिभासित होते हैं वैसे ही ज्ञानमें सहज ही सम्पूर्ण ज्ञेय झलकते हैं। अब दर्पणमें घटपटादि प्रतिबिम्बित होते अवश्य हैं तो क्या घटपटादि उसमें प्रवेश कर जाते हैं? नहीं, घटपटादि अपनी जगह पर हैं, दर्पण अपने स्वरूपमें है। केवल दर्पणका परिणमन उनके आकार हो गया है। तुमने दर्पणमें अपना मुह देखा तो क्या तुम दर्पणमें चले गए? यदि दर्पणमें चले गए तो यहाँ सूरत पर जो कालिमा लगी है, उसको वहाँ दर्पणमें क्या

नहीं मिटाते ? अपनी सूरत पर ■ कालिमाको मिटाते हो। इससे सिद्ध हुआ कि दर्पण अपनी जगह पर है, हम अपनी जगह पर हैं। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थमें प्रवेश नहीं करता। यह सिद्धांत है।

१९. ज्ञानका सहज स्वभाव ही स्व-पर-प्रकाशक है। जैसे दीपक अपनेको तथा परको दोनोंको जानता है। स्वभावमें तर्क नहीं चला करता। ज्ञान आत्माका एक विशेष गुण है। जैसे अग्नि और उष्ण दोनोंका अभेदपना है। एक आम है उसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ही है। कहा भी है स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः' इन चारोंका समुदाय ही तो आम है। अब किसी महान वैज्ञानिकको ले आइए और उससे कहो कि हमें इसमेंसे रूप रसको निकाल दो, क्या वह निकाल सकता है ? परन्तु ज्ञानमें यह शक्ति है कि इन्द्रियोंद्वारा पृथक्करण करके रूपको जाने, रसको जाने और स्पर्श को जाने।

२० ज्ञानमें अचिन्त्य शक्ति है। और वास्तवमें देखो तो ज्ञानके सिवाय कुछ है भी नहीं। मिश्री मीठी होती है, यह किसने जाना ? केवल, ज्ञानने पदार्थका बतला दिया कि मिश्री मीठी होती है। अब देखो ज्ञान ही का तो परिणमन हुआ। पर हम लोग ज्ञानको तो देखते नहीं और पदार्थों में सुख मानते हैं। हम मिश्रित ज्ञानका अनुभव करते हैं। कोई कहता है कि अच्छी दाल खानेमें अच्छी नहीं लगती। कैसे अच्छी लगे ? अरे मूर्ख, अनादि कालसे मिश्रित पदार्थोंका स्वाद लेता आ रहा है। अच्छी लगे तो कैसे लगे ? दालमें नमक भी है, मिर्ची भी है, खटाई भी है और घी भी डला हुआ है। पर मूर्ख प्राणी सोनोंका मिश्रित स्वाद ले रहा है और कहता है बड़ी बढ़िया बनी है। अब देखो नमक अपना स्वाद बतला रहा है, मिर्ची अपना स्वाद बतला

रही है और इसी प्रकार घी अपना स्वाद बतला रहा है और जिसके द्वारा यह जान रहा है उस ज्ञानका अनुभव नहीं करता। ज्ञेयानुभूतिमें ही सुख मानता है। यही अनादि कालसे अज्ञानकी भूल पड़ी है। ज्ञेयानुभूतिमें ही मगन हो रहा है, ज्ञानानुभूतिका कुछ भी पता नहीं। पर सम्यग्ज्ञानी ज्ञान और ज्ञेयका पृथक्करण करके ज्ञानको जो स्वाश्रित है उसे अपना समझ कर ज्ञेय जो पराश्रित है उसका त्याग कर देता है। वैसे देखो तो ज्ञेय ज्ञानमें कुछ घुस नहीं जाता। ऊपर ही ऊपर लौटता रहता है पर मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। पर सम्यग्ज्ञानी अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे निरन्तर शुद्ध ज्ञानका आस्वादन ही करता रहता है। वह ज्ञानमें किसी पर पदार्थका लेश मात्र भी प्रवेश नहीं चाहता। ज्ञानी जानता है मेरी आत्मामें ज्ञान लबालब भरा है। इस प्रकार वह ज्ञानमें ही उपादेय बुद्धि रखता है। पर बाबाजी स्वाश्रित और पराश्रित ज्ञानमें बड़ा अन्तर है। हमारा ज्ञान कौन कामका ? अभी आँखें बन्द करलो बताओ क्या दीखता है ? अच्छा, आँखें भी खुली हैं पर सूर्य अस्त हो जाय तब अन्धकारमें क्या दिखाए ? बताओ।

अत इन्द्रियजन्य ज्ञान किसी कामका नहीं। ज्ञान तो स्वाश्रित केवलज्ञान है जिसकी अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रज्वलित होती रहती है। हम ऐसी नित्यानन्दमयी ज्ञान-आत्माको विस्मरण कर परपदार्थोंके विषयोंमें सुख मानते हैं। उन्हीं सुखोंकी प्राप्तिमें सारी शक्ति लगा देते हैं। पर उनमें सुख है कहाँ ? परपदार्थके आश्रित जितने भी सुख हैं वे सब आकुलतामय हैं। मनमें भोगों-की आकुलता हुई तो विषयोंमें प्रवर्तन करने लग गए। रूपकी देखनेकी आकुलता मची तो सिनेमा चले गये। कानसे रेडियोसे गाने सुन लिए। रसनासे व्यञ्जनादिके स्वाद ले लिए। यह रूप

रस, गंध और स्पर्श के सिवाय और विषय हैं क्या चीज ? इन पुन पुन वही स्वाद ले लिया करते हैं जैसे कोल्हूका बैल जहाँ देखो वहाँ वही । और देखो, इन इन्द्रियजन्य विषयोंका कितनी देरका सुख है ? आसकी बूंदके समान । अत इन्द्रियाधीन सुख वास्तविक सुख नहीं । पर होते हैं वावाजी बड़े प्रबल । इनका जीतना कोई सामान्य बात नहीं है ।

(सागरमें किये गये प्रवचनके आधारसे)

स्वाध्याय

१ 'स्वाध्याय समान तप नहीं' इसका अर्थ यह है कि आत्मा जब वस्तुविचार करता है तब चित्तवृत्ति सब तरहसे रुक जाती है, केवल तत्त्व विचारमें लीन हो जाती है। उस समय अन्य चिन्ताओंके अभावमें स्वयमेव शान्तभावको प्राप्त हो जाती है।

(१६ । २ । ३६)

२ पञ्चेन्द्रियोंके विषयकी तृष्णा अशान्ति जनक है। रसादिकी प्रवृत्ति तृष्णा विशेषसे होती है। तृष्णाका निरोध स्वाधीन है, कषायोंका निग्रह भी स्वाधीन है, अन्यथा शास्त्र पढनेसे कोई पारमार्थिक लाभ नहीं। ज्ञान होना और बातहै, कषाय कृश करना अन्य है।

(५ । ३ । ४०)

३ अध्यात्म शास्त्र वह महती दिव्य ज्योति है जिसके द्वारा अन्तरतम निवृत्ति होकर स्वात्मतत्त्वके आलोकमें आत्माका प्रवेश होता है। कल्याणका निष्कण्टक मार्ग दिखाई देता है।

(२६ । ५ । ४०)

४ शास्त्र पढने का फल उसे अनुभवारूढ करना तथा जो आत्मा साक्षी दे उसमें प्रवृत्त हो जाना है।

(३ । ८ । ४०)

५ स्वाध्याय ही मुख्यतासे ज्ञानका वर्धक और वीतराग

भावकी उत्पत्तिका कारण है। जबतक स्वपरका ज्ञान न होगा तबतक परको त्यागना अति कठिन है।

(१०।९।४०)

६ आगम बड़े-बड़े महापुरुषोंके पवित्र हृदयोंके उद्‌गार हैं और उनके अनुभवसे जो कुछ निकला उसे हम माननेकी चेष्टा करते हैं। ठीक है, परन्तु अपने अनुभवमें उसके यथार्थपनेको तो लाना चाहिये। नहीं तो यह मानना केवल ऊपर दृष्टिसे रहा, अतत्त्व की साक्षीभूतसे न हुआ। मिश्री मीठी होती है अथवा, खानेवालेसे सुनकर मीठा माननेवालोंको शाब्दिक बोध होता है तात्त्विक जो मिश्रीका स्वाद है वह नहीं आता। अत इसकी चेष्टा करना चाहिये कि मिश्रीका जिह्वा इन्द्रियसे स्वय आस्वाद लिया जाय तब उसकी मधुरता पर विश्वास किया जाय।

(२।११।४०)

४ जो बात स्वाध्यायमें होनी चाहिये वह नहीं होती। उसका मूलकारण आत्मामें धीरता नहीं। इसका कारण मोहका प्राबल्य और अनादि कालका मिथ्यासस्कार ही है।

(११२।४१)

८ स्वाध्यायका जो कार्य है वह तो अज्ञान निवृत्ति है। पुस्तक बाच लेना अन्य बात है। उसके अनुकूल आत्मामें उसी रूपसे अज्ञानका हट जाना अन्य बात है।

(१०।८।४४)

९ ज्ञानवृद्धिमें मुख्य हेतु स्वाध्याय है। वह पॉच प्रकारका है। उनमें अनुप्रेक्षा स्वाध्याय बहुत ही महत्त्वका है। यही अनुप्रेक्षा परम्परासे मोक्षका कारण है, क्योंकि अनुप्रेक्षामें अभ्यास होनेसे

ध्यान होता है, ध्यान ही वस्तुका रागादिकोंकी कृशतामें कारण है।

(७ । १२ । ४४)

१० स्वाध्याय करना परम तप है। स्वाध्यायसे आत्मोन्नति होती है, स्वपर भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान ही संसारका मूलोच्छेद करनेवाला है क्योंकि संसारकी जड़ परमें निजत्व-कल्पना है। यद्यपि पर निज नहीं होता परन्तु ऐसी कल्पना न होना कठिन है। यद्यपि शङ्ख धवल होता है परन्तु जिनको कमला रोग हुआ है वे शङ्खको पीला ही देखते हैं।

एक मनुष्यकी स्त्री कृष्णवर्ण थी दैवयोगसे वह बाहर धनार्जन करने चला गया। विदेशमें जलवायुकी प्रतिकूलताके कारण कामला रोगग्रस्त होगया, अब विदेशसे घर आया तब स्त्रीको देखकर विह्वल हो पृथिवीपर गिर पडा और जो पड़ोसी थे उनसे कहने लगा—"भाइयो! यह स्त्री कौन है जो मेरे गृहकी स्वामिनी बनी है?

पडोसी ने कहा—"यह आपकी ही पत्नी है।"

कामला रोगी—"यह आपका विदित ही है कि मेरी स्त्री कृष्णवर्ण थी। यह तो केशर रङ्गवाली पीतवर्णा है। ऐसी सुन्दर स्त्री मेरे जैसे हतभाग्यकी नहीं हो सकती अत मैं आप लोगोंसे नम्र निवेदन करता हूं कि मुझे इस जालसे बचाइये।

पडोसी ने कहा—'भूलते हो मेरे भाई! यह स्त्री पीतवर्णा नहीं है, तुमको रोग होगया है इसीसे यह भ्रान्ति होरही है। चिन्ता न कीजिये। रोगनिवृत्तिके पश्चात् आप इसे अवश्य पहिचान लेंगे। यह तो अब भी काली है परन्तु कामला रोगके कारण आपको सत्य प्रत्यय नहीं होरहा है।"

कह देते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि उन्हें धर्मकी शिक्षा दी जाय। ऐसी शिक्षा जिसमें पाखण्ड न हो, छल न हो, धूर्तता न हो, पोंगापन्थ या धर्मके नामपर रूढ़िवादिता न हो।

(६ । ३ । ५१)

४ धर्मके पिपासु जितने ग्रामीण जन होते हैं उतने नागरिक मनुष्य नहीं होते। देहातमें भोजन स्वच्छ तथा दूध घी शुद्ध मिलता है। शाक बहुत स्वादिष्ट तथा जलवायु भी उत्तम मिलती है किन्तु शिक्षाकी कमीसे अपने भावोंको अभिव्यक्त नहीं कर पाते। यदि एक दृष्टिसे देखा जावे तो उनमें आधुनिक शिक्षाका प्रचार न होनेसे प्राचीन आर्यधर्ममें उनकी श्रद्धा है। तथा स्त्री समाजमें भी इस स्कूली और कालेजी शिक्षाके न होनेसे कार्य करनेकी कुशलता है। हाथसे पीसना, रोटी बनाना और अतिथिको दान देना आवश्यक समझती हैं। फिर भी शिक्षाकी आवश्यकता है। वह शिक्षा ऐसी हो जिससे मानवमें मानवता विकसित हो। यदि केवल धनोपार्जनकीही शिक्षा भारतमें रही तो अन्य देशोंकी तरह भारत भी परको हड़पनेके प्रयत्नमें रहेगा। और जिन विषयोंसे मुक्त होना चाहता है उन्हींका पात्र हो जावेगा।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

भारतमें विश्व बन्धुत्वकी भावनापूर्ण जो यह सिद्धान्त था वह बालकोंके हृदयमें शिक्षाद्वारा अङ्कित किया जाता था परन्तु अब तो जिनके बालक होते हैं उनके माँ बाप पहिले ही गुरुजीसे यह निवेदन कर देते हैं कि हमारे बालकको वह शिक्षा देना जिससे वह आनन्दसे रोटी खा सके। जिस देशमें बालकोंके पिता ऐसे विचारवाले हों वहाँ बालक वित्तोपार्जनकर परोपकार निष्णात होंगे, असम्भव है।

संयम

१ मनुष्य पर्यायमें मोक्षमार्गका साधक संयम होता है। यदि इस शुभावसरसे चूक जाओ तब मागरोंतक उस संयमकी योग्यता नहीं। संयम बिना संसारके नाशका उपाय नहीं अत संयमकी रक्षापूर्वक ही अपने मनुष्य जीवनको यापन करो। अन्य मनुष्योंकी प्रवृत्ति देखकर तद्रूप न होजाओ। अपने परिणामोंकी शक्ति देखकर ही उसका उपयोग करो।

(३०।८।४४)

२ संयमका पालन करो। अज्ञानावस्थामें जो भूल हो उसका प्रायश्चित्त करो। फिर आगे कभी वह भूल मत करो। संयमका पालना ही आत्महित है। संयमकी रक्षा करना कठिन है। भूख और प्यासका सहन करना कठिन नहीं। यदि अन्तरङ्गमें शान्ति है तब तृषा और क्षुधा कोई बाधक नहीं। और यदि अशान्ति है तब प्रथम तो सहना कठिन है साथ ही संयम और संयमीकी प्रतिष्ठा भी नहीं है।

(१७।५।४४)

३ मनुष्य जन्मकी सार्थकता इसीमें है कि स्त्री पुरुष संयमका पालन करें। [संयमके पालन करनेवाले इस लोक और परलोकमें आनन्दके पात्र होते हैं।

(५।७।४४)

४ मनुष्य जन्ममें संयमकी महती आवश्यकता है। संयम कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे हम प्राप्त न कर सकें। इन्द्रियोंके द्वारा

विषयोंका अनुभव होता है तो होने दो परन्तु विषयोंमें रागबुद्धि न हो यही संयम धारण करनेका मुख्य उपाय है।

(१८।८।४४)

५ नारकों और देवोंमें तो संयमही नहीं, तिर्यञ्चोंमें संयम नहीं, केवल देशसंयम है परन्तु जितनी योग्यता मनुष्योंमें है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे नरजन्मको पाकर संयमको न पालना समुद्रसे निकले मोतियोंको फिर उसीमें फेंकदेना है।

(६।११।४४)

६ मानव जीवनकी सार्थकता संयम पालनेमें है। केवल बाह्य आचरणोंसे कुछ विशेष लाभ नहीं। लाभ तो आत्मामें शान्ति होनेसे है।

(३।११।४४)





संसार के कारण

संसार के कारण

१ अनादि कालसे आत्मा वास्तविक आत्माको नहीं जानता। इसीसे परको आत्मा मान अनन्त संसारका पात्र बन रहा है। इसी परिभ्रमण परम्परासे चतुर्गति संसारमें नाना जन्म मरण सम्बन्धी दुःखोंका भोक्ता होरहा है। विपर्यय ज्ञानसे निर्भीक सुख नहीं हो सकता, क्योंकि जबतक मिथ्या कल्पना है तबतक सुख काहे का?

२ जिन जीवोंने सद्भावसे आकर आत्मतत्त्वकी अवहेलना की वे जीव संसारके ही पात्र हैं। आत्मतत्त्व निर्विकल्प है, परपदार्थके निमित्तसे उसमें अनेकता आती है, यह अनेकता ही संसारकी जननी है। अनेकताहीमें परको अपनानेकी चेष्टा है। इस चेष्टासे हाथ कुछ भी नहीं आता, चन्द्रमाके प्रतिबिम्बको पकड़ने की चेष्टामें चन्द्रमा नहीं पकड़ा जाता।

(१०।३।३०)

३ जगतमें सदा वैभाविक परिणाम रहेगा। जिसका वैभाविक परिणाम मिट गया उसका जगत मिट गया।

(१६।६।२९)

४ 'संसारमें दुःख सिवाय सुख नहीं' यह कहना सामान्य मनुष्योंको मार्गपर लगानेके लिये है। दुःखका मूलकारण मिथ्या भाव है। इसके संसर्गसे ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्या चारित्र कहलाता है। और यही संसारका कारण है।

(५।७।३०)

५ परकी कथा सुनना रागद्वेषकी जननी है। अनुकूलमें हर्ष, प्रतिकूलमें विषाद, तथा उसी प्रकारकी धारणा होकर कालान्तरमें उसीकी उत्पादक होती है। जो मनुष्य वर्तमानमें जैसी परिणति करेगा कालान्तरमें उसीके अनुसार बन्ध होकर संसारका पात्र होगा।

(३० । ७ । ३६)

६ आत्माकी शुद्धावस्थाका जो विकाश नहीं होने देता उसीका नाम संसार है। संसार नाम पुद्गल द्रव्यका नहीं, क्योंकि वह तो जड है। जडमें नाना दुःखोंकी उत्पत्ति नहीं होती।

(१० । १० । ३६)

७ मङ्गलमय आत्माको अमङ्गलकारी बनाकर हम संसार यातनाके पात्र बन रहे हैं। अमङ्गल क्या वस्तु है ? जो आत्मामें रागादि परिणामोंके निमित्तसे अनेक तथा बहुविध आकुलताएँ उत्पन्न होती हैं वही तो अमङ्गल है। अनादि कालसे हमारी इतनी कुवासनाएँ बन गई हैं कि रातदिन परपदार्थोंके विचारमें नाना प्रकारके इष्टानिष्ट कल्पना जालमें अपने आपको रेशम कीटकी तरह फँसा लेते हैं जिससे कि अन्तमें नहीं मरणके पात्र बनते हैं।

(९ । १ । ४०)

८ सबको प्रसन्न करनेका अभिप्राय संसारका कारण है। संसारका मूलकारण आप और आपही मोक्षका कारण हैं। निर्विकार स्वरूपकी प्राप्तिके विनाही यह संसार है।

(२५ । ३ । ४०)

९ पराई वस्तुकी चाह करनेके समान अन्य पाप नहीं। अपराध नहीं। इसी पाप और अपराधसे आत्मा अनन्त संसारका पात्र होता है।

(१ । ५ । ४०)

संसारका नाम अति कष्टदायक है जिसके श्रवणसे अच्छे अच्छे पण्डित, साहसी और पराक्रमी भी कम्पायमान होजाते हैं। परमार्थसे संसार है क्या? यही तो कि वह केवल आत्माकी विभाव परिणति है, उसे हम रखनेकी चेष्टा करते हैं, इसीसे दु:खके पात्र होते हैं।

(६।५।४०)

१० यह एक मानी हुई बात है कि जितने विकल्प आत्मामें होते हैं वे सब अनात्मीय हैं। अनात्मीय वस्तुको अपना मानना मिथ्याज्ञान है, मिथ्याज्ञानका फल अनन्त संसार है। जबतक इस मिथ्याज्ञानका उदय रहता है तबतक आत्मा अपने स्वरूपको नहीं समझता। और अपने स्वरूपको समझे बिना पर सम्बन्धी ममता नहीं छूटती और परकी ममतामें चोरोंकी तरह संसार कारागारका पात्र होता है।

(१०।६।४०)

११ सब कोई अपनेको संसार बन्धनसे छुड़ाना चाहते हैं। और उनका विपुल प्रयास भी इस विषयमें रहता है परन्तु प्रयास अन्यथा रहता है। यहाँतक लिखा जावे जो कारण संसार बन्धनके हैं उन्हींको मोक्षमार्गका साधन मान रखे हैं।

(२०।१२।४०)

कषाय

१ वह पुण्य भी नहीं जहाँ कषायोंकी तीव्रता रहती है। जिस कार्यके करनेसे अन्तमें कलुषताका उदय हो वह संसारमें ही सुखका उत्पादक नहीं, मोक्ष सुखको कैसे दे सकेगा? अर्थात् जिस तीव्र कषायके द्वारा पुण्यहीकी प्राप्ति दुर्लभ है उस तीव्र कषाय द्वारा मोक्षमार्ग हो यह अत्यन्त असम्भव है। तीव्र कषायी जीवका मनुष्य भी जब आदर नहीं करते तब उसका देव क्या आदर करेंगे?

(१८ । ३ । ३९)

२ परके अनिष्ट करनेका भाव क्रोध है। यह आत्माकी निकृष्ट परिणति है। इसीके निमित्तसे आत्मा संसारमें दुःखी होता है। यदि जीव आपको आप समझे, तथा 'कोई भी शक्ति संसारमें ऐसी नहीं जो हमारा बिगाड़ कर सके' ऐसी श्रद्धा होजावे तब अनायास परके प्रति क्रोध न हो।

(१६ । ३ । ३१)

३ जबतक यह कषाय अन्तरङ्गमें रहेगी तबतक बाह्य प्रवृत्ति मोक्षमार्गकी साधक नहीं, प्रत्युत दम्भपोषक ही है। कषायोंके छिपानेके लिये जो प्रयास है वह माया कषाय है। और वह मोक्षमार्गका प्रबल शत्रु है।

१८ । ३ । ३९)

४ इतनी कलुषता आत्माके अन्दर अनादि कालसे अभेद रूप हो रही है और नाना प्रकारके स्वांग करा रही है। इन स्वांगोंमें कई स्वांग तो इतने भयानक हैं कि आपको दुःखरूप तथा अन्यको

भी दुःखरूप ही हैं। जैसे जब आत्मा क्रोधरूप होता है तब आपको तो दुःखदायी है ही किन्तु परको भी पीडाका निमित्त होता है।

(१९।३।३९)

८ कषायके कारण जब अन्तरङ्गमें और बाह्य प्रवृत्तिमें कुछ और ही व्यवहार होता है तब उसे अभद्र तथा अपवित्र व्यवहार कहा जाता है। इसे ही दम्भाचार या मायाचार भी कहा जाता है। ऐसे आचरणवाला व्यक्ति मोक्षमार्गका पथिक नहीं होसकता।

२५।५।३९)

९ कषाय आत्माकी विकृतावस्था और चारित्र गुणका विकार है। इसके परिणमन चार तरहके हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

जब हमें क्रोध होता है तब हम अन्य पदार्थोंको जो हमें अनिष्टकर प्रतीत होते हैं नाश करनेकी चेष्टा करते हैं। चाहे वे नाश हों, न भी हों परन्तु हमारे भाव उनका अभाव करनेके हो ही जाते हैं।

मान कषायके उदयमें जगतके जीव तुच्छ दीखते हैं। 'हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं।' ऐसा मान होता है। इस भावनासे दूसरोंको तुच्छ समझ उन्हें झुकाना चाहते हैं, भले ही वे झुकें, न झुकें परन्तु उन्हें नीचा दिखानेके भाव होते हैं।

माया कषायके उदयमें हृदयकी गति वक्र होजाती है। स्वाभाविक सरलताको छोड़ दुनियाको अपने छल कपटसे ठगनेकी भावना होती है। भले ही वह ठगाई जाय, न ठगाई जाय परन्तु उसकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी चेष्टा की जाती है।

लोभ कषायके उदयमें सञ्चित सुख साधनोंको भी उपयोगमें लानेके भाव नहीं होते। उदारता जब अपने प्रति भी नहीं होती

कषाय

१ वह पुण्य भी नहीं जहाँ कषायकी तीव्रता रहती है। जिस कार्यके करनेसे अन्तमें कलुषताका उदय हो वह संसारमें ही सुखका उत्पादक नहीं, मोक्ष सुखको कैसे दे सकेगा ? अर्थात् जिस तीव्र कषायके द्वारा पुण्यहीकी प्राप्ति दुर्लभ है उस तीव्र कषाय द्वारा मोक्षमार्ग हो यह अत्यन्त असम्भव है। तीव्र कषायी जीवका मनुष्य भी जब आदर नहीं करते तब उसका देव क्या आदर करेंगे ?

(१८ । ३ । ३९)

२ परके अनिष्ट करनेका भाव क्रोध है। यह आत्माकी निकृष्ट परिणति है। इसीके निमित्तसे आत्मा संसारमें दुःखी होता है। यदि जीव आपको आप समझे, तथा 'कोई भी शक्ति संसारमें ऐसी नहीं जो हमारा बिगाड़ कर सके' ऐसी श्रद्धा होजावे तब अनायास परके प्रति क्रोध न हो।

(१९ । ३ । ३१)

३ जबतक यह कषाय अन्तरङ्गमें रहेगी तबतक बाह्य प्रवृत्ति मोक्षमार्गकी साधक नहीं, प्रत्युत दम्भपोषक ही है। कषायके छिपानेके लिये जो प्रयास है वह माया कषाय है। और यह मोक्षमार्गका प्रबल शत्रु है।

(१८ । ३ । ३९)

४ इतनी कलुषता आत्माके अन्दर अनादि कालसे अभेदरूप होरही है और नाना प्रकारके स्वांग करा रही है। इन स्वांगोंमें कई स्वांग तो इतने भयानक हैं कि आपको दुःखरूप तथा अन्यको

भी दुःखरूप ही हैं। जैसे जब आत्मा क्रोधरूप होता है तब आपको तो दुःखदायी है ही किन्तु परको भी पीड़ाका निमित्त होता है।

(१९।३।२९)

५. कषायके कारण जब अन्तरङ्गमें और बाह्य प्रवृत्तिमें कुछ और ही व्यवहार होता है तब उसे अभद्र तथा अपवित्र व्यवहार कहा जाता है। इसे ही दम्भाचार या मायाचार भी कहा जाता है। ऐसे आचरणवाला व्यक्ति मोक्षमार्गका पथिक नहीं हो सकता।

२७।५।२९)

६. कषाय आत्माकी निकृष्टावस्था और चारित्र गुणका विकार है। इसके परिणमन चार तरहके हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

जब हमें क्रोध होता है तब हम अन्य पदार्थोंको जो हमें अनिष्टकर प्रतीत होते हैं नाश करनेकी चेष्टा करते हैं। चाहे वे नाश हों, न भी हों परन्तु हमारे भाव उनका अभाव करनेके हो ही जाते हैं।

मान कषायके उदयमें जगतके जीव तुच्छ दीखते हैं। 'हम ही सर्वश्रेष्ठ हैं।' ऐसा मान होता है। इस भावनासे दूसरोंको तुच्छ समझ उन्हें झुकाना चाहते हैं, भले ही वे झुकें, न झुकें परन्तु उन्हें नीचा दिखानेके भाव होते हैं।

माया कषायके उदयमें हृदयकी गति वक्र हो जाती है। स्वाभाविक सरलताको छोड़ दुनियाको अपने छल कपटमें ठगनेकी भावना होती है। भले ही वह ठगाई जाय, न ठगाई जाय परन्तु उसकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी चेष्टा की जाती है।

लोभ कषायके उदयमें सञ्चित सुख साधनोंको भी उपयोगमें लानेके भाव नहीं होते। उदारता जब अपने प्रति भी नहीं होती

नन परके प्रति तो होगी ही कैसे ? संसारकी सम्पत्तिको अपनी बनानेका प्रयास होता है चाहे वह न्याय अन्यायसे कैसे भी हो।
(१५।८।३९)

७ क्रोधादि कषायोंके उद्वेगसे नाना अनर्थ होते हैं और उनका फल भी अत्यन्त भयावह एवं दुःखकर होता है। उनके सद्भावसे आत्मामें निरन्तर अनेक प्रकारकी आधि व्याधि बनी रहती है जिनके कारण हमें स्वप्नमें भी चैन नहीं मिलता। उनको यह दूर करनेकी चेष्टा करे यह भाव दूर हो सकते हैं परन्तु यहाँ तो ऐसा भाव आत्मामें बैठा हुआ है कि यदि मैं इन विभावोंको दूर कर दूँगा तो मेरी मानमर्यादा सब चली जायगी। यह अज्ञात अवस्थामें असाध्य रोग है। हम इसकी जो भी चिकित्सा करते हैं वह सब इसके विरुद्ध है। हम जिन बाह्य पदार्थोंके निमित्तसे क्रोधादि कषायरूप परिणमते हैं उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करते हैं। जैसे हम घरके माता, पिता, पुत्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव आदि जो भी राग होनेमें निमित्त हो सकते हैं उनको त्यागकर शान्ति चाहते हैं परन्तु होता है इसके विपरीत ही। अर्थात् परिमित आदमियोंको छोड़कर अपरिमित आदमियोंके बन्धनमें फँस जाते हैं। घर तो परिचित व्यक्ति थे, उन्हींका प्रकृतिके अनुकूल प्रवृत्ति करनेसे कभी शान्तिका भी आनन्द आ जाता था। परन्तु यहाँ तो अहर्निश अपरिचितोंके अनुकूल प्रवृत्ति करते करते जन्म जाता है। घरके त्यागसे त्याग नहीं होता, त्याग होता है इन विषय कषायोंके त्यागसे, अभ्यन्तरकी मूर्च्छाके त्यागसे। परन्तु इस ओर हमारा लक्ष्य नहीं।
(१८।९।५०।८।४०)

८ आजकल मनुष्य अपनेको उत्तम और अन्यको जघन्य माननेकी चेष्टा करते हैं। इसमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं प्रत्युत

हानि ही है, परन्तु कषायके आवेगमें यही होता है। आत्माका अकल्याण इसी कषायसे होता है। जिसने इसपर विजय प्राप्त की वही नर है।

(२२।९।४४)

[illegible] यह मूढ़ जीव बाह्य प्रशंसामें आत्मगौरवको क्यों ऐंठता है। आत्मा न तो गौरवशाली है न लाघवशाली है जैसा है वैसा ही है। यह गौरव लाघव विचार कषायके सद्भाव असद्भावमें होता है।

(२८।६।४४)

१० मनुष्यके सबसे प्रबल मन है। उसकी वशतामें न रहो, प्रत्युत उसको अपने वश करो। उसके वश करनेका उपाय कषायोंकी कृशता करो, कषायोंको कृश किये बिना आत्मनिर्मलता का लाभ असम्भव है। जिन्होंने कषायोंको नहीं जीता उनका ज्ञान और तप निरर्थक है। जिनके लिये हम अपनी सारी शक्ति व्यय करते हैं यदि वही न हुआ तब इन बाह्य कारणोंसे कुछ भी लाभ नहीं।

(४।११।४४)



मन परके प्रति तो द्वाणों ही कैसे ? समाजकी सम्पत्तिको अपनी बनानेका प्रयास होता है चाहे वह न्याय अन्यायमें फँसे भी हो।

(१५।८।२९)

७ क्रोधादि कषायोंके उद्वेगमें नाना अनर्थ होते हैं और इनका फल भी अत्यन्त भयावह एवं दुःखकर होता है। इनके सद्भावसे आत्मामें निरन्तर अनेक प्रकारकी आधि व्याधि बनी रहती है जिनके कारण इसे स्वप्नमें भी चैन नहीं मिलता। इनको यह दूर करनेकी चेष्टा करे यह भाव दूर हो सकते हैं परन्तु यहाँ तो ऐसा भाव आत्मामें बैठा हुआ है कि यदि मैं इन विभावोंको दूर कर दूँगा तो मेरी आत्ममर्यादा सब चली जायगी। यह अज्ञात अवस्थामें असाध्य रोग है। हम इसकी जो भी चिकित्सा करते हैं वह सब इसके विरुद्ध है। हम जिन बाह्य-पदार्थोंके निमित्तसे क्रोधादि कषायरूप परिणमते हैं उन्हें दूर करनेकी चेष्टा करते हैं। जैसे हम घरके माता, पिता, पुत्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव आदि जो भी राग होनेमें निमित्त हो सकते हैं उनको त्यागकर शान्ति चाहते हैं परन्तु होता है इसके विपरीत ही। अर्थात् परिमित आदमियोंको छोड़कर अपरिमित आदमियोंके बन्धनमें फँस जाते हैं। घर तो परिचित व्यक्ति थे, उन्हींकी प्रकृतिके अनुकूल प्रवृत्ति करनेमें कभी शान्तिका भी आभास आ जाता था। परन्तु यहाँ तो अहर्निश अपरिचितोंके अनुकूल प्रवृत्ति करते करते जन्म जाता है। घरके त्यागसे त्याग नहीं होता, त्याग होता है इन विषय कषायोंके त्यागसे, अभ्यन्तरकी मूर्च्छाके त्यागसे। परन्तु इस ओर हमारा लक्ष्य नहीं।

(७।८।१९५०।८।४०)

८ आजकल मनुष्य अपनेको उत्तम और अन्यको जघन्य माननेकी चेष्टा करते हैं। इसमें उनकी प्रतिष्ठा नहीं प्रत्युत

हानि ही है, परन्तु कषायके आवेगमें यही होता है। आत्माका अकल्याण इसी कषायसे होता है। जिसने इसपर विजय प्राप्त की वही नर है।

(२२ । १ । ४४)

६ यह मूढ़ जीव बाह्य प्रशंसामें आत्मगौरवको खो बैठता है। आत्मा न तो गौरवशाली है न लाघवशाली है जैसा है वैसा ही है। यह गौरव लाघव विचार कषायके सद्भाव असद्भावमें होता है।

(२८ । १ । ४४)

१० मनुष्यके सबसे प्रबल मन है। उसकी वशतामें न रहो, प्रत्युत उसको अपने वश करो। उसके वश करनेका उपाय कषायोंको कृश करो, कषायोंको कृश किये बिना आत्मनिर्मलता का लाभ असम्भव है। जिन्होंने कषायको नहीं जीता उनका ज्ञान और तप निरर्थक है। जिनके लिये हम अपनी सारी शक्ति व्यय करते हैं यदि वही न हुआ तब इन बाह्य कारणोंसे कुछ भी लाभ नहीं।

(४ । ११ । ४४)

आग के अङ्गारे—अहंकार

१ यदि क्षयोपशम ज्ञानको पाया है तब उसे पराधीन ज्ञान अभिमान त्यागो। 'परका हमने उपकार किया है' यह अहंकार छोडो। न कोई किसीको देनेवाला है न कोई किसीका कुछ हरण करनेवाला ही। सभी कार्य साधक सामग्रीके सयोगसे होते हैं। केवल दैव या पुरुषार्थ भी कार्य साधक नहीं। और न तुम उस सामग्रीके उत्पादक या प्रयोजक ही हो अत 'निमीक कार्य हमने सिद्ध कर दिया' यह अहंकार छोडो।

(२५।५।४९)

२ पर पदार्थ यदि अनुकूल परिणम गया तब केवल मान कषायकी पुष्टि हुई तथा साथ ही अहं बुद्धिकी पुष्टि हुई। इस चक्रसे जो बचा वही उत्तम है।

(३१।१।४०)

३ प्रत्येक मनुष्यमे कुछ न कुछ विलक्षणता होती है। सहसा किसीका मूर्ख मत कहो, क्योंकि आत्माका वास्तविक विकाश मोहके अभाव होनेपर केवलज्ञानावरणके अभावमे होता है। क्षयोपशम ज्ञान सर्वथा निर्मल नहीं। जिस चन्द्रमाके ज्ञान को ससार सत्य मान रहा है वह रूप गुणकी अपेक्षासे सत्य है परिणामकी अपेक्षा मिथ्या है। अत इस अल्प ज्ञानको पाकर अहंकार मत करो।

(१६।२।४०)

४ कैसी मूर्खता है कि लोग अपने अहंकारकी रक्षाके

निमित्त द्रव्य भी व्यय करते हैं और शारीरिक कष्ट भी उठाते हैं फिर भी तात्त्विक लाभसे वञ्चित रहते हैं।

(२९ । ३ । ४०)

४ किसीके साथ अनुचित व्यवहार मत करो। असातोदय-की प्रबलतामें बड़े-बड़े महापुरुष कष्टभाजन हो जाते हैं। यह सब कर्मकृत लीला है। यदि किसी कारणसे सामग्री मिली है तब उसका अभिमान मत करो।

(११ । १० । ४९



माया

१ माया शल्य जनकी चालिका है। इसकी कलुषतामें आत्मा निरन्तर मलिन भावका पात्र रहता है। जहाँ मलिनता है वहाँ व्रत रूपी स्वच्छताका उदय नहीं होता।

(२१।२।२९)

२ संसारमें माया रहित व्यवहार बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता। यह अनर्थोंकी परम्परा है। इसके चक्रमें पड़कर व्यक्ति वैसे ही दुखी होता है जैसे काचके भीतर अपनी परछाईं देखकर भौंकनेवाला और माथा टकरानेवाला कुत्ता दुखी होता है।

(४।१।४०)

३ मायाचारसे आत्मा मलीनताका पात्र हो जाता है और जहाँ मलीनता है वहाँ यथार्थ वस्तुकी प्रतीति नहीं होती। पदार्थ उत्कृष्ट होनेपर भी मलिन दर्पणमें जिस तरह उसका प्रतिबिम्ब स्वच्छ नहीं पड़ता ठीक उसी तरह पदार्थ साङ्गोपाङ्ग सर्वोत्कृष्ट होने पर भी मलिन आत्मामें उसका वैसा प्रतिभासक ज्ञान नहीं होता।

(२८।३।४०)

४ मायाके द्वारा जिनका चित्त हरा गया है वे मनुष्य आसुरभावको प्राप्त होते हैं।

(९।६।४०)

५ सरल परिणामोंका उपयोग वही कर सकता है जो

निष्कपट होगा। जिनके अन्तरङ्गमें माया है वह यथार्थ व्यवहार करनेके योग्य नहीं।

(२१ । १ । ४०)

६ संसारकी परिणति अति वक्र हो रही है और वक्रता ही संसारकी मूल है। वक्रताका कारण दुर्वासना है। जबतक वासनाकी निर्मलता न हो तबतक संसारका अन्त न होगा।

(११।१।४०

७ जो जीव संसारमें रहना चाहते हैं उन्हें ही मायाचारी रक्षा करनी है। वे जीव स्वयं मायावी होते हैं। मायावियोंकी ही संसारमें प्रतिष्ठा होती है।

(४ । ७ । ४४)

८ जगत एक मायाका जाल है। जो जीव रागी हैं वही आकर इसमें फँसते हैं और मायाके निर्मम कटाक्षोंके वेधनेसे आत्मज्ञान पराङ्मुख होकर अनन्त संसारकी यातनाओंके पात्र होते हैं।

(११ । ८ । ४४)



पापका बाप–लोभ

१ लोभ पापका बाप कहा जाता है। बहुतसे मनुष्य लोभके वशीभूत होकर नाना अनर्थ करते हैं। आज संसार दुःखी है, लोभ ही उसका मूल हेतु है। हजारों मनुष्योंके प्राण लोभके वशीभूत होकर चले गये। आज संसारमें संग्राम हो रहा है, उसका कारण राज्यकी लिप्सा है। आज जितने घातक यन्त्रोंका आविष्कार हो रहा है, उसका कारण लोभ है। इन यन्त्रोंसे असंख्य प्राणियोंका जो घात हो रहा है उसको सुनते देखते हृदय काँप उठता है।

(२।५।४९)

२ वही मनुष्य संकोच करेगा जिसे लोभ या भय होगा। इस कषायके वशीभूत होकर आत्मा नाना अनर्थ करता है। जिन्हें भय है वे मोक्षमार्गसे वञ्चित रहते हैं, जिन्हें लोभ है वे अपना पराया घात करनेमें संकोच नहीं करते। लोभके वशीभूत हो माता पुत्रवध तक करनेमें संकोच नहीं करती।

(१२।१।५०)

३ लोभके अधीन यह आत्मा यथाख्यात चारित्रसे वञ्चित रहता है।

(१२।१।५०)

४ हमारे जो लोभ कषाय होती है तन्मूलक ही हिंसादि पाप होते हैं। लोभके वशीभूत होकर ही क्रोधादि कषायोंकी प्रवृत्ति होती है। ऐसा देखा गया है कि बाह्य परिग्रहके लोभमें पिताने पुत्रको और पुत्रने पिताको कैद कर लिया।

(८।६।४४)

राजरोग–राग

१ विशेष मनुष्योंके साथ सम्पर्क न करो। सम्पर्क ही राग-का कारण है। रागके विषयको त्यागनेसे भी रागकी निवृत्ति होती है। निर्विषय राग कबतक रहेगा? सर्वथा ऐसा सिद्धान्त नहीं कि पहले राग छोडो पश्चात् विषय त्यागो।

(२४।५।४९)

२ आत्माको निर्मल बनानेके लिये हमें राग-द्वेष-मोहका त्याग करना चाहिये। जिन वस्तुओंके निमित्तसे राग होता है उनका भी त्याग करना चाहिये।

(१२।७।४९

३ "जो जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।" इस वाक्यसे सन्तोष कर लेना अन्य बात है और पुरुषार्थ कर रागद्वेषका निपात करना अन्य बात है। रागद्वेष ऐसे कोई वज्र नहीं है जो भेदे न जा सकें। अपनी भूलसे यह होते हैं और अपनी बुद्धिमत्तासे विलय हो सकते हैं। कायरतासे इनकी सत्ता नहीं जाती। ये वैभाविक भाव हैं, आत्माको क्लेश कारक हैं। इनके सद्भावमें आत्माको बेचैनी रहती है। उसके अर्थ ये नाना प्रकार-के उपाय करता है। उससे बेचैनीका ह्रास नहीं होता प्रत्युत वृद्धि होती है।

(१०।२।४६)

४ प्रत्येक पदार्थ जबतक विकृत नहीं होता तभीतक उसकी प्रतिष्ठा है। जहां विकृत हुआ उसे छूनेका भी उत्साह नहीं जब आम्रका रस बिगड जाता है तब उसे खानेकी

होती। इसी तरह जब आत्मा रागादि दोषोंसे कलङ्कित हो जाता है उस समय उसे पापी, चाण्डाल, नीच आदि अनेक क्षुद्र शब्दों से व्यवहृत करने लगते हैं।

(७।३।५१)

५ अन्तरङ्ग रागद्वेषको जीतनेमें केवल कथा और शास्त्र स्वाध्याय ही कारण नहीं है अपितु पर पदार्थोंमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है उसे न होने देनेका पुरुषार्थ करना भी आवश्यक कारण है। पर को पर जानना ही इसका मुख्य उपाय है। अपनेको ज्ञान दर्शन गुणका आधार जान परसे ममत्व हटानेका प्रयत्न ही इसके लिये मुख्य प्रयत्न है।

(२३।११।२९)

६ चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री हो, चाहे बालक हो, सभीके साथ राग रखना अनिष्टकारी है। यहाँतक कि जड पदार्थोंके साथ भी राग सुखकर नहीं।

(१५।१०।३०)

७ रागादिक परिणामोसे आत्मा वर्तमान में तन्मय हो रहा है और इन्हींको स्वकीय सर्वस्व समझ रहा है। यही कारण है कि महापुरुषो द्वारा दिये गये उपदेशोंको श्रवण करके भी शान्तिके स्वादसे वञ्चित रहता है। बाह्य पदार्थोंकी अवस्थाके अनुकूल और प्रतिकूल भावोंकी उत्पत्ति कर दुखी होता है।

(२९। ०।३९)

८ आत्माका जो परिणमन आकुलताकी उत्पत्ति करे वही संसारका मूल्य है। संसार नाम रागादिरूप आत्माकी परिणतिका है। संसारमें मनुष्य मात्रके प्राय कहीं राग, और कहीं द्वेष रूप परिणाम होते हैं। जो पदार्थ अपने अनुकूल है, उसमें रुचिरूप परिणामका होना ही राग है और जो पदार्थ अनुकूल नहीं उसमें

अरुचिरूप परिणाम होना ही द्वेष है। इन्हीं दोनोंका फल यह संसार है।

(१९ । १० । ३९)

९. पर पदार्थ हमें इसके लिये बाध्य नहीं करते कि हममें निजत्वकी कल्पना करो, किन्तु हम स्वयं अपने रागद्वेषके आवेगमें आकर उनमें निजत्व और परत्वकी कल्पना करते हैं। वह भी नियमित रूपसे नहीं। देखा यह गया है कि जिसे निज मान रहे हैं, वही जहाँ हमारे अभिप्रायके विरुद्ध हुआ, हम उसे पर जान त्याग करनेकी इच्छा करते हैं और जो पर है यदि वह हमारे अनुकूल होगया तो शीघ्र ही उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं।

(२२ । ५ । ४०)

१० "संसारमें सभी पदार्थोंको समान देखो" इसका यह अर्थ नहीं कि गधा घोड़ा, स्वर्ण-लोहा, सभीको समान समझो किन्तु यह अर्थ है कि किसी पदार्थमें राग द्वेष न करो।

(२३ । ५ । ४०)

११ "आत्मवृत्तिको सङ्कुचित करो" इसका यह तात्पर्य नहीं कि पदार्थोंके जाननेका प्रयत्न ही न करो, अपितु इसका यह तात्पर्य है कि पदार्थोंको जानो और उनके गुण पर्यायोंका अच्छी तरह मनन करो, किन्तु उनमें राग द्वेष न करो, क्योंकि संसार बन्धनोंका कारण यह राग द्वेष ही है, जानना नहीं।

(२ । ६ । ४०)

१२ एक स्थानपर रहनेसे मनुष्य समाजमें स्नेह होजाता है और यही स्नेह बन्धका कारण है। आजतक जितना अधःपतन हुआ इसी स्नेहके द्वारा हुआ है। यदि इसको न त्यागा तब जन्म पाना ही विफल है।

(३ । १०-१-४४)

१३ [illegible] है [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है [illegible]
[illegible] है और [illegible] है [illegible]
[illegible] है।

([illegible])

मोह महाभट

१ जिस दिन मोहका अभाव होगा यह सब प्रक्रिया मिट जावेगी। मोहकी मन्दता और तीव्रतासे शुभ अशुभ मार्गकी सत्ता है। जिस समय मोहका अभाव होता है ज्ञानावरणादि तीन घातिया कर्म अन्तर्मुहूर्तमें स्वयमेव लय होजाते हैं, उनके नाशके लिये किसी प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं।

(३१।४।४९)

२ राग द्वेष मोह संसारके मूल हैं। इन तीनोंमें मोह प्रधान है। इसके बिना राग द्वेष पूर्ण कार्यकारी नहीं।

(२६।४।४९)

३ अभ्यन्तर मोहकी परिणति इतनी प्रबल है कि इसके प्रभावमें आकर जरा भी रागादिको त्यागना कठिन है। अधिकसे अधिक त्याग केवल बाह्य रूपादि विषयोंका प्रत्येक मनुष्य कर सकता है किन्तु आन्तरिक त्याग करना अति कठिन है।

(२।७।४९)

४ मानव समुदाय एक मिनिट भी आनन्दसे रहनेमें असमर्थ है। मेरा यह विश्वास है कि मोही जीवको कहीं सुख नहीं।

(२०।८।४९)

५ मदिराके नशासे भी मोहका नशा भयङ्कर है। इस नशेके वेगमें बड़े बड़े भयङ्कर कार्य होते हैं, भयङ्कर तथा प्रेयस्कर कार्य भी होते हैं।

(२०।१०।४९)

६ हृदयकी दुर्बलता बहुत ही कार्यबाधक है। मोहके कारण यह दुर्बलता है। इसका जीतना महान् कठिन है।

(१४।११।४९)

७ लज्जा करना, यथार्थ न रहना, किसीके प्रभावमें आ जाना, यह सब मोहके ही परिणाम हैं।

(२०।५।४९)

८ अशान्तिका मूल मोह है और जहाँतक अपनी निर्बलता रहेगी तबतक अशान्ति नहीं जा सकती, क्योंकि अशान्तिका उत्पादक यह बहुरूपिया मोह है।

(५।११।४०)

९ घातिया कर्मोंमें मोहनीय कर्म ही एक ऐसा कर्म है जो अपनी सत्ता रखता है और शेष जो ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म हैं उनकी भी सत्ता रखता है, क्योंकि स्थिति और अनुभागबन्धका कारण कषाय भाव है और कषायकी उत्पत्तिमें कारण मोहोदय है। आचार्योंने मोहकर्मके दो भेद किए हैं—एक दर्शनमोह दूसरा चारित्रमोह। इस आत्मासे अनादिकालसे इन कर्मोंका सम्बन्ध है इनके उदयमें आत्माको यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जैसे मदिरा पान करनेवाला पागल होजाता है, उसे स्वपर विवेक नहीं रहता, ठीक यही दशा मोहकर्मकी है। उसके विपाककालमें स्वपरका भेदज्ञान नहीं रहता। स्वपरका विवेक न रहनेसे परपदार्थको अपनानेकी चेष्टा करता है जो कि सर्वथा असम्भव है। जब वह अपने अनुकूल परिणमन नहीं करते तब दुःखी होता है।

(२२।१।४०)

१० हम लोग मोही हैं। एक घर छोड़कर संसारको अपना घर बनानेकी चेष्टा करते हैं। व्रत त्यागीके लेते हैं परन्तु त्यागके महत्त्वको नहीं समझते। यही कारण है कि दर दर के मोही हैं और यही मोह नरकका कारण होगा।

(१०।७।५४)

११ बहुतसे मनुष्य पहिले प्रतिज्ञा ले लेते हैं परन्तु निर्वाहके समय भङ्ग करनेमें सङ्कोच नहीं करते। यह सब लीला मोहकी है। मोहका विलास बहुत ही प्रभाव रखता है। यह जो संसारका दृश्य है उसीका परिवार है।

(१५।८।५४)

१२ संसारमें आनेका मोह और जानेका मोह दोनों ही दुःखप्रद हैं। किन्तु आनेमें हर्ष और जानेमें विषाद दोनों ही मोह पोषक हैं। पर वस्तुको उपादेय मानना यह भी मिथ्या और वियोगमें विषाद यह भी मिथ्या परिणति है।

(२०।१०।५४)



और अल्प परिग्रहीकी लालसा जन्य वेदनाके शमन करनेवाले कारणोंमें होता है।

(२७ । ८ । ३९)

७ 'परिग्रह दुखदायी है' केवल यह जानकर यदि परिग्रहका त्याग करे तब क्या वह परिव्राजक कहला सकता है? कभी नहीं। राजा जनकको जो 'विदेह' शब्दसे व्यपदेश किया गया है उसका यही कारण है कि उनकी परिग्रहमें आसक्ति न थी। फिर भी परिग्रह मूर्च्छाका निमित्त कारण ही है यदि ऐसा न होता तब सन्यासमार्गकी आवश्यकता ही न थी। अत यह परिग्रह मूर्च्छाके निमित्त हैं, इनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

(७ । ९ । ३९)

८ परिग्रहका अर्थ है सम्यक् प्रकारसे पर वस्तुको अपना मानना। तब जिसको त्यागकर लोग दानी बनते हैं वह वस्तु तो आत्मासे भिन्न है, उसको अपना मानना ही अन्याय है। वह तो पर है, पर वस्तुको जो ग्रहण करते हैं वे चोर हैं।

(३१ । १० । ५१)

९ ससारमें परिग्रह छोड़ना उत्कृष्ट है परन्तु छोड़कर सग्रह करना तो अति निन्द्य है। सम्पूर्ण परिग्रहके त्यागी दिगम्बर मुद्रा धारणकर एकान्तवास, या साधुसमागम द्वारा आत्म कल्याण करते हैं परन्तु त्यागी या साधु होकर भी जो इसके विपरीत ही आचरण करते हैं वे ससार समुद्रमें ऐसे डूबते हैं कि किनारे लगनेका कोई ठिकाना ही नहीं पाते।

(१३ । ३ । ४०)

१० परिग्रह एक पिशाच है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकारके अनर्थोंको उपार्जन करते हैं। यह ससार ही परिग्रह मूलक है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्गके भेदसे यह दो प्रकारका है। अन्तरङ्ग परिग्रहका सम्बन्ध आत्मासे है और बही पदार्थ

जिसमें ममभाव होता है उसे बाह्यपरिग्रह कहते हैं जैसे अग्निको हिंसक कह देना।

(२८।४।४०)

११ अन्तरङ्गसे मूर्च्छा नहीं जाती इसका कारण आत्म दुर्बलता है। अभी इन पर पदार्थोंको हम अपना साधक और बाधक समझ रहे हैं। यही साधक बाधकभाव मूर्च्छाके साधन हैं। साधकभाव एक तो पुण्यके कारण हैं और एक पापके कारण हैं।

(५।६।४०)

१२ वास्तवमें गृहभार अन्य कुछ नहीं अपनी ही मूर्च्छाने यह रूप दे रखा है कि उसे हेय जानता हुआ भी यह जीव इसे त्याग नहीं सकता। मूर्च्छाके अभावमें चक्रवर्तीकी विभूति भी भार नहीं और मूर्च्छाके सद्भावमें एक फूटी कानी कौड़ी भी भार है।

(३०।६।४०)

१३ परिग्रहसे मूर्च्छा होती है चाहे खाओ चाहे न खाओ। आज इसी परिग्रहके कारण यूरोपमें हाहाकार मच रहा है।

(३१।१२।४०)

१४ परिग्रह मनसे बुरी बला है। इससे अपनी रक्षा करना कठिन है। सब पापोंका मूल परिग्रह है। अन्य पाप इसके ही परिवार हैं।

(७,८।६।४०)

१५ चेतन परिग्रहके भोगनेमें पर द्रव्यका भोगकर हम अपना ही घात नहीं करते किन्तु उसको भी रागी बनाकर उसका भी घात करते हैं। अचेतन परिग्रहके भोगनेमें हम उतने अपराधी नहीं।

(२७।९।४४)

पर ससर्ग

१ ताम्बूलका ससर्ग जबतक अधरके साथ नहीं होता तबतक मुखमें लाली नहीं आती। इसी तरह जबतक कषायके अनुकूल विषयका ससर्ग नहीं होता तबतक उस कषायके अनुकूल कार्य नहीं होता। अच्छा यही है कि इन विषय कषायोंके कारण पर ससर्गसे दूर ही रहा जाय।

(७।१।३९)

२ पर ससर्ग ही ससारमें अति प्रबल मोहका कारण है। इसके निमित्तसे जीवको नाना दुर्गतिके दुःखोंका पात्र बनना पड़ता है।

(१९।१।३९)

३ जहाँ अपना शरीर ही सुखकर नहीं वहाँ अन्य पदार्थों या अन्य व्यक्तियोंका ससर्ग सुखकर मानना मूर्खताके सिवा और क्या है?

(२०।१।३९)

४ जितना अधिक सम्पर्क मनुष्योंके साथ करोगे उतने ही कलुषित परिणाम होंगे। वही वर्तमानमें आत्मबोधसे च्युत होनेका निमित्त भी होगा।

(२।२।३९)

५ परके साथ सम्पर्क त्यागनेके लिये लज्जा त्यागो, भय त्यागो, हास्यादि त्यागो। केवल कथोपकथन करना समय (आत्मा) का दुरुपयोग है।

(१२।२।३९)

६ परके सहवाससे आत्मा मलिन होता है और [illegible] नता ही पतन करनेवाली है ।

([illegible])

७ जबतक यह जीव पर वस्तुओंको अपनाता है और उन्हें अपने अनुकूल परिणमानेकी चेष्टा करता है तबतक [illegible] संसारके अनन्त कल्पनातीत दुःखोंका पात्र होता है।

([illegible])

८ पर संसर्गसे जितना राग होता है उतना [illegible] रहनेसे नहीं होता । पानके चर्वण करनेपर ही मुँह लाल होता है दूर रहनेपर लालिमा नहीं आता ।

([illegible])

९ परपदार्थके संसर्गसे जिन्होंने [illegible] पर किया उन्होंने मनुष्य जन्मका मूल्य नहीं समझा।

([illegible])

कल्पना

१ कल्पनाके द्वारा यह आत्मा इस जगतका निर्माण करता है। कोई कहते हैं कि कल्पना मिथ्या है, उसका यह तात्पर्य है कि जिसे कल्पनामें विषय करता है वह ज्ञेय बाह्यमें नहीं। अत उस बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा उसे मिथ्या कहो परन्तु कल्पना तो आत्माका विभाव परिणाम है वह असत् नहीं। जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान होजाता है और हम ज्ञानको मिथ्या कहते हैं। मिथ्या ज्ञान विषयकी अपेक्षासे मिथ्या है स्वरूपसे तो सत् है अत जितने विकल्प हैं व स्वरूपसे सत् हैं।

(३ । ७ । ४०)

२ चित्त क्या है? आत्माके ज्ञान गुणका परिणमन ही तो है। परन्तु इतना चञ्चल क्यों? चञ्चलताका अर्थ बदलता रहना है। परिवर्तन होनेसे क्या हानि है, सिद्धस्वरूप भी निरन्तर परिवर्तनशील है, आकाशादि पदार्थ भी निरन्तर परिवर्तनशील हैं। कोई भी वस्तु संसारमें ऐसी नहीं जो परिवर्तनशील न हो, अन्यथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यका अभाव ही होजावे, क्योंकि एतत् त्रियात्मक ही वस्तु है। अत विचारना चाहिये कि मनकी चञ्चलतामें कौनसा दुःखकर पदार्थ मिला है, जो हमें निरन्तर दुःखी रखता है। विचारनेसे इसका पता लगता है कि मन तो एक जाननेका साधन है, उस जाननेमें जो इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होता हैं वही हमें निरन्तर दुःखी बनाए हैं। यदि वह कल्पनाएँ विलीन होजावें तो हम अनायास ही सुखके पात्र हो जावेंगे।

(२ । ९ । ४०)

३ कल्पनाएँ क्यों होती हैं? इसका कारण हम अनादि-कालसे परपदार्थोंको अपनाते हैं और उनमें जिसको अपनाते हैं उसी रूपमें वह रहे तब तो हम सुखी होजाते हैं परन्तु यदि अन्यथा रूप हुआ तो हम दुखी होजाते हैं।

(३ । ० । ४०)



सङ्कल्प-विकल्प

१ विकल्प जाल इतना भीषण कार्य करता है कि विना शस्त्रादिकके मर्मभेदन करता है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो इसके प्रहारसे रक्षित हो? यही हो सकता है जिसकी आत्मासे मोहका अस्तित्व चला गया है। परन्तु उसका पता तभी लगता है जब कि तुम्हारे हृदयमें पवित्र भावोंका आंशिक भी उदय हुआ हो।

(२४।५।४०)

२ मोहके उदयमें नाना प्रकारके विकल्प होते हैं और प्राय इनके शमन करनेका उपाय केवल एक ओर दृष्टिकी तत्परता ही है। इसीका नाम ध्यान है। ध्यानकी सिद्धि उसीके होगी जिसके पञ्चेन्द्रियोंके विषयमें इच्छा घट जावेगी। विना इच्छाके विषय सेवन नहीं होता और विषय सेवनके अभावमें तृष्णा नहीं होती। तृष्णाके अभावमें आपसे आप निरीहवृत्तिकी वृद्धि होने लगती है। निरीहवृत्तिके सतत उपयोग होनेसे आत्मा शान्तिका पात्र होता है। यही सुख है। केवल परपदार्थोंसे मोहजन्य ममत्व त्यागनेकी आवश्यकता है।

(१२, १३।६।४०)

३ जितने विकल्प होते हैं यह सब मोहके परिणाम हैं। उनके अभ्यन्तरमें एक प्रकारकी ऐसी आकुलता रहती है जो अन्तरङ्गमें क्षोभदायिनी होती है। परपदार्थोंमें जो यह भाव होता है कि "यह हमारे कल्याणमें सहायीभूत हों" यह क्या है? केवल मोहकी विकृति ही तो है।

(६।१०।४०)

४ जितने प्रकारके मनुष्य मिलते हैं उतने ही प्रकारके विकल्प होते हैं और उतने ही प्रकारके नवीन नवीन कषायोंके भाव आत्मामें होजाते हैं। अत वह कार्य करो जिसमें आत्मामें न तो उनमें विकल्प ही हों और न वैसे सक्लेश परिणाम ही हों। मलेरिया कहींसे आती नहीं, हम उसे स्वयं उत्पन्न कर लेते हैं।

(१५ । ५ । ४४)

५ जो भी कार्य हो उसे निश्चिन्तता और दृढ विचारसे करो। सङ्कल्प विकल्पके जालमें सर्वथा पृथक रहो। इसके जालसे फिर निकलना कठिन है।

(११ । ५ । ४४)

६ हमने अपनेको तो सुधारा नहीं अन्यके सुधारनेका भूत लगा बैठे। यही नाना प्रकारकी वेदनाएँ उत्पन्न करता है। यदि कुछ दिन शान्तिकी इच्छा है तब सभी सङ्कल्प विकल्पोंकी होली जलाकर आत्मज्योति प्रज्वलित करो। कल्याणका सरोवर आपहीमें है, उसम अवगाहनकर भवातप मेटनेका प्रयत्न करो।

(९ । ८ । ४४)

इच्छा

१ जब हमारी आत्मामें किसी विषयकी इच्छा होजाती है उस समय हम अत्यन्त क्षुब्ध और दुखी होजाते हैं। ऐसा क्यों? इसलिये कि इच्छा एक वैकारिक भाव है और उसके होते ही आत्म-स्थित चारित्रशक्ति विकृत होजाती है। उस कालमें उसका वास्तविक स्वरूप तिरोहित होजाता है। तब जैसे कामला रोगवालेको समस्त शुक्ल पदार्थ पीले दिखाई देते हैं वैसे ही मिथ्यात्व सहकृत चारित्रोदयमें यह जीव शरीरादि पर द्रव्योंको स्वात्महितका कारण मानकर दुखी होजाता है।

(१३।४।३९)

२ इच्छित बात न हुई, न होगी। अत इच्छाको छोड़कर कार्य करनेकी चेष्टा करो। भोजनको विष मिश्रित बनाकर खानेसे आत्मघात ही होता है। अत जो मानव चाहकर (इच्छाकर) कार्य करनेको तयार होते हैं उनकी दशा भी विषमिश्रित भोजन करनेवालेके सदृश होती है।

(१६।१२।३९)

३ जहाँ अपनी इच्छाका निरोध हो जावेगा स्वयमेव ससारकी समस्त समस्याएँ सुलझ जावेंगी। इच्छा या अभि-लाषाके शान्त हुए बिना ऊपरी त्यागकी कोई महिमा नहीं।

(२०।१।४०)

४ दुखका मूलकारण अपनी इच्छा है, जो चाहती है कि

समस्त समस्त पदार्थ मेरे ही अनुकूल परिणाम। अतः जबतक इच्छाका अभाव न होगा तबतक शान्तिका होना असम्भव है।

(२२ । ३ । ४०)

५ इच्छाका अर्थ परिग्रह है और इच्छा अज्ञानमय भाव है। ज्ञानी जीवके अज्ञानमय भावका अभाव है अतः इच्छावान्य आत्मताके दुःखका यह पात्र नहीं होता।

(२० । ४ । ४०)

६ सम्पूर्ण विषयोंकी अभिलाषा त्यागो, क्योंकि जिस वस्तुके जाननेमें पहिले ही अशान्तिका उदय होता है उसका जाननेकी अपेक्षा न जानना ही अच्छा है।

(१६ । ५ । ४४)

७ मिथ्या सन्ताप मत करो। सत्य सन्तोष वह पदार्थ है कि जिससे अन्तरङ्गमें परवस्तु की इच्छा ही नहीं होती। अन्तरङ्गमें यदि इच्छाकी प्रचुरता है और ऊपरसे लोक प्रतिष्ठाके लिये त्यागी बनते हैं तो वह त्याग त्याग नहीं, दम्भ है। दम्भ ही नहीं, आत्मस्वरूपका लोपन, दूसरोंको धोखा और आत्मवञ्चना है। जहाँ यह तीनों पाप हैं वहाँ आत्मोत्थानकी आशा ही व्यर्थ है।

(१८ । ५ । ४४)

८ लोलुपताका कारण रसना इन्द्रिय नहीं। उसका कार्य तो रसपरिज्ञान करा देना है। लोलुपताका जनक हमारी इच्छा है। हम जिसको चाहते हैं वही ग्रास तो मुखमें डालते हैं। यदि उस रसात्मक चटकीले पदार्थमें प्रेम न हो तब उसको उठानेमें हाथका प्रयोग ही न हो।

(२६ । १२ । ४४)

समालोचना

१ परोक्षमें किसीके दोषोंकी समालोचना मत करो। जब तक तुम्हारी आत्मा मलीन है तबतक उसे ही पर समझ उसीकी आलोचना करो। जो त्रुटियाँ अपनेमें देखो उन्हें दूर करो। ऐसा करनेसे दूसरोंकी बुराईमें तुम्हारा जो समय लगता था वह तुम्हारे आत्मसुधारमें काम आवेगा।

(८ । १ । ४९)

२ बहुत मत बोलो, बहुत मत सुनो। जहाँपर पराई निन्दा और अपनी प्रशंसा होती हो वहाँ बहरे बनके रहो।

(२० । १ । ४८)

३ परकी आलोचनासे सिवा कलुषताके कुछ हाथ नहीं आता। परन्तु अपने उत्कर्षको व्यक्त करनेकी जो अभिलाषा है वह दूसरोंकी आलोचना किये बिना पूर्ण नहीं होती। उसे पूर्ण करनेके लिये मनुष्य जब परकी आलोचना करता है तब उसके ही कलुषित परिणाम उसके सुगुण घातक बन बैठते हैं।

(८ । २ । ४८)

४ परकी समालोचनामें अपने अभिप्रायको लगाना अपनी ही कमजोरीका परिचायक है। जो मनुष्य अपनी पवित्रतामें नाना युक्तियाँ देता है वह पवित्र नहीं।

———

भोजन

१ परके घर अतिथि बनकर भोजन करना अपरिग्रही बनोंको ही अच्छा लगता है। वैसे पराया माल किसे [illegible] ? परन्तु इस तरह भोजनभट्ट बनकर पराये मालसे [illegible] करना पामरोंका ही काम है।

पराये घर भोजनका वही अधिकारी है जो मोक्षमार्गका प्रचारक है। जिसने अपनी कषायोंका दमन कर दिया है, पापारंभको त्याग दिया है, व्रतोंमें अतिथि संविभागव्रत धारक है। सर्वोत्तम अतिथि मुनि हैं, मध्यम अतिथि श्रावक हैं, दशवीं, ग्यारवीं प्रतिमाधारी श्रावक मध्यम अतिथियोंमें उत्तम हैं।

(१२ । १ । ५०)

३ भोजनमें शाहीपना रोगका मूल है।

(२० । ११ । ५०)

४ भोजनमें लोग आडम्बरसे राजी हैं। खानेवाले भी इसीमें आनन्द मानते हैं। चाहे पीछे भले ही लालच पड जावे, दुर्दशा होजावे, बीमारीका सामना भी करना पडे।

(३ । ४ । ५४)

५ भोजन भी क्या बला है कि इसके बिना शरीरकी स्थिति नहीं। तथा ऐसी वस्तु है कि मनुष्यके पतनका भी यही कारण है। लोभी मनुष्य लोभमें आकर आत्मगुणसे च्युत होजाते हैं।

(८ । ३ । ५४)

६ भोजन करनेवालोंमें प्राय सामग्री नहीं। त्यागका केवल बहाना है। अन्तरङ्ग त्यागकी ओर लक्ष्य नहीं। केवल बाह्य त्यागसे लोगोंकी दृष्टिमें चमत्कार है। अभ्यन्तर त्यागसे अभी हम लोग बहुत दूर हैं।

(९ । ५ । ४४)

७ भोजन ऐसा होना चाहिये जिससे कि पात्रके ध्यान अध्ययनमें बाधा न हो। यदि उसमें बाधा पहुची तब भोजनका भोजन दु खका भाजन है।

(२० । ५ । ४४)

८ भोजन वही हितकर होता है जो सादा हो। जिस भोजनमें आडम्बर है वह भोजन नहीं केवल स्वादकी विडम्बना है।

(२१ । ६ । ४४)

भोजनमें लिप्साका त्याग करना उत्तम पुरुषोंका कर्तव्य है।

(२९ । ७ । ४४)

९ भोजन करना सरल है परन्तु भोजन करके उसके प्रति कुछ उपकार करना चाहिये। बिना प्रत्युपकार किये भोजन करना एक तरहका समाजके ऊपर भार है।

(३० । ७ । ४४)

१० खेद इस बातका है कि आजकल लोग जान बूझकर त्यागीको संयमसे च्युत करनेवाला भोजन कराते हैं। पूड़ी पपड़िया खाजे आदि बनाना तो इनके बाऍं हाथका खेल है।

११ भोजन सात्त्विक होना चाहिये। सात्त्विक भोजनसे शरीर निरोग रहता है। मोक्षका मार्ग सरल होता है। सात्त्विक भोजन सहज पचता है, उसमें विकृतता नहीं होती।

१२ राजस भोजन दर्पकर होता है। प्रमादका जनक है। लम्पटताका कारण है। अधिक व्यय साध्य और अस्वास्थ्यकर है।

(१४।८।४४)

१३ गरिष्ठ भोजन रोगका कारण है। राग रोग भी वर्तमान है। उत्तरकालमें इसका फल संसार है और वर्तमानमें जो रोग न करे सो अल्प है। इन्द्रियोंमें रसना, कर्मोंमें मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य और गुप्तिमें मनोगुप्ति कठिन है।

(१६।१२।४७)

१४ त्यागी पुरुष भी लालचके वशीभूत होकर यद्वा तद्वा मानन कर लेते हैं और अपनी त्यागवृत्तिको कलुषितकर संसारके पात्र ही होजाते हैं।

(२३।१२।४४)



दूषित दृष्टि

१ लोग ऊपरी आडम्बरमें प्रसन्न रहते हैं, अन्तरङ्ग दृष्टिपर ध्यान नहीं देते। केवल गल्पवादमें समय व्यय करना जानते हैं।

(१०।१।४९)

गुरुकुल संस्था उत्तम है, परन्तु लोगोंकी दृष्टि उस ओर नहीं। जिनकी दृष्टि है उनके पास द्रव्य नहीं, जिनके पास द्रव्य है उनके परिणाम नहीं।

(१४।१।४९)

२. अधिकांश लोगोंकी अन्तरङ्ग दृष्टि निर्मल नहीं। तत्त्वज्ञानकी रुचि जैसी चाहिये वह नहीं। खेद इस बातका है कि स्वय तो क्या दूसरों द्वारा सावधान किये जानेपर भी आत्म परिणामोंके परिणमनपर ध्यान नहीं देते। स्वकीय आत्मद्रव्यका कल्याण करना पुण्य है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं।

(१६।१।४९)

३ मनुष्योंकी दृष्टि और प्रवृत्ति प्राय इस समय अति कलुषित रहती है। यदि तीर्थस्थानसे शान्तभावको लेकर आये तब तो यात्रा करनेका फल है अन्यथा अन्यथा ही है। ससार बन्धनके नाशका यदि यहाँ आकर भी कुछ प्रयास नहीं हुआ तब तीर्थयात्रा जैसे शुभ निमित्त कारणका क्या उपयोग हुआ?

(९।२।४९)

४ लोगोंकी दृष्टि वक्ताके प्रवचनसे लाभ उठानेकी नहीं रही। अब सयमके स्थानमें अष्टमूल गुण पालनका उपदेश रह

गया है। बहुतसे बहुत बलका प्रभाव पड़ा नव बाजारकी जलेबी मनेका त्याग तक आनके सयमकी सामा पहुच गई है।

(९ । ३ । ४९)

५ लोगोंमे परस्परमे अविश्वास है यही कारण है कि इनके कार्य सफल नहीं होते। इसीम बडी बड़ी प्रारम्भ कर देते हैं परन्तु पूर्ति एककी भी नहीं करते।

(१४ । ३ । ४९)

६ अज्ञानी जीवको अपना दोष नहीं दीखता, परमें ही नाना कल्पना करता है।

(१९ । ३ । ४९)

७ केवल मनुष्यका अनुरञ्जन करना तात्त्विक मार्ग नहीं, तात्त्विकमार्ग तो वह है जिससे आत्माको शान्ति मिले।

(३१ । ३ । ४९)

८ जनताके अनुकूल प्रवचन होना कठिन है, जनता गल्प वादकी रसिक है। लोग वास्तविक तत्त्वका मर्म नहीं समझते केवल बाह्याडम्बरमें निज धर्मकी प्रभावना चाहते हैं। प्रभावनाका मूलकारण ज्ञान है उसकी ओर दृष्टि नहीं। ज्ञानके समान अन्य कोई हितकारी नहीं क्योंकि ज्ञान ही आत्माका मूल असाधारण गुण है, उसकी ही महिमा है जो यह व्यवस्था बन रही है।

(१ । ४ । ४९)

९ यथार्थ वस्तुका स्वरूप प्रथम तो जानना कठिन है। अन्यको निरूपण करना कठिन है। वस्तु स्वरूपका परिचय होना ही कल्याणका मार्ग है, उसके लिये लोगोंका प्रयास नहीं, प्रयास केवल बाह्य आडम्बरके अर्थ है।

(३ । ४ । ४९

१० आजकल मनुष्योंके यह भाव होगये हैं कि अन्य सिद्धान्तवाले हमारा सिद्धान्त स्वीकार कर लेवें। संसारमें प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि हम उत्कर्षशील हों, उन्नत हों, परन्तु इसके लिये जो मार्ग है उसपर न चलना पड़े। यही विपरीतभाव हमारे उत्कर्षका बाधक है।

(७।४।४९)

११ वाह वाहमें संसार लुट रहा है, आप स्वयं निज स्वरूपसे च्युत हैं और संसारको उस स्वरूपमें लगाना चाहता है। यह सर्वथा अनुचित है कि मनुष्य जगतके कल्याणकी चेष्टा करते हैं परन्तु आत्मकल्याणकी ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देते। उनका प्रयत्न अन्धेके हाथमें लालटेन सदृश है। संसारकी विडम्बनाका चित्रण करना संसारीका काम है। जिसको नाना विकल्प उत्पन्न होते हैं वह पदार्थको नानारूपमें देखता है। वास्तवमें पदार्थ तो अभिन्न है, अखण्डित है, यह उसे क्षयोपशम ज्ञानसे नानारूपमें देखता है।

(१७।५।४९)

१२ बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जिन्हें कलह ही प्रिय होता है। जनता उनके पक्षमें आ जाती है। शास्त्रका अध्ययन करने- वाले सद्विवेकी जीव जब इस विषयसे मुक्त नहीं है तब अज्ञानी मनुष्य तो अज्ञानी ही हैं।

(१४।६।४९)

१३ मनुष्य बाजारकी चाट चाटनेके आदी हैं। निरन्तर ऊपरी चमक दमकमें मस्त रहते हैं, भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं। केवल शरीरके पोषणमें अपने ज्ञान धनका उपयोगकर

अपनी पर्यायको सफल बनानेका प्रयत्न है। इनकी दृष्टि अपनी ओर नहीं। यही महती त्रुटि संसारके बन्धनसे छूटनेमें बाधक है।

(१६।७।४९)

१४ आजकल मनुष्योंको जेवरका विषय बहुत प्रिय लगने लगा है। वह इसमें इतने आसक्त हैं कि जिन पत्नीका धर्मकी आवश्यकतामें चाहे सौ रुपये व्यय हो जायें, कुछ गम नहीं वस्त्रमें उसका सर्वाङ्ग दीखे, इसीमें वह अपनी प्रतिष्ठा मानती है और वह उससे प्रसन्न होता है।

(२।८।४९)

१५ वर्तमानकालमें मनुष्योंमें परस्पर सौमनस्य नहीं। अतः इनके जितने भी कार्य हैं कोई पूर्ण नहीं हो सकता। यहाँपर सब अपनेको अहमिन्द्र मानते हैं, इनकी दृष्टि अहमिन्द्रोंको [illegible] परन्तु कुछ कर नहीं सकते केवल कल्पना है। और कल्पनाका कार्य जैसा होता है वह किसीसे छिपा नहीं है। अर्थात् कल्पना जालसे मिलता जुलता कुछ नहीं केवल कल्मष सञ्चय होता है।

(२०।८।४९)

१६ प्रत्येक मनुष्यके यह भाव होते हैं कि लोकमें मेरी प्रतिष्ठा हो। यद्यपि इससे कोई लाभ नहीं फिर न जाने लोकैषणा क्यों होती है? सभी विद्वान् निरन्तर यही घोषणा करते हैं— "संसार असार है, इसमें एक दिन मृत्युका पात्र होना पड़ेगा।' इनके 'असार' का कुछ भी अर्थ समझमें नहीं आता। 'मृत्यु होगी' इसमें भी क्या विशेषता है? इससे वीतराग तत्त्वको क्या सहायता मिलती है? कुछ समझमें नहीं आता।

(२१।९।४९)

१७ आजकल ही नहीं, प्रायः सभी कालमें हठवादका यथार्थ उत्तर होना कठिन है। सब यही चाहते हैं हमारी बात गई, तब

१० आजकल मनुष्योंके यह भाव होगये हैं कि अन्य सिद्धान्तवाले हमारा सिद्धान्त स्वीकार कर लेवें। संसारमें प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि हम उत्कर्षशील हों, उन्नत हों, परन्तु इसके लिये जो मार्ग है उसपर न चलना पड़े। यही विपरीतभाव हमारे उत्कर्षका बाधक है।

(७।४।४९)

११ आप बाहमें संसार लुट रहा है, आप स्वयं निज स्वरूपसे च्युत हैं और संसारको उस स्वरूपमें लगाना चाहता है। यह सर्वथा अनुचित है कि मनुष्य जगतके कल्याणकी चेष्टा करते हैं परन्तु आत्मकल्याणकी ओर जरा भी लक्ष्य नहीं देते। उनका प्रयत्न अन्धेके हाथमें लालटेन सदृश है। संसारकी विडम्बनाका चित्रण करना संसारीका काम है। जिससे नाना विकल्प उत्पन्न होते हैं यह पदार्थको नानारूपमें देखता है। वास्तवमें पदार्थ तो अभिन्न है, अखण्डित है, यह उसे क्षयोपशम ज्ञानसे नानारूपमें देखता है।

(१०।५।४९)

१२ बहुतसे मनुष्य ऐसे होते हैं जिन्हें कलह ही प्रिय होता है। जनता उनके पक्षमें आ जाती है। शास्त्रका अध्ययन करनेवाले सद्विवेकी जीव जन इस विषयसे मुक्त नहीं हैं तब अज्ञानी मनुष्य तो अज्ञानी ही हैं।

(१४।६।४९)

१३ मनुष्य बाजारकी चाट चाटनेके आदी हैं। निरन्तर ऊपरी चमक दमकमें मस्त रहते हैं, भक्ष्य अभक्ष्यका विवेक नहीं। केवल शरीरके पोषणमें अपने ज्ञान धनका उपयोगकर

आत्म प्रशंसा

१ जहाँ लौकिक मनुष्योंमें प्रशंसा हुई, वह जीव अपनेको धन्य मानने लगता है। और जहाँ आत्म प्रशंसा एवं पर निन्दा हुई वहाँ भी हर्ष मानरूप कषायोंकी प्रवृत्ति होते हुये भी हर्ष मानता है। यही भाव वासना अनन्त संसारका कारण है।

(१९ । १ । २८)

२ अन्य प्राणीकी प्रशंसात्मक कथामें आत्माका हित भी होता है और अहित भी होता है। किन्तु जहाँपर केवल अपनी प्रशंसाके अर्थ परकी कथाकी जाती है वहाँ केवल पाप सञ्चय करानेवाला भाव ही होता है। अभिप्रायमें जो अपनी प्रशंसाकी इच्छा है वास्तवमें वह मान कषायकी परिचायिका ही है।

(२० । १ । २९)

३ लौकिक निन्दा और आत्म प्रशंसामें दिन व्यतीत करने से कोई लाभ नहीं, लाभ परिणामोंके यथार्थ पालन करनेमें है।

(२ । ७ । २९)

४ प्रशंसा सुनकर हर्षित होना मानी जीवोंकी प्रकृति है। मन्द्बुद्धियोंकी प्रशंसा करना अपनी मूर्खताका परिचय देना है।

(२१ । ७ । २८)

५ अपनी गलतियोंको छिपानेके अभिप्रायसे ही मनुष्य आत्म प्रशंसा और पर निन्दा कर दुर्गतिके पात्र बनते हैं।

(२८ । ५ । २९)

६ जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीमें सानन्द जीवन व्यतीत करो। जगतका वैभव देखकर लालच मत करो। परजन्य वस्तु अथवा मान अनात्मीय जान उन्हें त्यागो। कभी भी अनात्मीय पदार्थोंके संग्रहका यत्न करोगे भी तो आखिर वह सब निमि-

साधन ही तो है अतः निमित्तके अभावमें उनका अभाव भी निश्चित ही है।

(११।६।४०)

७ परकी निन्दा श्रवणकर हर्ष मानना तथा अपनी प्रशंसा श्रवणकर हर्ष मानना क्षुद्र जीवोंका काम है। आत्मा वास्तवमें न हर्षरूप है न विषादरूप है, यह दोनों विकारज भाव हैं। हर्ष विषाद दोनों मोह जन्य हैं। मोह जन्य जो भाव हैं वे अनात्मीय हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे आत्माके हैं ही नहीं किन्तु मोहज होनेसे विकारी हैं अथवा इनके अभावमें स्वयमेव विलय जाते हैं। अथ च आत्माको आकुलता जनक हैं अतः अनात्मीय है।

(२५।७।४०)

८ सब जीवोंको सुख सिद्धिमें बाधक कारण आत्मश्लाघा है। प्रायः सभी जीव यह चाहते हैं कि मैं ही श्लाघ्य हूँ। यह जीव पुण्यकर्मको ही उपादेय समझते हैं, अतः ऐसे जीव अपने सुखके अपने आप घातक हैं।

(२६।११।४०)

९ परसे अपनी प्रशंसाकी चाह करना ही संसार गर्तमें पतनका कारण है। संसारका मूलकारण यही विजातीय परिणति है।

(१५।८।४४)

१० लौकिक प्रतिष्ठा पतनका कारण है। जिन्हें उसके द्वारा हर्ष होता है वह तत्त्वज्ञानसे पराङ्मुख हैं। ये दोनों अनात्मधर्म हैं।

(१।१०।४४)

११ निन्दामें विषादका होना और प्रशंसामें हर्षका होना तो प्रायः बहुत मनुष्योंको होता है परन्तु हमको तो निन्दा ही अच्छी नहीं लगती। और प्रशंसामें भी खेद होता है। वास्तवमें ये अनात्मीय धर्म हैं। इनमें रागद्वेष करना सर्वथा वर्जनीय है।

(स्मृति १९४४)

मंगल ज्योति

मङ्गल ज्योति

(विद्वान, संस्थाएँ, मन्दिर और समाजका सङ्गठन)

१ विद्वानोंमें एकता—

हम (विद्वान्) लोगोंमें जो परस्पर मनोमालिन्य है उसे दूर कीजिये। यह केवल कल्पनाओंमें नहीं, अर्थ रूपमें होना चाहिये। मुझे विश्वास है कि विद्वान् लोग सरल होते हैं सहजहीमें मनोमालिन्यको मिटा देंगे। आप लोग जानते हैं, अन्दरसे भेदभावोंको उत्पन्न होते हैं तब उसका प्रभाव आपपर भी तो होना चाहिये। आजतक समाजकी जो व्यवस्था चल रहा है यह उन्हीं का वैभव है। तब आप भी इसका सूक्ष्मदृष्टिसे अवलोकन करें। जो उन्नत समाजकी व्यवस्था करनेमें समर्थ हो और अपना व्यवस्था न कर सके यह बात तो कुछ समझमें नहीं आती। ये लोग समाज सुधारके लिये तो प्राणपनसे परिश्रम करते हैं और अपनी सुजनताकी ओर उदासीन रहें, यह नहीं हो सकता। अत मैं तो इसमें मगन हूं कि आपलोग आपसमें एक होजावें, इसके लिये पाण्डवोंका दृष्टान्त पर्याप्त है। मुझे आपलोगोंके अन्दर ही मैं आनन्द है। आपलोगोंके सान्निध्यमें अब समाजका धनिकवर्ग पण्डितोंका पूर्णरूपसे आदर करनेमें अपनी प्रतिष्ठा मानता है। यह बात नवीन नहीं पहिले समयमें भी समाजमें विद्वानोंका आदर होता था। हाँ हम भी यदि परस्परमें एक दूसरेकी अवहेलना करने लगें तो समाजका इसमें कौनसा अपराध है?

वर्तमानमें समाजमें कई विद्वान उत्तमसे उत्तम हैं। जिनकी गणना भारतवर्षके उत्तम विद्वानोंमें की जाती है। ऐसे हमें विद्वान

समाजमें हैं जो सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, दर्शन एवं साहित्य शास्त्रोंके विषयको बड़े से बड़े विद्वानोंके समक्ष रखनेमें सङ्कोच नहीं करते। अनेक विद्वान् तो अब व्रती भी होगये हैं। शुद्ध भोजन करनेवाले तो प्रायः बहुत मिलेंगे। अपवादको लेकर जो कोई विद्वानोंके मत्थे दोष मढ़ता है वह अविरतको नहीं समझता। श्रद्धा और वस्तु है, त्याग और वस्तु है। सबसे महान् त्याग तो श्रद्धाके उदय हो जानेपर हो जाता है। आप जानते हैं कि श्रद्धा होते ही अनात्म पदार्थमें जो आत्मबुद्धि थी वह तो एकदम पलाय मान हो जाती है। अर्थात् एक करोड़ रुपयेका कर्जदार यदि ९९,९९,९९९॥।≡) अदा कर देवे तब एक आना जो शेष रहा उसका देना कौनसा कठिन है। ऐसा ही मैं सम्यग्दृष्टिको मानता हूँ। अतः ज्ञानीजनोंमें अल्प अविरतिकी त्रुटि देख मजाक उड़ाना सभ्यताके विरुद्ध है। विद्वानो! यदि आपलोग शीघ्र ही धर्मका उत्थान चाहते हैं तो परस्पर ३६ से ६३ हो जाइये। मैं आपको शिक्षा नहीं देता परन्तु आपने जो मेरा आदर किया (विद्वत्सम्मेलनके तृतीय अधिवेशनका सभापति बनाया) उसका मैं यही बदला चुका सकता हूँ। आपके अभ्यन्तरमें जो औदयिकी कलुषता आगई उससे आपकी पारमार्थिक हानि है और उसके दानसे आपका उत्कर्ष है वह आप मुझे भिक्षारूपमें देकर निर्मल बनिये।

मैं क्या करूँगा? इसकी चिन्ता छोड़िये। मैंने बाल्यावस्थासे त्याग सीखा है, इसको त्यागनेमें एक मिनट न लगेगा, क्योंकि मुझे कई बार ऐसे अवसर आये हैं कि जो वस्तु मिली तुरन्त दूसरेको दे दी। अभी आपकी इस कलुषताके ग्राहक बहुत हैं क्योंकि यह पञ्चमकाल है। इसमें परिग्रहको सञ्चय करनेवाले बहुत हैं, उन्हें देकर यह बला टाल दूँगा। यदि इस अवसरको आप टाल देंगे तो पश्चात्तापके पात्र होंगे। जिसमें

आपकी कीर्ति निर्मल हो और आप उसे न चाहें तब आपलोग पण्डित कैसे ?

२ छात्रोंको सुबोध बनाना—

एक मुख्य कार्य विद्वानोंको यह करना चाहिये कि पठनक्रम समयके अनुकूल हो। आजसे ४० वर्ष पहिले जो बुद्धिबल था उसका अब बहुत अशमें ह्रास है। अतः पठनक्रमको हलका करना चाहिये। छात्रोंको सुबोध बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। स्नातक होनेके अनन्तर छात्रको सबसे पहिले अनुभवी विद्वानोंके समागममें रहना चाहिये। इसका व्यय जिस विद्यालयमें छात्रने अध्ययन किया है उससे दिया जावे।

३ संस्थाओंका एकीकरण—

जितनी शिक्षा संस्थाएँ हैं वे परस्पर एक सूत्रमें बँध जावें। मुख्य केन्द्र स्थान बनारस हो। और शेष विद्यालय प्रथम, मध्यम, और शास्त्री तकही शिक्षा दें। आचार्य परीक्षाके लिये बनारसके विद्यालयमें रहें। एक छात्र दो परीक्षाओंमें ही बैठे। एक गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज परीक्षा बनारस और दूसरी अपनी समाजके प्रतिष्ठित परीक्षालयकी परीक्षा देवे। इसके बाद पुस्तक सम्पादनका कार्य भी यदि परस्पर सम्मतिसे हो तब बहुत ही उत्तम होगा।

संस्थाओंके एकीकरणकी आप लोग चेष्टा कीजिये। चेष्टा करनेमें जितनी परिणामोंकी निर्मलता है उसे कदापि न त्यागिये। उसमें मानापमानकी वासना भी न हो। मैं भी भगवानसे यही प्रार्थना करता हूँ कि हे प्रभो, लोगोंको ऐसी सुमतिका सहारा दो, जो इनका उद्धार हो। इस समय इनकी दशा दयनीय है। यदि इस समय आपने सहारा न दिया तब इनका उद्धार होना अशक्य

है। हम लोगोंका आपसे कहनेका पूर्ण अधिकार है क्योंकि हमारा भारत ही इस विपत्तिकालमें भी आपके साङ्गोपाङ्ग विभवको प्राय प्रतिवर्ष दिखा रहा है। यद्यपि निष्काम भक्तिकी विशेष महिमा है, परन्तु यह कामना भी तो आपके ही दिव्य-ज्ञानकी प्रभावनाके लिये है।

अब संस्थाओंके सञ्चालकोंसे भी मेरा नम्र कहना है कि अन्तरङ्ग परिणतिको निर्मलकर व्यर्थ जो समाजके धनका दुरुपयोग हो रहा है, उसकी रक्षाके लिये इन संस्थाओंको एक सूत्रमें सङ्गठनकर यथायोग्य कार्य चलानेका प्रयास करिये। केवल शिक्षा संस्थाओंके ही एकीकरणकी आवश्यकता नहीं, जो रुपया मन्दिरोंका है उसकी भी व्यवस्थाकी आवश्यकता है।

४ मन्दिरोंकी सुव्यवस्था—

मन्दिरका द्रव्य धर्मार्थ आया हुआ द्रव्य है परन्तु आज जो मनुष्य मन्दिरके द्रव्यका स्वामी बन जाता है वह शेषको तुच्छ समझने लगता है और जो मन्दिरका द्रव्य उसके हाथमें रहता है उसको अपना समझने लगता है। किन्तु समय पाकर वह दरिद्र बन जाता है। अन्तमें जनताकी दृष्टिमें उसका आदर नहीं रहता। अत मनुष्यताकी रक्षा करनेवालेको उचित है कि मन्दिरका द्रव्य अपने उपयोगमें न लगावे। द्रव्य वह वस्तु है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य न्याय मार्गसे च्युत होनेकी चेष्टा करने लगता है। न्याय मार्ग तो यह है कि आजीविकाका अर्जन इस रीतिसे करे जिसमें अन्यके परिणाम पीडित न हो। जहाँ आत्म परिणाम सङ्क्लेशित हो वहाँ विशुद्ध परिणामोंका अभाव हो जाता है। जहाँ विशुद्ध परिणामोंका अभाव होता है वहाँ शुद्धोपयोगको अवकाश नहीं।

५ समाजका सङ्गठन—

विद्वानोंमें एकता, सामाजिक संस्थाओंका एकीकरण एवं पाठ्यक्रम व्यवस्थाके साथ मन्दिरोंकी सुव्यवस्थाकी भी आवश्यकता है। और उसके भी साथ हमें समाजके एकीकरणकी आवश्यकता है। यदि यह एकीकरण नहीं कर सके, तब सब त्याग ही है। परन्तु साहूकारका त्याग दुर्लभ है। अतः इस त्यागके बिना आपके दोनों एकीकरण अल्पकालमें शिथिल हो जायेंगे। अतः सबसे पहिले समाजका एकीकरण करनेका प्रयास, जिसके सद्भावमें क्षीणमोह होनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति जैसे ध्रुव है, उसी प्रकार यह कार्य अनायास होनेकी सम्भावना है।

(दि० प०के तृ० अ०के अन्तिम दिन दिये गये भाषण और एक [illegible]

सङ्गठन

१ आजका समाज अनेक कारणोंसे फूटका शिकार बना हुआ है। यत्र तत्र बिखरा हुआ है। वर्णगत, जातिगत, दलगत व्यक्तिगत ऐसे ऐसे अनेक कारण एकत्र हुए हैं जिनके कारण सङ्गठनकी नींव बहुत कच्ची हो चुकी है। ऐसे समाजमें एकता करना महापुरुषोंका काम है। जिस समाजमें कलहकारी मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं वह समाज नियमसे पतनके सम्मुख हो जाता है। अतः समाजकी उन्नति चाहनेवालोंको यही उचित है कि इन समाज कण्टकोंसे समाजको सुरक्षित रखें अन्यथा एक दिन यह समाजको अकिञ्चित्कर बना देंगे।

(१।८।४०)

२ विशेषकर पर्वके दिनोंमें सभीके परिणाम विषय कषायोंसे सुरक्षित एवं पवित्र रहते हैं। यदि इन पर्वोंमें पारस्परिक मनोमालिन्यको मिटानेका प्रयत्न किया जाय तो अति सुन्दर कार्य हो। परन्तु उसकी ओर लक्ष्य नहीं। केवल बाह्य त्यागकी ओर दृष्टि देकर अपने जन्मको सार्थक मानकर कृतकृत्य हो जाते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयकी ग्रन्थिको भेदकर क्षमा गुणको धारण करें, परस्परके विद्वेषवृक्षको निर्मूलकर सङ्गठनका बीज वपन करें। इससे समाज सुधारका बहुत काम हो सकता है।

(१६।८।४०)

३ आजकल सभी मनुष्य उन्नतिका राग अलापते हैं परन्तु जबतक परस्पर मनोमालिन्य है, एक दूसरेमें विश्वास नहीं,

तबतक उन्नति होना असम्भव है। जबतक लोग एक दूसरेके विरोधी रहते हैं, उनका एक दूसरेका विरोध करना स्वभावानुगत बन जाती है और जैसे बने पारस्परिक प्रेमभाव बढ़ाकर विद्वेषको हटाओ तभी सङ्गठनका शुभ काम हो सकेगा।

(१९ । ११ । ४०)

३ लोगोंसे जो काम प्रेमसे करना चाहिये उसे बलसे करनेका प्रयत्न करते हैं यही भूल परस्परमें भेद, मनोमालिन्य, विद्वेष और कलहका कारण बन जाती है।

(२१ । १२ । ४४)

४ भारतमें नाना प्रकारकी आपत्तियाँ आरही हैं। और इस देशमें जबतक परस्परमें सहानुभूति और सङ्गठन नहीं रहेगा तबतक उद्धार नहीं हो सकता। इसके उद्धारका यही उपाय है कि कोई स्वच्छ हृदय अपनापनसे प्रेम करे।

(अप्रैल १९४४)

धर्म प्रचारकी चार वर्षीय योजना

अच्छा यह होता कि एक ऐसा सुअवसर आता कि ४ निष्णात विद्वान् एक निरापद स्थानमें नियमानुसार धर्मके मार्मिक सिद्धान्तको निर्भीकताके साथ जनताके समक्ष रखते। तथा यह कहते कि आप लोग इसका निर्णय कीजिए। यदि आप लोगोंकी दृष्टिमें यह तत्त्व अभ्रान्त ठहरे तो उसका प्रचार कीजिये। यदि किसी प्रकारकी शङ्का रहे तब निर्णय करनेका प्रयास कीजिये। तथा जो सिद्धान्त लिखे जावें वहाँपर अन्यने किस रीतिसे उसे माना है यह भी दिग्दर्शन कराइये। सबमें मुख्य तत्त्व आत्माका अस्तित्व है। इसके बाद अनात्मीय पदार्थपर विचार किया जावे। जैसे व्याख्याना द्वारा सिद्धान्त दिखानेका प्रयास किया जाता है उससे अधिक लेखबद्ध प्रणालीसे भी दिखाया जावे। इन कार्योंके लिये २५०००) वार्षिक व्ययकी आवश्यकता है। चार वर्ष यह काम कराया जावे।

जो विद्वान इस कार्यको करें उन्हें २००) नगद और भोजन व्यय दिया जाय। इनमें जो मुख्य विद्वान हो उन्हें २५०) और भोजन व्यय दिया जाय। इस तरह चार विद्वानोंको ८००) और मुख्य विद्वानका २५०) और कुल भोजन व्यय २५०) के लगभग होनेसे कुल १३००) मासिक हुआ। इसके साथ अंग्रेजी साहित्यका भी एक विद्वान रखा जावे ४००) मासिक वेतन १००) मासिक भोजन व्यय उन्हें दिया जावे। २००) मासिक भृत्यों (सेवक नौकरों) को दिया जावे। इस तरह २०००) दो हजार मासिक

यह हुआ। एक वर्षमें २४०००) हुआ। १०००) वार्षिक डाक व्यय होगा।

इस तरह कुल २५०००) वार्षिक रुपयोंसे शान्तिपूर्वक काम चला तो बहुत कुछ प्रश्न सरल रीतिसे निर्णीत हो जावेंगे। अगर एक आदमी यह समझ लेवे कि एक गजरथ यही सही तो चार वर्षमें केवल एक लाख ही रुपया तो व्यय होगा परन्तु इससे बहुत कालके लिये धर्म अस्तित्वकी जो स्थायी सामग्री एकत्र होगी इसका मूल्य एक लाख नहीं, वह तो अमूल्य ही होगी।

(इटावा असाढ़ बदी २ शुक्रवार सं० २००७)

दर्शन प्रत्येक कर सके। खेदकी बात है जैसे इन लोगोंने बाह्य वस्तुको परिग्रह माना है अर्थात् जैसे मन्दिर आदिको अपना परिग्रह मानते हैं वैसे मन्दिरमें स्थापित भगवान्‌के बिम्बको भी परिग्रह माननेमें सकोच नहीं करते। यह तो दूर रहो, धर्मको भी अपना परिग्रह मान रखा है। ऐसा न होना चाहिये। जैन धर्म कोई जाति विशेषका नहीं। यदि जाति विशेषका प्रभुत्व उसपर होता तब आम जनतामें उसका प्रचार व्याख्यानादि द्वारा करना उचित नहीं। धर्मका लक्षण व्यापक होना चाहिये जो बाधित न हो। जो परिणाम आत्माको ससार दु खसे मुक्त करे और निज सुखमें स्थापित करे वही धर्म है। यह परिणाम जिसमें उदित हो जावे वही आत्मा मुक्त कहलाता है। यहापर जो विरोध परस्परमें है यह अभिप्रायकी विभिन्नताका है। अभिप्रायकी यथार्थ निर्मलता ही मोक्षमार्गका कारण है। हमको उचित तो यह है कि अपना मार्ग निर्मल करें। वही अभीष्ट स्थानपर हमें निराबाध पहुचावेगा, उस मार्गपर चलनेका सभीको समान अधिकार है।

अपनी भूल

विचारकी बात है कि शूद्र अर्हतादि पञ्चपरमेष्ठीका तो जाप्य कर सके, अन्तरङ्ग धर्म का पात्र हो सके, अनन्त ससारके कारण मिथ्यात्वका ध्वस कर सके किन्तु ईंट चूनेके मन्दिरमें न आ सके। श्री चन्द्रप्रभ आदि तीर्थङ्कर का स्मरण कर सके परन्तु उनकी जिसमें स्थापना है उस मूर्तिको न देख सके, यदि देखें तो बाहरसे देखें। बुद्धिमें नहीं आता, पाच पापको त्याग सके, अणुव्रती हो सके, अणुव्रतके उपदेष्टाओंके दर्शन न कर सके, बलिहारी इस बुद्धि की।

(वैशाख सुदी ११ स० २००७)

धर्मकी उदारता

आत्माकी प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि "जो मनमें हो वही वचनोंसे कहो, यदि नहीं कह सकते तब तुमने अबतक धर्मका मर्म ही नहीं समझा।" माया, छल, कपट, वाक्-प्रपञ्च आदि वक्रताके इन्हीं रूपान्तरोंके त्यागपूर्वक जो वृत्ति होगी वही धार्मिकता भी कहलायगी। यही कारण है कि इस विषयमें कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ।

हरिजन और उनका उद्धार—

अनन्तानन्त आत्मायें हैं परन्तु लक्षण सबके नाना नहीं, एक ही हैं। भगवान गृद्धपिच्छने जीवका लक्षण उपयोग कहा है। भेद अवस्थाकृत है, अवस्था परिवर्तनशील है। एक दिन जो बालक थे अवस्था परिवर्तन होते होते वृद्धावस्थाको प्राप्त होगये, यह तो शरीर परिवर्तन हुआ, आत्मामें भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा था, जो दिनमें दस बार पानी पाँच बार भोजन करते भी सङ्कोच न करते थे वे आज एक बार ही भोजन और जल लेकर सन्तोष करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि सामग्रीके अनुकूल प्रतिकूल मिलनेपर पदार्थोंमें तदनुसार परिणमन होते रहते हैं। आज जिनको हम नीच पतित या घृणित जातिके नामसे पुकारते हैं। उनकी पूर्वावस्था (वर्ण व्यवस्था आरम्भ होनेके समय) को सोचिये और आजकी अवस्थासे तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। उस अवस्थासे इस अवस्था तक पहुंचनेके

आदिपुराणसे निश्चित है, इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्णमेंसे ही ब्राह्मण हुए। मूलमें तीन वर्ण कहासे आये, विशेष ऊहापोहसे न तो आप ही अपनेको ब्राह्मणादि सिद्ध कर सकेंगे हैं और न शूद्र कौन थे यह निर्णय भी आप कर सकते हैं।

शूद्रोंके प्रति कृतज्ञ बनिए

लोगोंका जो उपकार शूद्रोंसे होता है अन्यसे नहीं होता। यदि वे एक दिनको भी मार्ग, कूड़ाघर, शौच गृह आदि स्वच्छ करना बन्द करदें तब पता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते हैं यदि उसका वर्णन किया जाय तो प्रवाद चल पड़े। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप पंक्ति भोजन जब होता है तब अच्छा अच्छा माल अपने उदरमें रवाहा कर लेते हैं और उच्छिष्ट पानी से सिंचित पत्तलोंको उनके हवाले कर देते हैं। जिसमें सहस्रों कीटाणुओंकी उत्पत्ति होजाती है वह उच्छिष्ट भोजन जिसे हम करावें वह क्यों न पतित होजावेगा। अच्छे अच्छे फल तो आप खागये और सड़े गले या आने काने पकड़ा देते हैं उन विचारोंको! इसपर भी कहते हो हम आर्ष पद्धतिकी रक्षा करते हैं, बलिहारी इस दयाकी, धर्मधुरन्धरता की!!! मेरा तो दृढ़तम विश्वास है कि पशु जो हैं उन्हें भी दूषित भोजन न देना चाहिये।

शूद्र भी धर्म धारणकर व्रती हो सकता है

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म किसीकी पैत्रिक सम्पत्ति नहीं। चतुर्गतिके जीव जो सम्यक्त्व उपार्जनकी योग्यता रखते हैं, भव्यादि विशेषण-सम्पन्न होना चाहिये। धर्म धातु स्वतः सिद्ध है, और प्रत्येक जीवमें है, विरोधी कारण पृथक होनेपर

उसका स्वयम् विकास होता है और उसका न कोई हर्ता है और न दाता ही है। तथापि इस पञ्चम कालमें उसका पूर्ण विकास नहीं होता चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो। गृहस्थधर्म सभी मनुष्यों-में व्यवहार धर्मका उदय होसकता है, यह नियम नहीं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही उसे धारण करें, शूद्र उससे वंचित रहें।

गिद्ध पक्षी मुनिके चरणोंमें लेट गया। उसके पूर्व भव मुनिने वर्णन किये, सीताने रामचन्द्रजीसे उसको रक्षाका भार सुपुर्द किया। जहाँ गिद्ध पक्षी व्रती होजावे, वहाँ शूद्र शुद्ध नहीं हो-सकते, बुद्धिमें नहीं आता। यदि शूद्र इन कार्योंको त्याग देवें और मद्यादि पीना छोड़ देवें तब वह व्रती होसकता है। मन्दिर आने-की स्वीकृति देना न देना आपको इच्छापर है। परन्तु इस धार्मिक कृत्यके लिए जैसे आप उनका बहिष्कार करते हैं वैसेही कल्पना करो, यदि वे धार्मिक कृत्यके लिए आपका बहिष्कार कर दें, असहयोग कर दें तब आप क्या करेंगे? सुनार गहना न बनावे, लुहार लोहेका काम न करे, बढ़ई हल न बनावे, कांछी कुरमी आदि खेती न करें, धोबी वस्त्र प्रक्षालन छोड़ देवे, चर्मकार मृत पशु न हटावे, चमारिन सौरीका काम न करे, भंगिन शौच-गृह शुद्ध न करे तब समाजमें हाहाकार मच जावेगा, हैजा प्लेग चेचक और क्षय जैसे भयंकर रोगोंका आक्रमण हो जावेगा। अतः बुद्धिसे काम लेना चाहिये। उनके साथ मानवताका व्यवहार करना चाहिये जिससे वह भी सुमार्गपर आ जावें। उनके बालक भी अध्ययन करें तब आपके बालकोंके सदृश वे भी बी ए, एम ए, बैरिस्टर हो सकते हैं, संस्कृत पढ़ें तब आचार्य हो-सकते हैं। फिर जिस तरह आप पंच पाप त्यागकर व्रती बनते हैं यदि वे भी पंच पाप त्याग दें तब उन्हें व्रती होनेसे कौन रोक सकता है? सुनारमें एक भंगी प्रतिदिन शास्त्र श्रवण करने आता

था, ससारसे भयभीत भी होता था, मासादिका त्यागी था, शास्त्र सुननेमे कभी भूल करना उसे सह्य न था।

धर्म सबका है

आप लोगोंने यह समझ रखा है कि हम जो व्यवस्था करें वही धर्म है। धर्मका सम्बन्ध आत्मद्रव्य से है, न कि शरीरसे। हा यह अवश्य है जब तक आत्मा असज्ञी रहता है, तब तक यह सम्यग्दर्शनका पात्र नहीं होता। सज्ञी होते ही धर्मका पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है कि चारों गतिवाला सज्ञी पचेन्द्रिय जीव इस अनत ससारके नाशक सम्यग्दर्शनका पात्र होसकता है। यहांपर यह नहीं लिखा कि अस्पृश्य शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादि या नरकके नारकी इसके पात्र नहीं होते। जनताको भ्रममें डालकर हरएकको बावला और अपनेको बुद्धिमान कह देना बुद्धिमानी नहीं। आप जानते हैं कि ससारमें जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और सुखका कारण धर्म है, उसका अन्तरङ्ग साधन तो निजमें है, फिर भी उसके विकासके लिए बाह्य साधनोंकी आवश्यकता है।

जैसे घटोत्पत्ति मृतिका से ही होती है, फिर भी कुम्भारादि बाह्य साधनाकी आवश्यकता अपेक्षित है, एव अन्तरग साधन तो आत्मामे ही है फिर भी बाह्य साधनोंकी अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव गुरु शास्त्र हैं। आप लोगोंने यहा तक प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं, कि अस्पृश्य शूद्रोंको मदिर आनेका भी अधिकार नहीं है। उनके आनेसे मदिरमें अनेक प्रकार विघ्न होनेकी सम्भावना है। यदि शात भावसे विचार करो तब पता लगेगा कि उनके मदिर आनेसे मदिर में अनेक प्रकार विघ्न होनेकी सम्भावना है। यदि शात भावसे विचार करो तब पता लगेगा कि

उनके मंदिर आनेसे किसी प्रकार की हानि नहीं अपितु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि महापाप संसारमें होते हैं यदि वे अस्पृश्य शूद्र जैन धर्मको अङ्गीकार करेंगे तब वह पाप अनायास ही कम हो जायेंगे। आपके वशमें ऐसा भले ही न हो परन्तु यदि दैवात् हो जाये तब आप क्या करेंगे? चाण्डालको भी राजाका पुत्र चमर ढुलाते देखा गया ऐसी जो कथा प्रसिद्ध है। क्या वह असत्य है, अथवा कथा छोड़ो, श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है। जैसे आत्मा अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्व करनेमें समर्थ है उसी तरह अनन्त संसारके बन्धन काटनेमें भी समर्थ है।

मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्य पर्यायवाला जो भी चाहे वह कोई भी जाति हो कल्याण मार्गका पथिक हो सकता है। शूद्र भी सदाचारका पात्र है, हाँ यह अन्य बात है कि आप लोगों द्वारा जो मंदिर निर्माण किये गये हैं, उनमें उन्हें मत आने दो और शासक वर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बनादे परन्तु जो सिद्धक्षेत्र हैं, कोई अधिकार आपको नहीं जो उन्हें वहां जानेसे आप रोक सकें। मन्दिरके शास्त्र भले ही आप अपने समझकर उन्हें न पढ़ने दें परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार, पुस्तकालय, वाचनालयमें तो आप उन्हें शास्त्र, पुस्तक, समाचारपत्रादि पढ़नेसे मना नहीं कर सकते। यदि वह पंच पाप छोड़ देवें और रागादि रहित आत्माको पूज्य मानें, भगवान अरहन्तका स्मरण करें तब क्या आप उन्हें ऐसा करनेसे रोक सकते हैं?

मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास है कि अस्पृश्य शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतोंका पात्र है। यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध शरीरसे है तब रहे, इसमें आत्माकी क्या हानि है? और यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध आत्मासे है तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पृश्य कहाँ रहा? मेरा तो यह विश्वास है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीमें जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तम वर्णका क्यों न हो यदि मिथ्यादृष्टि है तब परमार्थसे पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है तब उत्तम आत्मा है।

यह नियम शूद्रादि चारों वर्णोंपर लागू है। परन्तु व्यवहारमें मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका निर्णय बाह्य आचरणोंसे है, अतः जिसके आचरण शुभ हैं वही उत्तम कहलाते हैं, जिनके आचरण मलिन हैं वे जघन्य हैं। जब एक उत्तम कुलवाला यदि अभक्ष्य भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है, उसे भी पापी जीव मानो। और उसे मन्दिर मत आने दो, क्योंकि शुभाचरणसे पतित अस्पृश्य और असदाचारी है। शूद्र यदि सदाचारी है तब वह आपके मतसे भगवानके दर्शनका अधिकारी भले ही न हो परन्तु पञ्चम गुणस्थानवाला अवश्य है। पाप त्याग ही की महिमा है। केवल उत्तम कुलमें जन्म लेनेसे ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुलकी महिमा सदाचारसे ही है कदाचारसे नहीं। नीच कुल भी मलिनाचारसे कलङ्कित है। वे माँस खाते हैं, मृत पशुओंको ले जाते हैं, आपके शौच गृह साफ करते हैं, इसीसे आप उन्हें अस्पृश्य कहते हैं।

सच पूछा जाये तो आपको स्वयं स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हें अस्पृश्य बनानेवाले आप ही हैं। इन कार्योंसे यदि वह परे हो जावें तो क्या आप उन्हें तब भी अस्पृश्य मानते जावेंगे? बुद्धिमें नहीं आता कि आज भङ्गी यदि ईसाई हो जाता है और

वह पढ़ लिखकर डाक्टर हो जाता है तब आप उसकी दवा गट गट पीते हैं या नहीं ? फिर क्यों उससे स्पर्श कराते हैं ? आपसे तात्पर्य बहुभाग जनतासे है। आज जो व्यक्ति पाप कर्ममें रत हैं वे यदि किसी आचार्य महाराजके सान्निध्यको पाकर पापोंका त्याग कर देवें तब क्या वे धर्मात्मा नहीं हो सकते ? प्रथमानुयोगमें ऐसे बहुत दृष्टान्त हैं। व्याघ्रने सुकोशल स्वामीके उदरको विदीरण किया और वही श्री कीर्तिधर मुनिके उपदेशसे विरक्त हो समाधि मरणकर स्वर्ग लक्ष्मीकी भोक्ता हुई। अत किसीको भी धर्म सेवनसे वञ्चित रखनेके उपाय रचकर पापके भागी मत बनो।

जैन दर्शनकी महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपना आत्माको कषाय भावोंसे रक्षित रखता है। यदि कषायवृत्ति न गई तब वह मुनि, आचार्य कुछ भी बननेका प्रयत्न करे सब एक नाटकीय स्वांग धारण करना ही है। वे दूसरोंको तो दूर रहे अपना भी उद्धार करनेके लिये पत्थरकी नौका सदृश हैं।

अस्पृश्यता--

शूद्रोंमें भी कई मनुष्य उत्तम प्रकृतिके होते हैं परन्तु अधिकांशका चारित्र घृणित होनेसे उन्हें अस्पृश्योंकी श्रेणीमें गिना दिया जाता है। परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तब पाप करनेसे आत्मा पापी और अस्पृश्य कहलाता है। जाति या कुलमें उत्पन्न होने मात्रसे आत्मा पापी और अस्पृश्य नहीं होता। यद्यपि शास्त्रोंमें दो गोत्र माने हैं और उनका इस तरहसे विभाग किया है कि जो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुलमें उत्पन्न हो उसे उच्च गोत्री कहते हैं और इनसे अतिरिक्त शूद्रोंमें जन्म ले उसे नीच गोत्री कहते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि उच्च



क्या अस्पृश्यका अर्थ यह है कि उनके स्पर्शसे हमे स्नान करना पडता है ? या वे मद्यादि पान करते हैं इससे अस्पृश्य हैं या वे हम लोगोंके द्वारा की गई गन्दगी स्वच्छ करते हैं इससे अस्पृश्य हैं, या शरीरसे मलिन रहते हैं इससे अस्पृश्य हैं, या परम्परासे हम उन्हें अस्पृश्य मान रहे हैं इससे अस्पृश्य हैं ? यदि मद्य मांस सेवनसे अस्पृश्य हैं तब जो लोकमें उत्तम कुलके हैं और मांस सेवन करते हैं वे अस्पृश्य होना चाहिये, यदि गन्दगीके साफ करनेसे अस्पृश्य हैं तब प्रत्येक मनुष्य गन्दगी साफ करता है। वह भी अस्पृश्य हो जावेगा। शरीर मालिनता भी अस्पृश्यताका कारण नहीं है। बहुतसे उत्तम कुलवाले शरीर मलिनतासे अस्पृश्य हो जावेंगे। तब यह हो सकता है कि जो उनमें मलिनाचारकी बहुलता है वह अस्पृश्यताका साधक है। वह बहुत उत्तमकुलमें भी पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो यहां पर पापाचार मय प्रवृत्ति है वही अस्पृश्यताका कारण कल्याणके मार्गसे दूर रखनेवाली है।

मेरा विश्वास

मेरा यह दृढ़तम विश्वास है कि मनुष्य जातिमें जन्मे जीवको यदि कालादि लब्धि कारण कूट मिल जावें तब वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है और अप्रत्याख्यानका क्षयोपशम हो जावे तब देश व्रती भी हो सकता है। मेरी तो यहां तक श्रद्धा है कि चाण्डाल कुलमें जन्मा भी जीव योग्य सामग्रीके मिलनेपर उसी पर्यायसे व्रती हो सकता है। मन्दिर आने दो, न आने दो यह और बात है। यदि यह श्रद्धा होनेके कारण लोग हमारी निन्दा करते हैं। तो करें। हमें उसका कोई भय नहीं। हम उसे आगमानुकूल मानते हैं। तथा शूद्र कुलवाला वज्रवृषभनाराच संहननका धारी हो सकता

है, क्षयोपशम सम्यक्त्वी भी हो सकता है, उसे यदि श्रुतकेवली या केवलीके पादमूलका सम्बन्ध मिले तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

मेरे विचारसे चाण्डालके भी इतने निर्मल परिणाम हो सकते हैं कि वह अनन्त संसारका कारण मिथ्यात्वका अभाव कर सकता है। जो आत्मा सबसे बडे पापको नाशकर सकता है फिर भी चाण्डाल बना रहे? यह समझमें नहीं आता। चाण्डालका सम्बन्ध यदि शरीरसे है तब तो हमें कोई विवाद नहीं। जिसे विवाद हो रहे। परन्तु आत्मामें जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब वह पुण्य जीवोंकी गणनामें आ जाता है। आगममें मिथ्यादृष्टि जीवोंको पापी जीव कहा है चाहे वह कोई वर्णका हो। परन्तु हम लोग इतने स्वार्थी होगये कि विरले तो यहाँतक कह देते हैं कि यदि इन लोगोंका सुधार हो जावेगा तो हमारा कार्य कौन करेगा? लोकमें अव्यवस्था हो जावेगी अतः इनको उच्चधर्मका उपदेश ही नहीं देना चाहिये। इतना स्वार्थ जगतमें फैल गया है कि जिनके द्वारा हमारा सब व्यवहार बन रहा है उन्हीसे हम घृणा करते हैं।

किन्तु संसारमें ऐसा कौन होगा जो आत्मीय हितकी अवहेलना करे? आप जानते हैं धर्म कोई पौद्गलिक पर्याय नहीं और न पुद्गलका गुण है, और न पुद्गल ही है। धर्म वह आत्माकी पर्याय है जो मोह और क्षोभसे रहित हो। वही कहा है—

"चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥"

निश्चयकर चारित्र ही धर्म है, और आत्माका जो सम परिणाम है वही धर्म है। दर्शन मोहके उदयसे आत्मामें जो

णाम है और चारित्र मोहके उदयसे जो क्षोभ परिणाम होता है इन दोनों परिणामोंसे रहित आत्माका जो निर्मल परिणाम होता है उसीका नाम साम्यभाव है। वही परिणाम धर्म है, और उसीका नाम चारित्र है। यही मोक्षमार्ग है।

हरिजनों का कर्तव्य

१ आज हमारे हरिजन धर्म काम करते हुए भी मद्यपान आदि अवगुणोंको छोड़ देवें और जो रुपया बचे उसका स्वय मन्दिर बनवा लेवें, उसमें प्रतिदिन धर्म कथा करें, सिनेमा जाना छोड़ देवें।

२ अपने मकानको स्वच्छ रखें, झाड़नेकी झाड़ू टोकनी मकानसे पृथक् रखें, बल्कि म्युनिसपिलसे प्रार्थना कर एक पृथक् गृह इन सफाईके साधनों (झाड़ू टोकनी आदि) को रखनेके लिये रहे।

३ बाजारकी सड़ी गली वस्तुए खाना छोड़ देवें।

४ जब कुएपर पानी भरने जावें तब स्वच्छ बर्तन लेकर जावें।

५ निरन्तर अपनी सन्तानको स्वच्छ रखें।

६ जो कोई कुछ देवे स्वच्छ हो तभी लें, यदि गन्दा हो तो शीघ्र ही लेनेसे इन्कार कर दें। यह कहें। हम भी मानव हैं, आपको लज्जित होना चाहिये ऐसा निन्द्य व्यवहार करते हो। उचित तो यह है कि उतना ही भोजन परसाओ जितना खा सको। तृष्णा पापकी जड़ है, उसे छोड़ो। बहुत दिन आपका आचरण शिष्ट समुदायके विरुद्ध रहा। इसीसे आजतक विदेशी शासनके दास रहे। अब स्वराज्य पाकर भी यदि इन निन्द्य कृत्यासे अपनी रक्षा न कर सके तब यही दशा होगी।"

(सन् १९४९,५१ की दैनं दनी, रजिस्टर और स्मृति पुस्तिकास)

परोपकार

क्षेत्रकी विषमता—

हमारा जिस क्षेत्रमें जन्म हुआ, वह कर्मभूमिसे प्रसिद्ध है। यहाँपर मनुष्य समाज एक सदृश नहीं है। कोई वैभवशाली है कोई तनपर वस्त्र भी नहीं है। कोई आमोद प्रमोदमें अपना समय यापन कर रहा है, तब कोई हाहाकारके शब्दों द्वारा आक्रन्दन कर रहा है। कोई अपने स्त्री पुत्र भ्राता आदिके साथ तीर्थ यात्राकर पुण्यका पात्र हो रहा है, तब कोई उसी समय अपने अनुकूल प्राणियोंको लेकर वेश्यादि-व्यसन सेवनकर पाप-पुञ्जका उपार्जन कर रहा है। कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्मभूमिमें अनेक प्रकारकी विषमता देखी जाती है। यही विषमता "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" इस सूत्रकी यथार्थता सिद्ध कर रही है।

मातृजनोंके क्षेत्रमें—

जो ससारसे विरक्त हो गए हैं और जिन्होंने अपनी कषायादि विभाव परिणतियोंपर विजय प्राप्त कर ली है उनका यही उपकार है जो प्राणीको सुमार्गपर लगावें। हम लोगोंको उनके निर्दिष्ट मार्गपर चलकर, उनकी इच्छाकी पूर्ति करनी चाहिए। तथा उनकी वैयावृत्य करना उचित है। तथा जब आहारका काल, तब उन्हें यथागम रीतिसे आहार दान देकर, उन्हें निराकुल करनेका यत्न करना चाहिए।

विद्वज्जनोंके क्षेत्रमें—

जो विद्वान हैं, उन्हें उचित है कि ज्ञानके द्वारा संसारका

अज्ञान दूर करे। और हम अज्ञानी जनोंको उचित है जो उनके परवारादिके पोषणके लिये भरपूर द्रव्य देवें।

द्रव्यका उपयोग—

यथा हमारे यदि धनकी विपुलता है तब उसे यथोचित कार्योंमें प्रदानकर जगतका उपकार करना चाहिए। जगतका यह काम है, जो हमारे प्रति महानुभूति रक्खे। यदि सचित धनका उपयोग न किया जावेगा, तब या तो उसे दायाद्गण अपनावेगा या राष्ट्र ले लेगा।

शरणार्थी सहायता—

जब ऐसी ससारकी व्यवस्था है, तब वर्तमानमें, जब बगाल और पजाबमें लाखों मनुष्य गृहविहीन हो रहे हैं, तब जिनके पास पुष्कल द्रव्य है, वे उसे उनकी रक्षामें लगा देवें। तथा जिनके पास पुष्कल भूमि है, उसमें गृहविहीन मनुष्योंको बसावें तथा कृषि करनेको देवें। जिनके पास मर्यादा से अधिक वस्त्रादि हैं, उन्हें उन लोगोंमें, अपने योग्य रखकर वितरण कर देवें। तथा जो भोजन मर्यादासे अधिक खाया जाता है, उसे परिमित कर शरणार्थियोंकी रक्षामें लगाया जावे। यदि इस पद्धतिको अपनाया जावेगा तब जनता कम्यूनिस्ट न होगी। अन्यथा यह समय अल्प समयमें आनेवाला है, जब भारतवर्ष अपनी पुरानी धार्मिक परम्परासे बहुत दूर चला जायगा। अत उसके पहले अपनी परिणतिको सुधारो और यथेष्ट दान देकर परलोककी रक्षा करो।

इस समय भारतवर्षमें अनेक आपत्तियाँ आ रही हैं। जिधर देखो उधरसे रुपयोंकी आवश्यकता है। मेरी तो यह सम्मति है, कि प्रत्येक कुटुम्ब, उसके यहाँ जो दैनिक व्यय भोजन वस्त्रादिमें होता हो उसमेंसे १) रु० मे एक पैसा इस परोपकारमें प्रदान करे,

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

स्त्रियों की समस्याएँ

दुःखकी बात यह है कि स्त्रियोंकी समस्याएँ दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं, और जब समस्याएँ बढ़ती हैं तब स्वभावसे उलझनें भी आरहीं हैं। ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं जिसमें समस्या न हो।

बाल जीवनकी समस्याएँ

कन्याका जन्म सुनते ही लोग अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं—"हाय! हम सोचते थे लड़का होगा, पर लड़की हुई! भाग्यमें जो होता है, वही मिलता है" आदि ऐसे वचन मुखसे लोग कहते हैं जिनमें अपमान प्रतीत होता है। ऐसी प्रथा ही चल पड़ी है कि जो उत्सव लड़केके जन्ममें मनाया जाता है वह लड़कीके जन्ममें नहीं मनाया जाता! एक दिन तो ऐसा भी रहा है कि कन्याके साथ इतना पक्षपात किया गया कि उसका होते ही मरजाना अच्छा समझा गया! अस्तु, उसे प्रेम किया भी जाता है तो वैसा नहीं, जैसा लड़केसे किया जाता है? लालन पालन यहाँ तक कि शिक्षाके विषयमें भी उसे वह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता जो लड़केको होता है!

युवा जीवनकी समस्याएँ

कन्या जैसे बड़ी हुई, विवाहकी समस्या सामने आती है। कन्यावालेपर डाका पड़ता है। इसका विवरण सुनो तो विष् शब्दोंका प्रयोग होने लगेगा। लड़का कहता है लड़की दिखाओ। दैवयोगसे रूपमें उत्तीर्ण होगई तब पूछता है मैट्रिक पास है? दैव-

रोगमे उसमें भी उत्तीर्ण होगइ तब [illegible]
बजाना जानता है ? नृत्य जानती है ? [illegible]
होना तो लड़कीकी परीक्षा हुई । अब [illegible]
आया । फिर क्या प्रश्न होता है—[illegible]
ला तभी पटेगा, एक मोटर, एक [illegible]
रुपये नगद । यदि इसमें अनुत्तीर्ण हु[illegible]
पड़ा और अगर उसमें कुछ कमी [illegible]
कटु शब्दका प्रयोग उनके प्रति होता है [illegible]

पति यदि विवेकशील न हुआ तब [illegible]
रि सन्ततिके प्रसवमें भी अनेक कष्ट [illegible]

मनुष्य प्राय गर्भमें बालक रहने [illegible]
उस समय गर्भस्थ बालकके कष्टको [illegible]
जैसे नव मास पूर्णकर गर्भमें [illegible]
होनेमें यथाशक्ति अपव्यय किया । [illegible]
इकतालीस दिनके हुए तब माँके [illegible]
आया । यह तो बात छोड़िए, अब [illegible]
शुधाने सताया हमारे पास अन्य [illegible]
"लालाला रोदन बलम्" । क्षुधाके [illegible]
अफीम, अपने मनमें दुःख निकालक[illegible]
मिला दिया । नशेमें मस्त होगए, माँ [illegible]
या तीन घण्टेमें होश हुआ फिर रोने [illegible]
अरे ! बालक भूखा है, दूध पिला[illegible]
इसीसे मानो आन्तरिक विचार करको—

किसी दिन यदि क्षुधादके [illegible]
तब फिर क्या गोदीमें लेकर सखि[illegible]
को दृष्टि लग गई इसे झाड़से [illegible]

भाड दिया। अथवा यह नहीं किया तब जहाँ मुसलमान नमाज पढ़ते हैं, वह नमाज पढ़कर जब अपने गृहको जाते हैं, अनेक स्त्रियाँ गोदमें बच्चे लिए खड़ी रहती हैं। उनके बालकोंके मुखपर उनकी सभी फूँक लगाते हैं, उस समय मुखसे कफादि भी बालक के मुखकमल पर पड़ते हैं। अथवा यदि बालक हुआ तब स्त्री के नेत्रोंमें दूषित भावका प्रवेश कराके जो जो दुर्दशा उस स्त्री की होती है, वह जानता है। जो भारत अपने पवित्र भावोंके द्वारा जगतमें श्रेष्ठ था आज जो उसकी अवनत दशा हो रही है सो वर्णन करना हृदयको व्यथा देना है।

बाल्यावस्थामें बालककी शिक्षा माताके ऊपर निर्भर है, माँ अपनी वप भूषासे ही अवकाश नहीं पाती। यह भी बोध नहीं, बालकके समक्ष पुरुषसे हास्यादि नहीं करना चाहिए, परन्तु क्या लिखें? बालक माता पिताओंसे प्रायः विषय सेवनकी प्रणाली सीख जाते हैं। जहाँपर बाल्यावस्थामें ऐसे कुत्सित संस्कारोंकी शिक्षा मिल जाती है। वहाँ उत्तर कालमें कहाँतक सुमार्गकी शिक्षा मिलेगी? इसीसे अनुमान करलो।

जब पाँच वर्षका हुआ स्कूल जाने लगा फिर गधाका 'ग' घोडाका 'घ' बिल्लीका 'ब' कुत्ताका 'क' आदि एक वर्षतक पढनेमें आया। परमात्माके स्मरणकी कथा छोडो। किसी तरहसे चार क्लास पास हुए, अंग्रेजी पढनेमें लग गए। अब रहने-सहनेका भी परिवर्तन होगया। जिस तिस प्रकारसे एन्ट्रेंस पास किया, पश्चात् कालेजका शरण लिया। यहाँ पर रगको छोड़कर अंग्रेज बन गए। जो लोग आंग्ल भाषाको नहीं जाननेवाले हैं, उन्हें ड्रेमफूल कहनेमें सङ्कोच छूट गया। किसी प्रकार बी० ए०, एम० ए०, एल० एल० बी० डिग्रियाँ प्राप्त करलीं।

विवाहकी बात होने लगी, लड़की बी० ए० पास है, रग गोरा

है, गाना बजाना जानती है। १००००) २००००) रुपये देंगे, पहले लड़की देख लेवेंगे। विशेष क्या लिखें, जैसे-तैसे विवाह सम्पन्न होगया। अब दम्पति होगए, पिताजी कहते हैं, अपने यहाँ मौलिक रीतिसे व्यापार चला आरहा है, उससे आजीविका करो, नहीं पढ़नेका फल यह नहीं। गवर्नमेंट सर्विस करेंगे, किसी भाग्योदयसे उत्तम सर्विस मिल गई तब तो महाशय और गृहिणी का व सुखसे निर्वाह होने लगा। यदि उत्तम सर्विस न मिली तब जो दशा होती है, वह सब साधारणको विदित है। इस तरह सारी समस्याएँ उसके सामने आती हैं। अपने पतिकी पत्नी, पुत्रकी माता, और बहूकी सास—इन तीनोंकी समस्याओंका भार लेकर उसे दुर्गम जीवन पथपर चलना होता है। यह भी उस बुढ़ापेकी अवस्थातक जिसमें समस्याओंका अन्त नहीं होता। अस्तु!

भोजनकी समस्या—

जिस भोजनकी आवश्यकता शरीर स्थितिके लिये आवश्यक है वह भी उलझी हुई है। स्त्रियोंका भोजन तब होता है जब पुरुष कर चुकते हैं। उनके बाद जब भोजन ठंडा हो जाता है तब स्त्रियाँ करती हैं। एक तो उनसे खाया ही नहीं जाता, यदा कदा खा भी लिया तो वह सुपच नहीं होता।

रहन सहन और धार्मिक समस्याएँ—

सबसे अधिक कष्ट स्त्रियोंका गर्मीका होता है, क्योंकि मनुष्य तो कटिभागसे ऊपरी भागको निरावरण रखते हैं। स्त्रियाँ तो हाथकी अँगुलीको भी निरावरण करनेमें आत्मीय अपमान समझती हैं। मुखको निरावरण करनेमें सकोच करती हैं। पुरुषोंने भी ऐसे प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं। कहाँतक कहा जावे, मन्दिरमें जब वे श्रीदेवाधिदेवका दर्शन करती हैं, वहाँपर प्रमुखरूपसे दर्शन-

का लाभ नहीं ले सकतीं। यदा कदा दर्शन करनेके अनन्तर यदि शास्त्र-प्रवचनमें पहुँच गई, वहाँपर भी वक्ताके वचनोंका पूर्णरूपसे कर्णोंतक पहुँचना कठिन है। प्रथम तो कर्णोंपर वस्त्रका आवरण रहता है। तथा पुरुषोंसे दूरवर्ती उनका क्षेत्र रहता है। दैवयोगसे किसीके गोदमें बालक हुआ और उसने क्षुधातुर हो रुदन प्रारम्भ कर दिया, तब क्या कहें? सुनना तो एक ओर रहा, वक्ता प्रभृति मनुष्योंके वाग्बाण प्रहार होने लगते हैं। "बालकवाली बाहर चली जावे, हमारे विघ्न मत करो"। इसे श्रवणकर शास्त्र श्रवणकी जो जिज्ञासा स्त्री-समाजमें थी, वह विलीन हो जाती है। अतः पुरुष वर्गको उचित है, जो जिसमें जन्मा वह माँ ही तो है। उसके प्रति इतनी बलात्कारिता न करनी चाहिए। प्रत्युत सबसे उत्तम स्थान उन्हें शास्त्र प्रवचनमें सुरक्षित रखना चाहिए।

महिला महत्त्व—

यदि स्त्री-वर्ग शिक्षित होकर सदाचारिणी हो जावें, तब आज भारत क्या जितना जगत मनुष्योंसे गम्य है, सभ्य हो सकता है। आज जो समस्या उत्तमसे उत्तम मस्तिष्क वाले नहीं हल कर सके, अनायास हल हो जावेगी। इस समय सबसे कठिन समस्या 'जन संख्याकी वृद्धि किस उपायसे रोकी जावे" यह है? अनायास शिक्षित स्त्री वर्ग उसे भी कार्यमें परिणत कर सकता है। जिस कार्यके करनेमें राजसत्ता भी हार मानकर परास्त हो गई, उसे सदाचारिणी स्त्री अपने पतियोंको यह उपदेश देकर उन्हें सुमार्गपर ला सकती है—"जब बालक गर्भमें आ जावे तब आप और हमारा कर्तव्य है कि जबतक वह बालक उत्पन्न होकर पाँच वर्षका न हो जावे, तबतक विषय-वासनाका त्याग देवें।" ऐसा ही प्रत्येक स्त्री सभ्य व्यवहार करे, इस प्रकारकी प्रणालीसे सुतर

वृद्धि कर जावेगी। इसके होनेसे भी लाखों रुपये डाक्टर, वैद्य, दुकानदार, शिक्षित वर्ग, विदेशी खिलौने आदिमें जाते हैं वह बच जावेंगे। तथा सा. नी० मी० के चिकित्सागृह हैं, वह सुतरा अनावश्यक हो जावेंगे। आजकी जो कमी है, वह भी न रहेगी। दुग्ध खूब मिलने लगेगा। मन्दिरोंमें द्रव्यका व्यय न होगा। गृहस्थोंकी पुष्कलता हो जावेगी। इस विषयका यदि पूर्णरूपसे वर्णन किया जावे तो एक महाभारत बन जावेगा। अब आवश्यकता है—स्त्रीसमाजको सभ्य बनानेकी। यदि वह समाज चाहे तब आज बड़े-बड़े मिलवालोंको चकमें डाल सकता है। उत्तमसे उत्तम धोती मिल मिलामें निकलता है वह स्त्री-समाज पहनना बन्द कर देवे, तब मिलवालोंकी क्या दशा होगी? सो उन्हें पता लग जावेगा, करोड़ोंका माल यों ही बरबाद हो जावेगा। यह क्या छोड़ो, आज स्त्री समाज काच की चूड़ी पह नना बन्द कर देवे और उसके स्थानपर चाँदी-सुवर्णकी चूड़ीका व्यवहार करने लगे तब चूड़ीवालोंकी क्या दशा होगी? गोनेको मजदूर न मिलेगा। आज स्त्री समाज चटक-मटकके आभूषणोंको पहनना छोड़ देवे तब सस्तो सुनारोंकी दशा कौन कह सकता है? इसी तरह यह पाउडर लगाना छोड़ देवे तब विलायतकी पाउडर कम्पनियाँ समुद्रमें पाउडर फेंक देगी। अत स्त्री-समाजके शिक्षित सदाचारसे ससारके अनेक व्यापार बन्द हो सकते हैं। यही कारण है जो मनुष्य इन्हें सदाचारकी शिक्षा नहीं देते। दूसरे यदि इन्हें शिक्षा सदाचारकी दी जावे तो पञ्चम कालमें चतुर्थ कालका दृश्य आ सकता है। चतुर्थ कालमें यही तो था कि बहुल भावसे प्राणी सुमार्गमें प्रवृत्ति करता था। इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य मनुष्य पापमें लिप्त नहीं होते थे, पापकी प्रवृत्ति थी परन्तु सुमार्गका प्रचार होनेसे उनकी ओर जनताका लक्ष्य

नहीं रहता था। यही कारण है कि स्त्रियोंमें अधिकांश प्रवृत्ति मोह रूप रहती है। अतः उनमें अनेक गुणशालिनी होनेपर भी बहुभाग समीचीन मार्गसे विमुख होनेके कारण उनकी गणना उत्तम जीवोंमें नहीं की जाती।

हमारा कर्तव्य—

अब शिक्षाका प्रचार अधिक हो गया है। स्त्रियाँ भी पुरुषों जैसी उच्च शिक्षा प्राप्त करनेमें आगे बढ़ रही हैं। समझदारी उनमें आ गई है। हमारा कर्तव्य है कि स्त्रियोंकी उलझी हुई समस्याओं के सुलझानेमें योग दें। जिससे वे अपने सदाचार और स्वाभिमानको सुरक्षित रखती हुई आदर्श बन सकें। सीता, मैना-सुन्दरी, कौशिल्या और त्रिशला स्त्रियाँ ही तो थीं, उनके आदर्शसे आज विश्वमें भारतका मस्तक उन्नत है। अपनी घर बेटियों, बहिनों और माताओंके सामने ऐसे ही आदर्श रखिए तब अपने घरको स्वर्ग देखनेकी कामना कीजिये।

(असाढ़ बदी ७ सं० २००७)

विश्व-बन्धुत्व

विश्वके साथ बन्धुता स्थापित करना परम पुरुषका कार्य है। इसके लिये नितान्त पवित्र परिणामोंकी आवश्यकता है। पवित्र परिणाम रखनेका उपाय यह है कि स्पष्ट वचनका व्यवहार करो। जो मनमें हो उसे व्यवहारमें लाओ। यदि किसीके प्रति तुम्हारे हृदयमें असद्भाव उत्पन्न हुए हैं तब उन्हें रोकनेका प्रयत्न करो। यदि उनको नहीं रोक सकते तो उस प्राणीसे कह दो— 'प्रिय बन्धु! मुझे खेद है कि मेरे परिणाम आप सदृश महानुभावके प्रति अनिष्ट करनेके हुए। इनसे आपका कुछ भी अनिष्ट होनेका नहीं क्योंकि आपकी आत्मा विपरीत भावसे रहित है, आपका तो जितने भावमें हैं उनके प्रति रागद्वेष नहीं, क्योंकि अभिप्रायसे आप निर्मल हो गये हैं। आपकी अज्ञानता चेतना चली गई है अब आप न तो कर्म-चेतनाके कर्ता हैं और न कर्मफलके भोक्ता ही हैं। हमारी अज्ञानता हमसे नाना कल्पनाएँ करा रही है, और उसीके आवेशमें आकर आप जैसे भद्रोंके प्रति हमारे द्वारा अभद्रता हो रही है। आप हमारे प्रति साम्यभाव ही रखते हैं। यह आपकी सौम्य परिणतिका प्रभाव है परन्तु इससे हमारा लाभ नहीं। कुछ परोपकारकी दृष्टि और धर्मानुरागसे या अनुकम्पासे हम जैसे अज्ञानियोंके प्रति कुछ ऐसा वस्तु स्वरूप प्रतिपादन करनेकी चेष्टा कीजिये जिससे हमारी आत्मामें भी निर्मलता आवे। आखिर हम भी तो आपके बन्धु हैं। कर्मकी बलवत्तासे इन अनात्मीय भावोंके जालमें आ गये। यदि आपसे प्रबलतम आत्माओंके समक्ष हमारी यह पराधीनता न छूटी तब आपसे

महापुरुषोंके सम्पर्कसे क्या लाभ ? अब अब विलम्ब न कीजिये झटिति शुद्ध मार्गका उपदेशकर इस बन्धनसे मुक्त कीजिये।"

इतनी अभ्यर्थना सुननेके पश्चात् एक तो वह व्यक्ति नम्र हो जायगा, यदि उसके हृदयमें कषाय उत्पन्न भी हुई होगी तो वह निर्मूल हो जावेगी। साथ ही इतनी विनय करनेका प्रभाव तुमपर अवश्य पड़े बिना न रहेगा, तुम्हारी आत्मा भी निष्कषाय हो जावेगी जहाँ दोनोंके हृदय निष्कषाय और नम्र हो गये वहाँ बन्धु-स्नेह उमड़ पड़ेगा। तुम्हारे इस व्यवहारको देखकर न जाने कितने लोग इस पथपर चलकर आत्म कल्याण कर लेंगे ?

(अषाढ वदी ९ सं० २००१ स्मृति पुस्तिकासे)





"यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तत्कर्म ।"

जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है और जो उसका परिणाम हुआ वह उसका कर्म कहलाता है। आत्माके राग, द्वेष, मोहादिरूप परिणाम कर्म हुए और आत्मा उनका कर्ता हुआ। अब देखिए, कपड़ेसे जो कोई भी चीज बनेगी वह कपड़े की ही तो कहलाई जावेगी। पटसे घट इत्यादिक तो नहीं बन सकता? इसी तरह पुद्गल ही ज्ञानावरणादि रूप परिणमता है और आत्मा अपने भावों रूप परिणत होता है, उसके निमित्त नैमित्तक भावोंका निश्चय लोग करते हैं कि आत्मा ही पुद्गल कर्मोंको करता है तथा भोगता है ऐसा अनादि अज्ञानसे व्यवहार होता है।

देखिये—कुलाल घटको बनाता है। अब हम आपसे पूछते हैं कि कुलालने घटमें क्या कर दिया? घटकी क्रिया घटमें हुई और कुलालकी क्रिया कुलालमें। मिट्टी घट पर्याय रूप हुई, कुलालने अपने हस्तादिकका व्यापार किया। परन्तु घट रूप जो पर्याय हुई उसमें कुलालका कौनसा अंश चला गया? दोनों अपने अपने रूप परिणमन कर गये। यदि कुलाल घटका करे तो वह घटका कर्ता ठहरे, परन्तु निश्चयसे ऐसा कभी नहीं होता। वह घटादिकका सच्चा कर्ता हो जाय तो देखें शास्त्रमें मैं तो बना दें? घट पटादिक अपने स्वरूपसे परिणमन करते हैं और कुलाल अपने स्वरूपसे। कुलालने अपने योग और उपयोगका व्यापार किया, इसलिये उसका कर्ता हुआ परन्तु परद्रव्योंका कर्ता तो त्रिकालमें कभी नहीं होता।

यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है। स्त्रीने या आटा गूंधा, उस आटेको चकलेपर बेल दिया और उसकी रोटी बना दी।

लोग कहते हैं कि स्त्रीने रोटी बनाई पर विचार करो क्या स्त्रीने रोटी बनाई। रोटीका क्रिया रोटीमें हुई और स्त्रीका क्रिया स्त्रीमें परन्तु व्यवहारसे ऐसा कहते हैं कि स्त्रीने रोटी बनाई। अब कोई गाली तुम देते हो और उसको क्रोध आ जाता है क्यों तुमने क्या कर दिया। इन्होने मान ही तो लिया कि यह गाली मुझे भी गई। यह क्रोध कषाय सत्तामें बैठी थी उसका निमित्त पा करके वह उदयमें आगई। इसी तरह शान्ति है। शान्ति रूप परिणाम हमारे शान्ति मिल गई, यह कहीं बाहरसे नहीं आई। वह तुम्हारे अन्दरसे ही पैदा होगई। अब लोग कहते हैं कि हम स्त्रीको भोगते हैं। अरे तुम क्या दूसरे का भोग नहीं करते। तुम स्त्रीको क्या भोगोगे? अपने परिणामोंके ही भोक्ता हो जाओ पर द्रव्यके क्या भोक्ता बनोगे। झाँसीमें एक स्त्री थी। उसके पेटमें बच्चा था। जब वह अस्पतालमें आई तब उसके पेटसे बच्चा मरा हुआ निकला। वह स्त्री बड़ी मुश्किलमें बची। उसने उसी समय अपने पतिको बुलाया और उससे कहने लगी—देखो अब मैं मरती हूँ तुम्हें जो दान धर्म इत्यादि करना है वह करलो। वह पति रोने लगा। उसने कहा—तुम रोते क्या हो? रोनेमें क्या हाथ लग जायगा? तुम्हें जो प्रतिज्ञा लेनी है सो लो? उसी समय वह हाथ जोड़ने लगा। देखिये! जो उस स्त्रीका भागता था सब क्रम करता था। वह उसके हाथ जोड़ने लगा तो उसके परिणामोंमें ही निर्मलता आ गई। तब वह बोली, यह गहने वगैरह हैं, इनको बेचकर जो दान धर्म करना है सो कर देना और तुम प्रतिज्ञा लो कि हम अन्य किसी स्त्रीसे व्यवहार न करेंगे। उसने अपनी स्वीकृति दे दी। अन्तमें बोली—अच्छा हम समाधिमरण पाठ सुनाओ। उसी समय उसने हाथपर हाथ धरकर अपने प्राण छोड़ दिये। अब बताओ इसे इतनी शिक्षा

देन कौन गया था ? यह परिणामोंकी निर्मलताका ही तो फल है। अतः अन्तरङ्गमें निर्मल परिणाम बनालो और दुनियांके व्यवहार करो, कौन निषेध करता है ? निर्मल परिणाम ही मोक्ष-मार्गके साधक हैं। निर्मल परणतिके लिये यह ध्यान रखें कि—

१—आत्मकल्याणके लिये स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और शुद्ध भोजन करना अति आवश्यक है।

२—आत्मविश्वासके बिना मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुर्लभ है।

३—परपदार्थोंको पर जाननेके साथ साथ उनमें रागद्वेष और मोह मत करो।

४—जो उदयमें आवे उसे शान्तिसे सहन करो, हर्ष विषाद मत करो।

५—किसीसे उपकारकी इच्छा मत करो।

६—जो उपकार करो उसे भूल जाओ।

७—जो अपकार करो उसे भी भूल जाओ।

८—अपने गुणों व अवगुणोंका यथार्थ चिन्तन करो।

९—रागादिक ही निश्चय हिंसा है और यही संसारकी जननी है।

१०—इच्छाओंका अभाव ही शान्तिका मार्ग है।

११—पूर्ण निराकुलता ही परमात्मपद व मोक्ष है।

(इटावामें वर्णी जय० अवसर दिया गया भाषण)

आश्विन वदी ४, वी० नि० २४७६

आत्मा

आत्माका ज्ञान स्वभाव—

'ज्ञान स्वभाव' आत्माका लक्षण है। लक्षण वही जो लक्ष्यमें पाया जावे। आत्माका लक्षण ज्ञान ही है जिससे लक्ष्य आत्मा की सिद्धि होती है। जैसे तो आत्मामें अनंत गुण हैं जैसे दर्शन, चारित्र, वीर्य, सुख इत्यादि पर इन सब गुणोंको बतलानेवाला कौन है? एक ज्ञान ही है। धनी, निर्धन, रंक, राव, मनुष्य, स्त्री इनका कौन जानता है? केवल एक ज्ञान। ज्ञान ही आत्माका असाधारण लक्षण है। दोनों (आत्मा और ज्ञान) के प्रदेशोंमें अभेदपना है। ज्ञानीजन ज्ञानमें ही लीन रहते और परमानन्दका अनुभव करते हैं। वह अन्यत्र नहीं भटकते। और परमार्थमें विचारो तो केवल ज्ञानके सिवाय अपना है क्या? हम पदार्थोंका भोग करते हैं, व्यञ्जनादिके स्वाद लेते हैं, उसमें ज्ञानका ही तो परिणमन होता है। यदि ज्ञानोपयोग हमारा दूसरी ओर हो जाय तो सुन्दरसे सुन्दर विषय सामग्री भी हमको नहीं सुहावे। उस ज्ञानकी अद्भुत महिमा है। वह कैसा है? दर्पणवत् निर्मल है। जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिविम्बित होते हैं? वैसे ही ज्ञानमें ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं। तो भी ज्ञानमें उन ज्ञेयोंका प्रवेश नहीं होता। अब देखो, दर्पणके सामने शेर गुजार करता है तो क्या शेर दर्पणमें चला जाता है? नहीं। केवल दर्पणमें शेरके आकार रूप परिणमन अवश्य हो जाता है। दर्पण अपनी जगहपर है, शेर अपने स्थानपर है। इसी तरह ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं तो झलको उसका स्वभाव ही देखना और जानना है, इसका कोई क्या करे?

हाँ, रागादिक करना यही बंधका जनक है। हम इनको देखते हैं, उनको देखते हैं और सबको देखते हैं, तो देखो पर अमुकसे रुचि हुई उससे राग और अमुकसे अरुचि हुई उससे द्वेष कर लिया, यह कहाँका न्याय है? बताओ। अरे उस ज्ञानका काम केवल देखना और जानना मात्र था, सो देख लिया और जान लिया। चलो छुट्टी पाई। ज्ञानका ज्ञान रहने देनेका ही उपदेश है, उसमें कोई प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पना करनेको नहीं कहा। पर हम लोग ज्ञानको ज्ञान कहाँ रहने देते हैं? कठिनता तो यही है।

भगवानको देखो और जाओ। यदि उनसे राग कर लिया तो स्वर्गमें जाओ और द्वेष कर लिया तो नरकमें पड़ो। इससे मध्यस्थ रहो। उन्हें देखो और जानो। जैसे प्रदर्शनीमें वस्तुएँ केवल देखने और जाननेके लिए होती हैं वैसे ही संसारके पदार्थ भी केवल देखने और जाननेके लिए हैं। प्रदर्शनीमें यदि एक भी वस्तुकी चोरी करो तो बँधना पड़ता है उसी प्रकार संसारके पदार्थोंके ग्रहण करनेकी अभिलाषा करो तो बन्धन है, अन्यथा देखो और जानो। अभी स्त्री बीमार पड़ी है तो उसके मोहमें व्याकुल हो गए। दवाई लानेकी चिन्ता हो गई क्योंकि उसे अपनी मान लिया नहीं तो देखो और जानो। निजत्वकी कल्पना करना ही दुःखका कारण है।

'समयसार' में एक शिष्यने आचार्यसे प्रश्न किया—महाराज! यदि आत्मा ज्ञानी है तो उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं और अज्ञानी है तो उसे उपदेशकी आवश्यकता नहीं। आचार्यने कहा कि जबतक कर्म और नोकर्मको अपनाते रहोगे अर्थात् पराश्रित बुद्धि रहेगी तबतक तुम अज्ञानी हो और जब स्वाश्रित बुद्धि हो जायगी तभी तुम ज्ञानी बनोगे।

एक मनुष्यके यहाँ दामाद और उसका लड़का आता है।

लड़का तो स्वेच्छासे इधर उधर पर्यटन करता है। परन्तु दामाद का यद्यपि अत्यधिक आदर होता है तब भी वह सिकुड़ा सिकुड़ा-सा घूमता है। अतएव स्वाश्रित बुद्धि ही कल्याणप्रद है। आचार्य ने यही पर शुद्धज्ञानस्वरूपमें लीन रहनेका उपदेश किया है। जैसा कि नाटक समयसारमें लिखा है —

'पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयं ।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ॥
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो ।
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ २९ ॥'

यह ज्ञानी पूर्ण एक अच्युत शुद्ध (विकारसे रहित) ऐसे ज्ञानस्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा है। ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंसे कुछ भी विकारको नहीं प्राप्त होता। जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थोंसे विकारता प्राप्त नहीं होता उस तरह। ऐसी वस्तुकी मर्यादाके ज्ञानसे रहित जिनकी बुद्धि है ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनताको क्यों छोड़ते हैं और राग-द्वेषमय क्यों होते हैं?

कुछ लोग ज्ञानावरण कर्मके उदयको अपना घातक मान दुःखी होते हैं। तो कहते हैं कि कर्मके उदयसे तुम्हारी हानिकी [illegible] नहीं है। अरे जितना क्षयोपशम है उसीमें आनन्द [illegible] हम मानते नहीं हैं? सर्वज्ञताके लानेका प्रयास जो करते हैं — [illegible] हम आपसे पूछते हैं, सर्वज्ञतामें क्या है? हमने [illegible] और जान लिया तो हम कौन सा सुखी हो गया? [illegible] जाननेमें सुख नहीं है। सुखका कारण [illegible] होना है। सर्वज्ञ भी सारे अनन्त पदार्थोंको देखते और जानते हैं पर रागादिक नहीं करते, इसलिये [illegible]

और जाननेकी महिमा नहीं है। महिमा तो रागादिकके अभावमें ही है।

लेकिन हम चाहते हैं कि रागादिक छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जावे तो यह कैसे बने? मूली खाओ और केशरका स्वाद भी आ जाय, यह कैसे हो सकता है? रागादिक तो दुःखके ही कारण हैं, उनमें यदि सुख चाहो तो कैसे मिल सकता है? राग तो सर्वथा हेय ही है। अनादि कालसे हमने आत्माके उस स्वाभाविक सुखका स्वाद नहीं जाना, इसलिए रागके द्वारा उत्पन्न किञ्चित् सुखको ही वास्तविक सुख समझ लिया। आचार्य कहते हैं कि अरे उस सुखका कुछ तो अनुभव करो। अब देखो, कड़ुवी दवाको माँ कहती है कि 'बेटा इसे आँख मींचकर पी जाओ।' अरे, आँख मींचनेसे कहीं कड़ुवापन तो नहीं मिट जायगा? पर कहती है कि बेटा पी जाओ। वैसे ही उस सुखका किञ्चित् भी तो अनुभव करो। पर हम चाहते हैं कि कषायसे मोह छोड़ना न पड़े और उस सुखका अनुभव भी हो जाय।

'हल्दी लगे न फिटकरी रङ्ग चोखा आ जाय।'

अच्छा, कषायसे मोह मत छोड़ो तो उस स्वात्मीक सुखका तो घात मत करो। पर क्या है? उधर दृष्टि नहीं देते इसीलिए दुःखके पात्र हैं।

ऐसी बात नहीं है कि किसीके रागादिक घटते न हों। अभी संसारमें ऐसे प्राणी हैं जो रागादिक छोड़नेका शक्तिभर प्रयास करते हैं। पर सिद्धान्त यही कहता है कि रागादिक छोड़ना ही सर्वस्व है। जिसने इन्हें दुःखदायी समझकर त्याग दिया, वहीं हम तो कहते हैं 'धन्य है'। कहने सुननेसे क्या होता है? इतने जनोंने शास्त्र श्रवण किया तो क्या सबके रागादिककी निवृत्ति

हुआ ? अब ऐसे आल्हा ऊदलकी कथा बाँचते हैं तो वहाँ कहते हैं 'यों मारा, यों काटा' पर यहाँ किसीके एक तमाचा तक नहीं लगा। तो केवल कहनेसे कुछ नहीं होता। जिसने रागादिक त्याग दिए बस उसीको मजा है। जैसे हलवाई मिठाई तो बनाता है पर उसके स्वादको नहीं जानता। वैसे ही शास्त्र बांचना तो मिठाई बनाना है पर जिसने चख लिया बस उसीको ही मजा है।

आत्माका आवृत स्वरूप—

आत्मामें अनन्तशक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्यका प्रकाश मेघ पटलोंसे आच्छादित होनेपर अप्रकट रहता है वैसे ही कर्मोंके आवरणसे आत्माकी अनन्त शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित हो जाती हैं। देखो, निगोदसे लेकर मनुष्य पर्याय धारणकर मुक्तिके पात्र बने, इससे आत्माकी अचिन्त्य शक्ति ही तो सिद्ध होती है। अतः हमें उस (आत्मा) को जाननेका अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिये। जैसे बालक मिट्टीके खिलौने बनाते फिर बिगाड़ देते हैं वैसे ही हम ही ने संसार बनाया और हम ही यदि चाहें तो संसारसे मुक्त हो सकते है।

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। उनमें एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमें हमारे सब मनोरथ बालूकी भीतिकी भांति ढह जाते हैं, यह सब मोहोदयकी विचित्रता है। जहाँ मोह गला वहाँ कोई मनोरथ नहीं रह जाता। हम रात्रि दिन पापाचार करते हैं और भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि भगवान हमारे पाप क्षमा करना। अरे, भगवान तुम्हारे पाप क्षमा करें। पाप करो तुम भगवान क्षमा करें—यह भी कहींका न्याय है ? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल उसहीको भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हें यहाँ मुक्ति नहीं पहुंचा देंगे। मुक्ति पाओगे तुम

अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाय तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्रीका अकस्मात् देहान्त होगया। वह बड़ा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे 'दुनियांकी स्त्रियाँ मरती हैं, तू इतना बेचैन क्यों होता है? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उससे मेरी मम बुद्धि लगी है इसलिए मैं दुखी हूँ। दुनियाँकी स्त्रियाँ मरती हैं तो उनसे मेरा ममत्व नहीं,—इसमें ही मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला 'अरे, तुझमें अहं बुद्धि है तभी तो मम बुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहंबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किसमें करे? तो अहंबुद्धि और ममबुद्धिको मिटाओ, पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि किससे होती है, उसे तो जानो। देखा! लोकमें वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गाँवका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थमें वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिए अपनेको जानो। तुम हो तभी तो सारा संसार है। और सोचलो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पञ्चेन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें क्यों नहीं प्रवर्तती? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मामें एक चेतनाकी ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमें ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक मनुष्यने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ हम अभी स्नानकर आते हैं। जरा बाजार हो आऊँ। अब मार्गमें चले तो वहाँ मुनिराजका समागम होगया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि होगया। और वही मुनि उनका आहारके लिये वहां आगए। तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था अब कैसे भाव होगए।

चक्रवर्तीको ही देगो। यह छ खण्डका माहात्म्य ही तो पकड़े है। जब वैराग्य उदय होता है तो सारी विभूतिको छोड़ वनवासी बन जाता है। तो क्यों उस इच्छाको ही तो मिटा लेता है कि 'इदम् मम' यह मेरी है। वह इच्छा मिट गई अब छ खण्डको बताओ कौन सभाले? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके किया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नहीं है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देंगे तो उसे कौन दे? अरे उसे मिलना होगा तो दूसरा दान दे देगा फिर ममत्व बुद्धि रखने क्या दान देता है? वास्तवमें तो कोई किसीकी चीज नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर वस्तुतः सुखी रह सकता है? जो चीज तुम्हारी है उसीमें सुख मानो।

महादेवजीके कार्तिकेय और गणेश नामके दो पुत्र थे। एक दिन महादेवजीने उनसे कहा, 'जाओ, वसुन्धराकी परिक्रमा कर आओ'। तब कार्तिकेय और गणेश दोनों हाथ पकड़ कर दौड़े। गणेशजी तो पीछे रह गए और कार्तिकेय बहुत आगे चले गए। गणेशजीने वहींपर महादेवजीकी ही परिक्रमा कर ली। जब कार्तिकेय लौट और महादेवजीने गणेशजीकी ओर संकेतकर कहा 'यह पहिले आए' तो कार्तिकेयने पूछा यह पहिले कैसे आए? बताइए।' उसी समय उन्होंने अपना मुँह फाड़ दिया जिसमें तीनों लोक दिखने लगे। महादेवजी बोले 'देखो इन्होंने तीनों लोकोंकी परिक्रमा कर ली।' तो उस केवलज्ञानकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमें तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएँ भासमान होने लगती हैं। हाथीके पैरमें बताओ किसका पैर नहीं समाता—

उठकर फैलकर समाकर फिर समा जाता है। अब इस ज्ञानकी बड़ी शक्ति है। और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जानें। पर पदार्थोंमें अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमें संयोजित करें। देखो समुद्रमें मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमें बरस पड़ते हैं। तो पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलता है। पानी जब बरसा तो देखो कहाँ किनार फैलकर मन्थर होता हुआ फिर उसी समुद्रमें जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमें जो यत्र तत्र चतुर्गति भ्रमण कर रहा था ज्योंही वह मोह मिटा तो वही आत्मा अपनेमें सिकुड़कर अपनेमें ही समा जाता है। यों ही केवलज्ञान होता है। ज्ञानको सब पर पदार्थोंसे हटाकर अपनेमें ही संयोजित कर लिया—बस केवलज्ञान हो गया। और क्या है?

हम पर पदार्थोंमें सुख मानते हैं। पर उनमें सच्चा सुख नहीं है। मड़ावराकी बात है। यहाँसे ललितपुर ३६ मीलकी दूरीपर पड़ता है। वहाँ सर्दी बहुत पड़ती है। एक समय कुछ यात्री जा रहे थे। जब बीचमें उन्हें अधिक सर्दी मालूम हुई तो उन लोगोंने जंगलमें घास फूस इकट्ठा किया और उसमें दियासलाई लगा आँचमें तापने लगे। ऊपर वृक्षोंपर बन्दर बैठे हुए यह कौतुक देख रहे थे। जब वे यात्री लोग चले गए तो बन्दर ऊपरसे उतरे और उन्होंने वैसा ही घास फूस इकट्ठा कर लिया। अब कुछ घिसनेको चाहिए तो दियासलाईकी जगह वे जुगनुओंको पकड़कर लाए और घिसकर डाल दी पर आँच नहीं सुलगे। बार बार वे उन्हें पकड़कर लाए और घिस घिसकर डाल दें पर आँच सुलगे तो कैसे सुलगे। इसी तरह पर पदार्थोंमें सुख मिले तो कैसे मिले? वहाँ तो आकुलता ही मिलेगी और आकुलतामें सुख कहाँ? तुम्हें आकुलता हुई कि चलो मन्दिरमें पूजा करें और फिर

शास्त्र श्रवण करें। तो जबतक तुम पूजा करके शास्त्र नहीं सुन लोगे तबतक तुम्हें सुख नहीं है, क्योंकि आकुलता लगी है। सभी आकुलताको मिटानेके लिए तुम्हारा सारा परिश्रम है। तुम्हें दुकान खोलनेकी आकुलता हुई। दुकान खोल ली चलो आकुलता मिट गई। तुम्हारे जितने भी कार्य हैं सब आकुलताको मेटनेके लिये हैं। तो आकुलतामें सुख नहीं। आत्माका सुख निराकुल है वह कहीं नहीं है, अपनी आत्मामें ही विद्यमान है, एक क्षण पर पदार्थोंसे राग द्वेष हटाकर देखो तो तुम्हें आत्मामें निराकुल सुख प्रकट होगा। यह नहीं, अब कार्य करें और फल बादको मिले। जिस क्षण तुम्हारे वीतराग भाव होंगे तत्क्षण तुम्हें सुखकी प्राप्ति होगी। आत्माकी विलक्षण महिमा है। कहना तो सरल है पर जिसने प्राप्त कर लिया वही धन्य है। और जितना पढ़ना लिखना है इसी आत्माको पहिचाननेके अर्थ है। कहीं पुस्तकोंसे भी ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान तुम्हारी आत्मामें है। पुस्तकका निमित्त पाकर वह विकसित हो जाता है। वैराग्य कहीं नहीं धरा? तुम्हारी आत्मामें ही विद्यमान है। अत जैसे बने वैसे इस आत्माको पहिचानो।

एक कोरी था। उसे कहींसे एक पाजामा मिल गया। उसने पाजामा कभी पहिना तो था नहीं। वह कभी सिरसे उसे पहिनता तो ठीक नहीं बैठता। कभी कमरमें लपेट लेता तो भी ठीक नहीं बैठता। एक दिन उसने ज्योंही एक पैर एक पाजामेमें और दूसरा पैर दूसरेमें डाला तो ठीक बैठ गया। बड़ा खुशी हुआ। इसी तरह हम भी इतस्तत भ्रमण कर दुखी हो रहे हैं। पर जिस काल हमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है तभी हमें सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। इसलिए उसकी प्राप्तिका निरन्तर प्रयास करना चाहिए।

('सुखकी झलकमें')

आत्म-भावना

आत्माका स्वभाव—

आत्माका स्वभाव सहज शुद्धज्ञान आनन्दस्वरूप निर्विकल्प और स्वाधीन है। उसका अनुभव ज्ञान और प्राप्ति किस प्रकार होती है? इसे भावनासे कहते हैं—

अस्तिरूपसे—

'निज निरञ्जन शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसञ्जातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन स्वसंवेद्यो गम्य प्राप्यो भरितावस्थोऽहम्।'

अर्थात् मैं निज निरञ्जन शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान अनुष्ठान रूप निश्चय रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप सुखकी अनुभूतिमात्र जिसका लक्षण स्वरूप है ऐसे स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा स्वसंवेद्य, गम्य, भरितावस्थ हूँ। ऐसे आत्माकी भावना करनी चाहिये। इस प्रकार पहिले स्वभावसे भरा हुआ परिपूर्ण हूँ ऐसा 'अस्ति' से कहा।

नास्तिरूपसे—

अब मेरा स्वभाव सब विभावोंसे रहित शून्य है ऐसा 'नास्ति' से कथन करते हैं—

'रागद्वेष-मोह क्रोध-मान-माया-लोभ-पञ्चेन्द्रियविषय व्यापारमनोवचनकायव्यापार भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म-ख्या

ति पूजा-लाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगकांक्षारूपनिदानमाया-मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितशून्योऽहम् ।'

अर्थात् मैं सर्व विभावपरिणामोंसे रहित शून्य हूँ ऐसी अपने आत्माकी भावना करनी चाहिए ।

शुद्ध निश्चयसे—

'जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयनयेन तथा सर्वेऽपि जीवा इति निरन्तर भावना कर्तव्येति ।'

अर्थात् तीन लोक और तीन कालमें शुद्धनिश्चयनयसे ऐसा (स्वभावसे पूर्ण और विभावसे रहित) हूँ तथा समस्त जीव ऐसे ही हैं । ऐसी मन, वचन, कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे निरन्तर भावना करना योग्य है ।

स्याद्वादी दृष्टिसे—

आगे सांख्यमतका निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि उनका कहना कहाँतक उचित है ? वे कहते हैं कि—"कर्म ही सब कुछ करता है—कर्म ही ज्ञानको ढकता है क्योंकि ज्ञानावरणकर्मके उदयसे ज्ञान प्रकट नहीं होता, कर्म ही ज्ञानको बढ़ाता है क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे ज्ञानका विकास होता है । कर्म ही मिथ्यात्वके उदयसे पदार्थको विपरीत दिखलाता है जैसे कामला रोगवालेको शंख पीला दिखता है इत्यादि कर्म सब कुछ करता है, आत्मा अकर्ता है ।'

ऐसे सिद्धान्त माननेवालेको कहते हैं कि आत्मा बिलकुल अकर्ता नहीं है । यदि अकर्ता हो जाय तो फिर राग द्वेष मोह ये किसके भाव हों ? यदि पुद्गलके कहो तो वह तो जड स्वभाववाला

है। जडमें रागद्वेष क्रिया होता नहीं। अतः इस जीवके अज्ञानसे मिथ्यात्वादि भाव परिणाम हैं वे चेतन ही हैं जड नहीं हैं। इसलिए कथंचित् आत्मा कर्ता है और कथंचित् अकर्ता है। अज्ञानसे जब यह जीव रागद्वेषादिक भाव करता है तब वह कर्ता होता है और जब ज्ञानी होकर भेदज्ञानको प्राप्त होजाता है तब साक्षात् अकर्ता होता है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतन ही होना परमार्थ है। यहाँ अभेददृष्टिसे तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है परन्तु कर्मके निमित्तसे जब परिणमता है तब उन परिणामोंसे युक्त होता है। उस समय परिणाम परिणामीकी भेददृष्टिसे अपने अज्ञानभाव परिणामोंका कर्ता जीव ही है और अभेददृष्टिसे तो कर्ता कर्मभाव ही नहीं है, शुद्ध चेतनमात्र जीव वस्तु है। इसलिए चेतन कर्मका कर्ता चेतन ही है, अन्य नहीं। श्री समन्तभद्राचार्य देवागमम लिखते हैं कि —

'न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥'

पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। यदि पदार्थको सामान्यापेक्षा देखा जाय तो वह एक रूप ही दिखाई देगा और विशेषकी अपेक्षासे उसमें नानापना दिखलाई देंगे। जैसे एक मनुष्य है। वह क्रमसे पहले बालक था, बालकसे युवा हुआ और युवासे वृद्ध हुआ। यदि सामान्यसे विचारो तो एक चेतनमात्र जीव ही है परन्तु विशेष दृष्टिसे देखो तो वह बालक है, युवा है और वही वृद्ध भी है ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरह ज्ञायक स्वभावकी अपेक्षा तो आत्मा अकर्ता है परन्तु जबतक भेदज्ञान न हो तब तक मिथ्यात्वादि भाव कर्मोंका कर्ता ही मानना उचित है। इस तरह एक ही आत्मामें कर्ता अकर्ता दोनों भाव विवक्षाके

वशमें सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वाद मत है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है।

द्रव्यदृष्टि और व्यवहारदृष्टिमें—

'द्रव्यदृष्टिमें विचारो तो सब आत्माएँ शुद्ध मिलेंगी पर नय विभागसे देखो, तो नाना प्रकारके भेद दिखेंगे। ये नय पर्याय दृष्टिपर ले जाते तो भूतार्थ ही हैं। अत उनको उन्हीं रूपसे जानना सत्यार्थ भी है। सामान्यरूपसे जीव एक है परन्तु पर्याय-दृष्टिसे उसमें नानापना असत्य नहीं, वास्तविक ही है तथा जीवके गुणोंमें जो विकार होता है उसके जानेसे गुणकी शुद्ध अवस्था रह जाती है, अभाव नहीं होता है। जैसे जलमें पङ्कका सम्बन्ध होनेसे मलिनता आजाती है। इसी तरह आत्मामें मोहादि कर्मके विपाकसे विकृतावस्था होजाती है। उस विकृतावस्थामें उसमें नानापना दीखता है, उसका यदि उस अवस्थामें विचार किया जावे तो नानापना सत्यार्थ है किन्तु वह औपाधिक है, अत मिथ्या है, न कि स्वरूप उसका मिथ्या है। यदि स्वरूप मिथ्या होता तब संसार नाशकी आवश्यकता न थी। अत नय विभागसे पदार्थोंको जानना ही संसारसे मुक्तिका कारण है।

अपनी भूलको सुधारिये—

इस मनुष्यको अनादिकालसे जीव और पुद्गलका एकत्व अध्यास होरहा है। अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धि मान रहा है। कभी इसने शुद्ध ज्ञानका स्वाद नहीं लिया। ज्ञेय मिश्रित ज्ञानका ही अनुभवन किया। केवल ककडीके खानेमें स्वाद नहीं आता पर नमक मिर्चके साथ खानेमें आनन्द मानता है क्योंकि इसको वही मिश्रित पदार्थोंके खानेकी आदत पडी हुई है। अब खानेमें केवल ज्ञानका ही परिणमन होता है पर, उस ज्ञानको छोड़

यह परपदार्थमें सुख मान लेता है,—यही अज्ञानकी भूल पड़ा
है। आचार्योंने इसीलिए रस परित्याग तप बतलाया है कि इस
जीवको केवल एक शुद्ध पदार्थके स्वादका अभ्यास पड़े। ऐसी
ज्ञानमयी आत्माको छोड़ यह जीव अनन्त संसारका पात्र बन रहा
है। पुद्गलमें जीवत्वका आरोप कर रहा है। अन्धकारमें रज्जुको
सर्प मान रहा है। गिर रहा, पड़ रहा और नाना प्रकारके दुःख
भी उठा रहा है, पर फिर भी अपनी अज्ञानताको नहीं छोड़ता है।
शरीरसे भिन्न अपनी आत्माको नहीं पहचानता है। यदि एक भी
बार उस ज्ञानमयी आत्माका अनुभव हो जाय तो फिर कल्याण
होनेमें कोई विलम्ब न लगे। केवल अपनी भूलको सुधारना है।

एक स्त्री थी। जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसने
उसको एक बटैया दी। इस विचारसे कि कहीं वह खोटे आचरणोंमें न पड़ जाय उसने कहा कि इसको पहिले अपने सामने रखकर
कोई भी पाप कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा करना तत्पश्चात् इसकी
पूजाकर फिर भोजन करना। वह आदमी उस बटैयाको लेकर
चल दिया। मार्गमें एक स्थान पर विश्राम किया और जब भोजनका समय हुआ तो उसने उस बटैयाको निकाल कर अपने सामने
रक्खा और पूजा करके वैसा ही जैसा कि उसकी स्त्रीने कहा
था पाप न करनेका संकल्प किया। जब वह पूजा पूर्णकर भोग
लगा रहा था, उसी समय एक चूहा आया और उस भोगको खाने
लगा। उसने सोचा-अरे, इस बटैयासे तो चूहा ही बड़ा है,
झट उस चूहेको पकड़ लिया और एक पिंजरेमें बन्द कर उसकी
पूजा करना शुरू कर दिया। एक दिन अकस्मात् बिल्ली आई।
चूहा उस बिल्लीको देखकर डर गया। उसने सोचा अरे, इस
चूहेसे तो बिल्ली ही बड़ी है उसको पकड़कर बाँध लिया और
उसकी पूजा करने लगा। एक दिन कुत्ता आया कुत्तेको देखकर

यह बिल्ली ठगक गई। उसने फिर सोचा अरे, इस बिल्लीसे तो कुत्ता बडा है। उसने कुत्तेको पकडकर बांध लिया और उसकी पूजा प्रारम्भ कर दी। अब वह जंगलसे कुत्तेको साथ लेकर अपने घर लौट आया। एक दिन उसकी स्त्री रोटी बना रही थी वह कुत्ता लपककर चौकेमें घुस गया। स्त्रीने उसको एक डंडा मारा और वह भों भों करके भाग गया। उसने सोचा-अरे इससे तो यह स्त्री ही बडी है। अब वह उस स्त्रीको पूजने लगा--उसकी धोती धोता, उसका साज शृंगारादिक करता। एक दिन उसकी स्त्री खाना बनाते समय शाकमें नमक डालना भूल गई। जब वह आदमी खानेको बैठा तो उसने कहा 'आज शाकमें नमक क्यों नहीं डाला?' वह बोली 'मैं भूल गई।' उसने कहा—'क्यों भूल गई' और एक थप्पड मारा। वह स्त्री रोने लगी। उसने सोचा अरे, मैं ही तो बडा हूँ, यह स्त्री तो मुझसे भी कमजोर है। आखिर उसे अपनी भूलका ज्ञान होगया और उसने उसे सुधार लिया।

अपनेको पहचानिये—

वास्तवमें जिसने अपनेको पहिचान लिया, उसके लिए क्रोध, मान, माया, लोभ क्या चीज है? हम दूसरोंको बडा बनाते हैं कि अमुक बडे हैं, अमुक बडे हैं, पर अपनी ओर दृष्टिपात नहीं करते। सोचो तो आत्मा क्या कहेगी—अरे तुमसे तो बडा कोई नहीं है परन्तु बडा बननेके लिये बडे कार्य कर। वास्तवमें अपनेको लघु मानना तो महती अज्ञानता है। "हम क्या हैं? किस खेतकी मूली हैं?" यह सोचना तो पवित्र आत्माको पतित बनाना है उसके साथ अन्याय करना है। अरे, तुझमें तो अनन्त ज्ञानकी शक्ति तिरोभूत है। अपनेको मान तो सही कि 'मुझमें परमात्मा होनेकी शक्ति विद्यमान है।"

आत्माको निर्मल कीजिये—

"आत्मा निर्मल होनेसे मोक्षमार्गकी साधक है और आत्मा ही मलिन होनेसे संसारकी साधक है।" अतः जहाँतक बने आत्माकी मलिनताको दूर करनेका प्रयास करना हमारा कर्तव्य है।

'पङ्कापाये जलस्य निर्मलतावत्।' जलके ऊपर काई आ जानेसे जल मलिन दिखता था और जब काई दूर हो गई तो जल स्वच्छका स्वच्छ हो गया। उसकी स्वच्छता कहीं और जगह नहीं थी केवल काई लग जानेसे उसमें मलिनता थी सो जब वह दूर हुई तो जल स्वयं स्वच्छ हो गया। इसी तरह रागादि दूर हुए कि आत्मा स्वच्छ हो गया।

राग-द्वेष दूर कीजिये—

देखिये, यह कपड़ा है, इसपर यह चिकनाई लगी हुई है। इस चिकनाईके कारण उसमें धूलके कण लग गए जिससे वह मलिन हो गया। पर जब सोडा साबुन लगाकर उसे साफ कर दिया गया तो वह वस्त्र स्वच्छ हो गया। तो उस वस्त्रमें स्वच्छता थी तभी तो वह उजला हुआ, नहीं तो कैसे होता? हाँ, उस वस्त्रमें केवल बाह्य मलिनता अवश्य आ गई थी, उसके धुल जानेसे वह जैसा था वैसा हो गया। इसी तरह आत्मा भी रागद्वेषादिकके संयोगसे विकारको प्राप्त हो रहा था, उस विकारताके मिट जानेसे वह जैसा था वैसा ही गया। अब देखो उस वस्त्रमें जो चिकनाई लग रही है, यदि वह नहीं मिटे और ऊपरसे चाहे जितना जलसे धो डालो तो क्या होता है? क्योंकि उस चिकनाईकी वजहसे वह फिर मलिनका मलिन हो जायगा। इसी तरह आत्माके जो रागद्वेषादिक हैं यदि वे नहीं मिटे और ऊपर शरीरको खूब सुखाने लगें, तपश्चरण करने लगें तो क्या होता है? तुषमासभिन्न

ज्ञान हुआ नहीं, और उस तुषको ही पीटने लग गए तो बताओ क्या होता है? अन्तरंगकी रागद्वेष परिणति नहीं मिटी तो पुनः वही देह धारण है। पर्यायको मिटानेका प्रयत्न नहीं है पर जिन कारणोंसे पर्याय उत्पन्न हुई उन्हें मिटानेकी आवश्यकता है। उसका ज्ञान अनिवार्य है। जैसे मिश्री है। यदि उसे नहीं चखो तो कैसे उसका स्वाद आए कि यह मीठी होती है। उसी तरह रागका भी यदि अनुभव न हो तो उसे मिटानेका प्रयत्न भी कैसे हो? 'प्रीतिरूपपरिणामो रागः' प्रीतिरूप परिणामका होना राग है और अप्रीतिरूप परिणामका होना द्वेष है। संसारका मूल कारण यही रागद्वेष है। जिसने इसपर विजय प्राप्त कर ली उसके लिये शेष क्या रह गया?

('सुखकी झलक' से)

सभाएं और समितियाँ

आजकी सभाओं और समितियोंका यह रूप है कि रूप रेखाएँ और उद्देश्य बहुत बड़े लम्बे पैमानेपर बनते हैं, नियमावली तो सरकारी विधान जैसा रखते हैं, पदाधिकारियोंकी भरमार रहती है, अधिकांश वे ही पदाधिकारी होते हैं जो पैसावाले होते हैं, भले ही वे सभाकी सभ्यता और नियमों, वर्तमान परिस्थिति और वातावरणासे पूर्णतया अनभिज्ञ ही क्यों न हों। यही कारण है कि आज जो सभाएँ और समितियाँ हितके लिये बनती हैं व उलटा जनताके शिर भार हो जाती हैं। अच्छा तो यह होता कि उद्देश्य छोटा होता, कार्य बड़े होते। नियमावली साधारण होती, कर्तव्य विस्तृत होता। पदाधिकारी थोड़े और निर्धन होते परन्तु विज्ञ, योग्य, सदाचारी और सभ्य होते।

सभाके सदस्य यदि कर्तव्य निर्वाहकर स्वपरोपकार करना चाहते हैं तो उनसे हमारा कहना यह है कि—

१—आवेगमें आकर कोई ऐसा काम न करो जिसका प्रभाव क्षणिक हो।

२—सबसे पहिले सदाचारी बनो—

(क) आजन्म पर स्त्रीका त्याग करो।

(ख) अष्टमी, चतुर्दशी, दश लक्षण पर्व और आष्टाह्निक पर्वमें ब्रह्मचर्यसे रहो।

(ग) स्त्रीके गर्भ रहनेके ३ वर्षतक ब्रह्मचर्यसे रहो।

(घ) अपनी मा बहिन और गृहिणीको सम्मति दो कि सादगीसे रहें।

(ङ) बीड़ी, पान, सिगरेट जैसी विलासिता वर्धक स्वास्थ्य नाशक वस्तुओंका उपयोग कम करते-करते छोड़ दो।

३—आयसे व्यय कम करो।

४—किसी जीवकी हिंसा मत करो, किसीको दुःख मत दो।

५—तुम्हारे घरमें भोजन वस्त्रमें जो व्यय हो उसमेंसे एक पैसा प्रति रुपया निर्धन छात्रोंके उपकारमें लगाओ। विवाहमें जो व्यय हो उसमें भी एक पैसा प्रति रुपया निकालो।

६—देशका उद्धार चाहते हो तो—

(क) राष्ट्रीय सरकारको सहयोग दो।

(ख) देशके दुश्मनों द्वारा होनेवाले भ्रष्टाचारका उन्मूलन करो।

(ग) घूस लेना छोड़ो, घूस देना छोड़ो।

(घ) राष्ट्रीय नेताओंके आदर्शोंका प्रचार करो, राष्ट्रीय पर्व दिनोंमें जनताको सादगी, सदाचार, स्वच्छताका सन्देश देते हुए उन्हें सच्चा नागरिक बनानेके लिये गाँव गाँवमें सभाएँ करो। सीधी, सरस, सरल और सार-गर्भित भाषामें बात करो।

(ङ) रात्रि पाठशालाएँ स्थापित करो। जिनमें साधारण पढ़ाईके साथ औद्योगिक कलाकी शिक्षा दो। जिससे ग्रामोद्योगको प्रोत्साहन मिले, जनता आत्म निर्भर हो। साथ ही संगठनके लिए एक निष्पक्ष समिति बनाओ। स्वास्थ्य सुधारके लिये औषधालय स्थापित करो। सरल भाषामें कृषि विज्ञानकी बात समझाओ।

७—स्वास्थ्य रक्षाके लिये—

(क) रात्रि भोजन मत करो।

(ख) पानी छानकर पिओ।

(ग) होटलोंमें गन्दा भोजन और बाजारके सड़े गले पदार्थ मत खाओ।

(घ) जितना हजम हो उतना ही भोजन करो।

(ङ) यदि देव पूजामें एक रुपया व्यय करते हो तो उसमेंसे चार आने शिक्षा प्रचारमें, आत्म ज्ञानके लिये शास्त्र पुस्तक खरीदनेमें व्यय करो। दूसरोंकी सेवा करो।

८—यदि सफलतापूर्वक समाज सेवा करना चाहते हो तो—

(क) रूढ़ियोंका बहिष्कार करो।

(ख) कन्याविक्रय, वृद्धविवाह, अनमेलविवाह, दहेज, मरण भोज, धार्मिक और सामाजिक कार्योंमें अपव्यय, विवाहोंमें गन्दे गीत और अश्लील हँसी मजाक बन्द करो।

(ग) जो कार्य प्रारम्भ किया है उसे पूर्ण करो।

(घ) पराधीनताको त्यागो।

(ङ) किसीको पराजित करनेके भावसे कोई कार्य मत करो। जो कुछ करना चाहते हो उसे अपने जीवनमें घटाकर, पालनकर आदर्श उपस्थित करो। जो नये सदस्य हों वे सदाचारी हों, असफल होनेपर अपनी भूल देखो, कार्यके प्रारम्भमें जो उत्साह है वही अन्ततक रखो। इतना कर सको तो सफलता सदा तुम्हारे साथ है।

(इटावाके प्रवचन और जबलपुरके पत्रोंसे)

दुःख का कारण परिग्रह

यद्यपि द्रव्य अर्थात् पर पदार्थके त्यागनेका जो उपदेश देता है वह परमोपकारी है। द्रव्यमें जो लोभ है वह मूर्छा है, जो मूर्छा है वह परिग्रह है और परिग्रह ही सब पापोंकी जड है क्योंकि बाह्य परिग्रह ही अन्तरङ्ग मूर्छाका जनक है। और अन्तरङ्ग परिग्रह ही संसारका कारण है, क्योंकि अन्तरङ्ग मूर्छाके बिना बाह्य पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता। यही कारण है, कि भगवानने मिथ्यात्व वेद त्रय हास्यादिषट् और चार कषाय इन्हें ही परिग्रह माना है। जबतक इनका सद्भाव है, तबतक ही यह जीव पर वस्तु का ग्रहण करता है, इसमें सबसे प्रबल परिग्रह मिथ्यात्व है इसके सद्भावमें ही शेष परिग्रह बलिष्ठ रहते हैं। जैसे कि मालिकके सद्भावमें कूकर बलशाली रहता है, इतना बलशाली कि सिंह पर भी टूट पडता है। परन्तु मालिकके अभावमें एक लाठीसे पलायमान हो जाता है अतः जिन्हें आत्मकल्याणकी अभिलाषा है उन्हें द्रव्य त्यागका उपदेश देनेवालेको अपना मित्र समझना चाहिये।

संसारमें परिग्रह ही दुःखकी जड है। इस दुष्टने जहाँ पदार्पण किया वहीं कलह विसंवाद मचवा दिया। अधिक क्या इसकी बदौलत कोई भी प्राणी संसारमें सुखी नहीं है। एक गुरु और एक चेला थे। वे दोनों सिंहलद्वीप पहुँचे। वहाँ गुरुने दो सोनेकी ईंट लीं और चेलाको सुपुर्द कर कहा कि 'इन्हें सिर पर धरकर ले चल।' वह ईंटें कुछ भारी थीं। अतः चेलाने मनमें सोचा 'देखो, गुरुजी

बड़े चालाक है। आप तो स्वयं खाली चल रहे हैं और मुझे यह भार लाद दिया है।' दोनों चले जाते हैं।

गुरु कहता है—'चेला चले आओ। बड़ा भय है।'

चेला बोलता है—'हाँ, महाराज चला आता हूँ।' आगे मार्गमें एक कुआ मिला। चेलाने उन ईंटोंको उठाकर कुएमें पटक दिया।

गुरुने कहा—'चेला चले आओ आगे बड़ा भय है।'

चेला बोला—'हाँ महाराज! भय मत करो। अब आगे कुछ भय नहीं है।'

तो परिग्रह ही बोझा है। इससे जितना-जितना ममत्व हटाओगे उतना उतना सुख प्रकट होगा। जितना जितना अपनाओगे उतना ही दु:ख मिलेगा।

एक जगह चार लुटेरे थे। वे कहींसे १०००) रु० लूटकर लाए। चोरोंने ढाई-ढाई सौ रुपये आपसमें बाँट लिये। एकने कहा अरे, जरा बाजारसे मिठाई लाओ, सब मिलकर परस्पर बैठकर खावेंगे। इनमेंसे दो लुटेरे मिठाई लेने चल दिये। इन्होंने आपसमें सोचा यदि जहरके लड्डू बनवाकर ले चलें तो बड़ा अच्छा हो। वे दोनों ही प्राणान्त होंगे और इस तरह ये ५००) रुपये भी अपने हाथ लग जावेंगे। उधर उन्होंने भी यही विचार किया कि यदि ये ५००) रुपये अपने पास आ जाएँ तो बड़ा अच्छा हो और उन दोनोंको मारनेके लिये उन्होंने भी धनुष बाण रख लिये। जब वे दोनों लड्डू लेकर आये तो इन्होंने धनुष बाणसे उनका काम तमाम किया और जब उन्होंने लड्डू खाए तो वे भी दुनियाँ से चल बसे।

अत संसारमें परिग्रह ही पंच पापोंके उत्पन्न होनेमें निमित्त होता है। जहाँ परिग्रह है, वहाँ राग है, और जहाँ राग है वहीं आत्मामें आकुलता है और जहाँ आकुलता है, वहीं दु:ख है एवं

जहां दुःख है वहाँ ही सुख गुणका घात है और सुख गुणके घात हीका नाम हिंसा है। संसारमें जितने पाप हैं उनकी जड परिग्रह है। परिग्रहके त्यागे बिना अहिंसा तत्त्वका पालन करना असम्भव है।

एक थका हुआ मनुष्य कुए पर जाकर सो गया। वह स्वप्नमें देखता है कि उसने किसी दुकान पर नौकरी की, वहाँसे कुछ धन मिला तो एक जायदाद मोल ली। फिर वह देखता है कि उसकी शादी हो गई और एक बच्चा भी उत्पन्न हो गया। फिर वह देखता है कि बगलमें बच्चा सोया हुआ है और उसके बगलमें स्त्री पड़ी हुई है। अब उसकी स्त्री उससे कहती है कि जरा तनिक सरक जाओ, बच्चेको तकलीफ होती है। वह थोड़ा सरक जाता है। उसकी स्त्री फिर कहती है कि तनिक और सरक जाओ, तनिक और सरक जाओ। अन्ततोगत्वा वह थोड़ा सरकते-सरकते धड़ाम से कुएमें गिर पड़ा। जब उसकी नींद खुली तो कुआमें पड़ा हुआ पाया। बड़ा पछताने लगा। उधरसे एक मनुष्य उसी कुए पर पानी भरने आया। इसने नीचेसे आवाज दी—भाई मुझे कुएसे निकाल लो। उसने रस्सी डालकर इसको येनकेन प्रकारेण कुएमें से बाहर निकाला।

जब वह निकल आया तो दूसरा मनुष्य पूछता है 'भाई—तुम कौन हो ?'

उसने कहा—'तुम बताओ, तुम कौन हो ?'

वह बोला—'मैं एक गृहस्थ हूँ।'

उसने जवाब दिया—'जब एक मुझ गृहस्थकी यह दशा हुई तब दूसरा तू कैसे जिन्दा चला आया ?'

गृहस्थीके इस जंजालको देखते हुए भ्रमजालके कारण इस परिग्रहसे मुक्त होनेका उपदेश लेना चाहिये। नीतिका वाक्य

है, कि 'तन्मित्र यन्निवर्तयति पापात्' अर्थात् मित्र वही है जो पापसे निवृत्त करे। विचार कर देखा जावे तो लोभ ही पापका पिता है। उससे जिसने मुक्ति दिलायी उससे उत्तम हितैषी संसारमें अन्य कौन हो सकता है? परन्तु यहाँ तो लोभको गुरु मानकर हमलोग उसका आदर करते हैं। जो लोभ त्यागका उपदेश देता है उससे बोलना भी पाप समझते हैं तथा उसका अनादर करनेमें भी सकोच नहीं करते। जो हो यह संसार है, इसमें नाना प्रकारके जीवोंका निवास है। कषायोदयमें नाना प्रकारकी चेष्टाएं होती हैं। जिन महानुभावोंके इन कषायोंका अभाव हो जाता है, वे संसार समुद्रसे पार हो जाते हैं। हम तो कषायोंके सद्भावमें यही ऊहापोह करते रहते हैं और यही करते करते एक दिन सभीकी आयुका अवसान हो जाता है। अनन्तर जिस पर्यायमें जाते हैं उसीके अनुकूल परिणाम हो जाते हैं—गंगामें गंगादास जमुनामें जमुनादास की कहावत चरितार्थ करते हुए अनन्त संसारकी यातनाओंके पात्र होकर परिभ्रमण करते रहते हैं। इसी परिभ्रमणका मूल कारण हमारी ही अज्ञानता है। हम निमित्त कारणको संसार परिभ्रमणका कारण मानकर साँपकी लकीर पीटते हैं। अतः जिन जीवोंको स्वात्महित करना इष्ट है, उन्हें आत्मनिहित अज्ञानताको पृथक् करनेका सर्वप्रथम प्रयास करना चाहिये। उन्हें यही श्रेयोमार्गकी प्राप्तिका उपाय है।

परमार्थसे वीर प्रभुका यही उपदेश था कि यदि संसारके दुःखोंसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो जिस प्रकार मैंने परिग्रहसे ममता त्यागी, ब्रह्मचर्य व्रतको ही अपना सर्वस्व समझा, राज्यादि बाह्य सामग्रीको तिलाञ्जलि दी, माता-पिता आदि कुटुम्बसे स्नेह त्यागा, दैगम्बरी दीक्षाका अवलम्बन लिया, बारहवर्ष तक अनवरत द्वादश प्रकारका तप तपा, दश धर्म धारण किये, द्वात्रिंशति

परीषहों पर विजय प्राप्त की, क्षपकश्रेणीका आरोहण कर मोहका नाश किया। और अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीणकषाय गुणस्थानमें रहकर इसीके द्विचरम समयमें सोलह प्रकृतियोंका नाश किया एवं केवलज्ञान प्राप्त किया, इसी प्रकार सबको करना चाहिये। यदि मैं केवल सिद्ध परमेष्ठीका ही स्मरण करता रहता तो यह अवस्था न होती, वह स्मरण तो प्रमत्तगुणस्थानकी ही चर्या थी। मैंने परिणामोंकी उत्तरोत्तर निर्मलतासे ही अर्हन्त पद पाया है अतः जिन्हें इस पदकी इच्छा हो वे भी इसी उपायका अवलम्बन करें। यदि दैगम्बरी दीक्षाकी योग्यता न हो तो श्रद्धा तो रक्खो जिस किसी तरह बने इस परिग्रह पापसे अवश्य ही आत्माको सुरक्षित रक्खो। परिग्रह सबसे महान पाप है।

('सुखकी झलक' और 'मेरी जीवनगाथा' से)

———

त्याग

मूर्छाका त्याग करना त्याग कहलाता है। जो चीज आपकी नहीं है, उसे आप क्या छोड़ेंगे? वह तो छूटी ही है। रुपया, पैसा, धन-दौलत सब आपसे जुदे हैं। इनका त्याग तो है ही। आप इनमें मूर्छा छोड़ दो, लोभ छोड़ दो क्योंकि मूर्छा और लोभ तो आपका है—आपकी आत्माका विभाव है। धनका त्याग लोभ कषायके अभावमें होता है। लोभका अभाव होनेसे आत्मामें निर्मलता आती है। यदि कोई लोभका त्यागकर मान करने लग जाय—दान करके अहकार करने लग जाय तो वह मान कषायका दास हो गया। 'चूल्हेसे निकले भाड़में गिरे' जैसी कहावत हो गई। सो यदि एक कषायसे बचते हो तो उससे प्रबल दूसरी कषाय मत करो। आपके त्यागसे हमारा लाभ नहीं—आपका लाभ है। आपकी समाजका लाभ है, आपके राष्ट्रका लाभ है। हमारा क्या है? हमे तो दिनमें दो रोटियाँ चाहिये, सो आप न देंगे, दूसरे गाँववाले दे देंगे। आज परिग्रहके कारण सबकी आत्मा थर थर काँप रही है। रात-दिन चिन्तित हैं—कोई न ले जाय। काँपनेमें क्या रखा है? रक्षाके लिये तैयार रहो। शक्ति सञ्चित करो। दूसरेका मुँह क्या ताकते हो? यह अटूट श्रद्धा रक्खो, जिस कालमें जो बात जैसी होनेवाली है वह उस कालमें वैसी होकर रहेगी।

> 'यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
> नग्नत्व नीलकठस्य महाहिशयन हरेः॥'

यह नीति बच्चोंको हितोपदेशमें पढ़ाई जाती है। जो काम होनेवाला नहीं वह नहीं होगा और जो होनेवाला है वह अन्यथा किसी प्रकार नहीं होगा। महादेवजी तो दुनियाँ के स्वामी थे पर उन्हें एक वस्त्र भी नहीं मिला। और हरि संसारके रक्षक थे उन्हें सोनेके लिये मखमल आदि कुछ नहीं मिला। क्या मिला? सर्प।

'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ नहीं होसी काहे होत अधीरा रे॥'

होगा सो वही जो वीतरागने देखा है, जो बात अनहोनी है वह कभी नहीं होगा। दिल्लीकी बात है। वहाँ लाला हरजसराय रहते थे। करोड़पति आदमी थे। बड़े धर्मात्मा थे। जिन पूजनका नियम था। जब गदर पड़ी तब सब लोग इधर-उधर भाग गये। इनके लड़कोंने कहा—पिताजी! समय खराब है, इसलिये स्थान छोड़ देना चाहिये। हरजसरायने कहा—तुम लोग जाओ मैं वृद्ध आदमी हूँ। मुझे धनकी आवश्यकता नहीं। हमारे जिनेन्द्रकी पूजा कौन करेगा? यदि आदमी रखा जायगा तो वह भी इस विपत्तिके समय यहाँ स्थिर रह सकेगा, यह सम्भव नहीं। पिताके आग्रहसे लड़के चले गये। एक घण्टे बाद चोर आये। हरजसरायने अपने हाथसे स्वयं तिजोरियाँ खोल दीं। चोरोंने सब सामान इकट्ठा किया। ले जानेको तैयार हुए, इतनेमें एकाएक उनके विचारमें आया कि कितना भला आदमी है? इसने एक शब्द भी नहीं कहा। लूटनेके लिये सारी दिल्ली पड़ी है, कौन यही एक है, इस धर्मात्माको सताना अच्छा नहीं। हरजसरायने बहुत कहा, पर एक कणिका भी नहीं ले गये। और दूसरे चोर आकर इसे तङ्ग न करें, इस ख्यालसे उसके दरवाजेपर ५ डाकुओं-

सत्य अनाद्यनन्त नित्योद्योत विशद ज्ञानज्योति-स्वरूप मानता है। सम्यग्दृष्टि जीव ससारसे उदासीन होकर रहता है। तुलसी दासने एक दोहेमें कहा है—

'जग तै रहु छत्तीस हो रामचरण छह तीन।'

संसारसे छत्तीस ३६ के समान विमुख रहो और रामचन्द्रजी के चरणोंमें ६३ के समान सम्मुख।

वास्तवमें वस्तु तत्त्व यही है कि सम्यग्दृष्टिकी आत्मा बडी पवित्र हो जाती है, उसका श्रद्धान गुण बडा प्रबल हो जाता है। यदि श्रद्धान न होता तो यह बीसा उपवास करनेवाले क्या ऐसा करते? यदि धर्मका श्रद्धान न होता तो इतना क्लेश कौन सहता? पाप करके लक्ष्मीका सचय जिनके लिये करना चाहते हो वे उसके फल भोगनेमें शामिल न होंगे। वाल्मीकिका किस्सा है, वाल्मीकि जो एक बडा ऋषि माना जाता है, चोरी डकैती करके अपने परिवारका पालन करता था। उसके रास्ते जो कोई निकलता उसे वह लूट लेता था। एक बार एक साधु निकले। उनके हाथमें कमण्डलु था। वाल्मीकिने कहा रख दो यहाँ कमण्डलु। साधुने कहा बच्चे यह तो डकैती है, इसमें पाप होगा। वाल्मीकिने कहा—मैं पाप पुण्य कुछ नहीं जानता, कमडलु रख दो। साधुने कहा—अच्छा, मैं यहाँ खडा रहूँगा, तुम अपने घरके लोगोंसे पूछ आओ कि मैं एक डकैती कर रहा हूँ उसका जो फल होगा उसमें तुम शामिल हो, कि नहीं? लोगोंने टका-सा जवाब दे दिया तुम चाहे डकैती करके लाओ चाहे साहूकारीसे। हम लोग तो खानेभरमें शामिल हैं। वाल्मीकिको बात जम गई और वापिस आकर साधुसे बोला—बाबा मैंने डकैती छोड दी। आप मुझे अपना चेला बना लीजिये।

वास्तविक धन यही है। अतएव पाप पुण्यके द्वारा जिनके लिये सम्पत्ति इकट्ठी कर रहे हो वे कोई साथ देनेवाले नहीं हैं। अब समय रहते सचेत हो जाओ। अरे, आप लोगोंमें कोई हमारा साथ देता है या नहीं।

('तुलसी [illegible]' से)

बन्ध

अध्यवसाय भाव ही बन्धका कारण है। बाहिरी क्रिया कोई बन्धका कारण नहीं है परन्तु अन्तरगमें जो विकारी भाव होते हैं वही बन्धके कारण हैं।

जैसे, किसीने किसीको मार डाला, तो मारनेसे बन्ध नहीं हुआ पर अन्तरगमें जो उसके मारनेके भाव हुए उससे बन्ध हुआ। कोई पूछे कि बाह्य वस्तु जब बन्धका कारण नहीं है तो उसका निषेध किसलिये किया जाता है कि बाह्य वस्तुका प्रसङ्ग मत करो त्याग करो। उसका समाधान यह है कि बन्धका कारण निश्चय नयसे अध्यवसान ही है और बाह्य वस्तुएँ अध्यवसानका आलम्बन हैं उनकी सहायतासे अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिये अध्यवसान कारण कहा जाता है। बिना बाह्य वस्तुके अवलम्बनके निराश्रय अध्यवसान भाव नहीं उपजता। इसीसे बाह्य वस्तुका त्याग कराया गया है।

सच्चा त्याग—

हम पर पदार्थोंका त्याग करना ही सच्चा त्याग समझ लेते हैं। परन्तु वास्तवमें पर पदार्थ हमारा है कहाँ? जिसका हम त्याग करनेके हकदार कहलाते हैं, वह तो जुदा है। अत पर पदार्थका त्याग, त्याग नहीं। सच्चा त्याग तो अन्तरगकी मूर्छाका होता है। हमने उस पदार्थसे अपनी मूर्छा हटा ली तो उसका स्वत त्याग हो गया। अत प्रवृत्तिकी ओर मत जाओ, निवृत्ति पर ध्यान दो। कोई कहता है कि हमने १००) रुपयेका दान कर दिया। अरे

मूर्छा, १००) रुपये तुम्हारे थे कहाँ, जो तुमने दान कर दिये। वे तो जुदे ही थे। तिजोड़ीमें निकालकर दानशालामें धर दिये। सो रुपयोंका त्याग करना त्याग हुआ नहीं हुआ, पर अन्तरंगमें जो तुम्हारी मूर्छा उन रुपयोंमें लग रही थी वह दूर हो गई। अतः मूर्छाका त्याग करना वास्तविक त्याग कहलाता। कोई कहता है कि हमने इतने परिग्रहका त्याग कर दिया, अमुक परिग्रहका प्रमाण कर लिया तो क्या वह परिग्रहका प्रमाण हो गया? नहीं। परिग्रह प्रमाण अब नहीं हुआ। परिग्रहप्रमाणव्रत तब हुआ जब तुम्हारी इच्छा जितनी कम हो गई। तुम्हारा मन जो दौड़ धूप कर रहा था अब उस पर कन्ट्रोल हो गया, उस पर विजय पाली अब इच्छा जितनी कम हुई उतना प्रमाण हुआ इसलिये त्याग कहलाया।

कोई किसीको नहीं मारता जिलाता—

यह कहना कि मैं इसको जिलाता हूं और इसको मारता हूं, मिथ्या अभिप्राय है। कोई किसीको मारता और जिलाता नहीं है सब अपनी-अपनी आयुसे जीवित रहते हैं और आयुके निरन्तर पूरे होनेसे मरणको प्राप्त होते हैं। आचार्य कहते हैं अरे, क्या तेरे हाथमें आयु है जो तू दूसरेको जिलाता तथा मारता है? निश्चयसे करके जीवके मरण है वह अपने आयु कर्मके क्षयसे होता है। और अपना आयु कर्म अन्य कर हरा नहीं जा सकता। इसलिये अन्य अन्यका मरण कैसे कर सकता है? इसी तरह जीवोंका जीवन भी अपने आयु कर्मके उदयसे ही है।

कोई किसीको सुखी दुःखी नहीं करता—

मैं पर जीवको सुखी दुःखी करता हूं और मुझे पर जीव सुखी दुःखी करते हैं, यह भी तेरा अज्ञान है, क्योंकि सुख दुःख सब

जीवात्मा अपने कर्मके उदयसे होता है और वह कर्म अपने-अपने परिणामोंसे उत्पन्न होता है। इस कारण पर दूसरेको सुख दुख कैसे दे सकता है? मैनासुन्दरीको ही देखो। अपने पितासे स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने पुरुषार्थसे खाती हूँ। उसके पिताने कोढ़ी श्रीपालसे उसका विवाह कर दिया। पर मैनाने सिद्ध चक्रका विधान रचकर उसका कोढ़ भी दूर कर दिया। पर विचार करो क्या उसने पतिका कोढ़ दूर कर दिया? अरे उसके पुण्यका उदय होना था कोढ़ दूर हो गया। उसका मिलना था सो निमित्त मिल गया। पर क्या वह ऐसा नहीं जानती थी? अतः सब अपने भाग्यसे सुखी और दुखी हैं।

समयसारमें लिखा है —

'सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-

कर्मोदयान्मरणजीवितदुःख सौख्यं ॥

अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य ।

कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥'

इस लोकमें जीवोंके जो मरण, जीवन, दुःख और सुख होते हैं वे सब स्वकीय कर्मोंके उदयसे होते हैं, ऐसा होने पर भी जो ऐसा मानते हैं कि परके द्वारा परके जीवन मरण दुःख और सुख होते—यह अज्ञान है।

कोई किसीको नहीं बाँधता छोड़ता—

कोई कहे कि मैं इसको मोचन करता हूँ और इसको बाँधता हूँ तो यह भी मिथ्या है। तुमने अपना अभिप्राय तो ऐसा कर लिया कि 'एनं' 'मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ, और 'एनं बन्धयामि' मैं इसको बाँधता हूँ। पर जिससे ऐसा कहा

कि 'एन मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ [illegible]
परिणाम कर लिया तो कहाँ वह मुक्त हुआ ? और [illegible]
कहा कि 'एन बन्धयामि' मैं इसको बाँधता हूँ [illegible]
परिणाम कर लिये तो वह मुक्त हो गया। और [illegible]
अभिप्राय नहीं किया। [illegible] सराग परिणाम कर लिये [illegible]
ने वीतराग भाव कर लिये, तो पहिला बन्ध [illegible]
मुक्त हो गया। इसलिये यह बन्धन क्रिया [illegible]
तुम्हारे हाथकी बात नहीं है। तुम अपने पदार्थके [illegible]
पर पदार्थ अपनेका है। तुम दूसरे पदार्थको [illegible]
परिणमाना चाहो तो वह त्रिकालमें नहीं [illegible]
'एन मोचयामि' मैं इसको मोचन करता हूँ [illegible]
इसको बाँधता हूँ ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है [illegible]
कर्मका बन्धन होता है। हाँ तुम अपना [illegible]
दूसरा चाहे कुछ भी अभिप्राय रक्खे।

निर्मल अभिप्राय—

निर्मल अभिप्राय ही मोक्षमार्ग है। [illegible]
पर अभिप्राय निर्मल नहीं तो कुछ नहीं। [illegible]
'प्रभु पतित पावन'। अरे, प्रभु थोड़े ही [illegible] है। [illegible]
उतने अशमें अपने अभिप्राय निर्मल कर [illegible]
पावन हो गये। प्रभु क्या पावन करेंगे। [illegible]
लिया, पर कार्य हुआ तुममें। इसीलिये [illegible]
जी अपनी स्तुतिमें लिखते हैं कि—

मुझ काज के कारण [illegible] आप।
सो करो हरो मम [illegible] ताप॥

और भगवानकी महिमाको कौन जान सकता है। भगवान की महिमा भगवान ही जाने। हम मोही जीव उनकी महिमाको क्या जान सकते हैं, तो प्रयोजनीय बात इतनी ही है कि पर पदार्थ हमारी श्रद्धामें आ जाय कि ये हमारी चीज नहीं है। तो फिर ससार बन्धनसे छूटनेमें कोई बडी बात नहीं है। समझ लो रागद्वेषादिक परकृत विकार हैं, मेरे शुद्ध स्वभावको घातनेवाले हैं इसलिये छोडनेका प्रयत्न करो। सम्यक्त्वीके यही श्रद्धान तो दृढ हो जाता है। वह जानता है कि मेरा आत्मा तो स्वच्छ स्फटिक समान है। ये जितने भी औपाधिक भाव होते हैं वे मोहके निमित्तसे होते हैं। अत उन्हें छोडनेका पूर्ण प्रयत्न करता है। हमलोग बाह्य चारित्रके पालनमें आतुर हो जाते हैं।

निर्मल श्रद्धा—

चारित्रमें क्या है सबसे बडी श्रद्धा है। भगवान् आदिनाथने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमें व्यतीत कर दिये। एक पुत्रको इस बगल मे बिठालते रहे और दूसरेको दूसरी बगलमे। नाना प्रकारकी ज्योतिष और गणितविद्या भी बतलाते रहे। यह सब क्या, परन्तु बन्धुओ, चारित्रमोहकी मन्दता हुई तो घर छोडनेमें देर न लगी। तो हमें चारित्रमें इतना यत्न न करना चाहिये। चारित्र तो कालान्तर पाके हो ही जायगा। चारित्र पालनेमे उतनी बढाई नहीं है जितनी श्रद्धा लानेमे। श्रद्धामें अमोघ शक्ति है। यथार्थ श्रद्धा ही मोक्षमार्ग है। सम्यक्त्वीके श्रद्धाकी ही तो महिमा होती है। वह पर पदार्थोंका भोग नहीं करता सो बात नहीं है। पर श्रद्धामें जान जाता है कि 'अरे यह तो पराई है।' अब देखिये लडकी जब पैदा होती है तब माँ अन्तरगमें जान ही तो जाती है कि यह पराई है। वह उसका पालन-पोषण नहीं करती सो बात

नहीं है वह पालती है, उसे बड़ा करती है, उसका विवाह भी रचाती है और जब पर घर जानेको होती है तब रोती भी है चिल्लाती है और थोडी दूर तक साथ भी जाती है, पर कब तक ? यही हाल उसका होता है। वह भोग भोगता है, युद्ध करता है, अदालतमें मुकदमा भी लड़ता है पर कब तक ? और हम आपसे पूछते हैं, उसके काहेके भोग हैं ? बिल्ली चूहेको पकड़ लेती है और लाठी मारने पर भी नहीं छोड़ती, भोग तो वह कहलाते हैं। हरिण मुखमें तृण लिये हुए है पर यों ताली फटकारी चौकड़ी भरकर भाग खड़ा हुआ तो वह काहेका भोग ? भोग तो वही है जिसमें आसक्ति हो, उसमें उपादेय बुद्धि हो। अब मुनिको ही देखो। क्या उनके भी परीषह नहीं होती ? होती है, पर जैसी हमको होती है वैसी उनके नहीं है। क्या उनको क्षुधाका वेदन नहीं होता ? यदि वेदन नहीं होता तो आहार लेनेके वास्ते जाते ही क्या हैं ? क्षुधाका वेदन होता है पर वह उस चालका नहीं है। निरन्तराय भोजन मिला तो कर लिया नहीं तो वापिस लौट आते हैं। किसी कविने कहा है —

अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

यदि अपराधी व्यक्ति पर क्रोध करते हो तो सबसे बड़ा अपराधी क्रोध है उसी पर क्रोध करना चाहिये, क्योंकि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका शत्रु है। अच्छा बतलाओ किस पर तोप-रोष करें। हम जितने भी पदार्थ संसारमें देखते हैं, सब अचेतन ही तो हैं और चेतन है सो दिखता नहीं है। जैसे हमने तुम पर क्रोध किया, तो क्रोध किस पर किया वह अचेतन है

और जिस पर करना चाहते हो वह निरता नहीं अमूर्तिक है। अत हमारी समझमें तो रागद्वेषादिक करना सब व्यर्थ है।

अपनी आत्माका उद्धार करो—

अपना कल्याण करे दुनियाँको न देखे। जो दुनियाँको तो शिक्षा करे और अपनी ओर न देखे तो उससे क्या लाभ? अरे अनादि कालसे हमन परको बनानेकी कोशिश की है और फिर भी परको बनानेमें अपनेको चतुर समझते हैं सो उस चतुराईका धिक्कार है जो दूसरोंको उपदेश करे, व अपने आत्माके हितका नाश करे। उस आँखसे क्या लाभ जिसके होते हुए भी गड्ढेमें गिर पड़े। उस ज्ञानसे भी क्या जो ज्ञानी होकर विषयोंके भीतर पड़ जावे। इसलिये केवल अपनेको बनाए। जिसने अपनेको नहीं बनाया वह दूसरोंको भी क्या बना सकता है? अपनेको बनाना ही संसार बन्धनसे छूटनेका प्रयास है। यही मोक्षकी कुञ्जी है।

एक धुनियाँ था। वह कहीं कामसे चला जा रहा था। मार्गमें उसने रुईसे भरे जहाजोंको आते हुए देख लिया। उसने सोचा हाय! यह तो मुझे धुननी पड़ेगी। ऐसा सोचते ही घरमें आकर वह बीमार पड़ गया। उसके लड़केने पूछा पिताजी! क्या बात हो गई? वह बोला—'कुछ नहीं'। वैसे ही तबियत खराब हो गई है। लड़केने बहुत डाक्टरों और वैद्योंका इलाज करवाया पर वह अच्छा नहीं हुआ। अन्तमें एक आदमीको मालूम हुआ और उसने लड़केसे पूछा—तेरे पिताजी की कैसी तबियत है? वह बोला—कुछ नहीं, उन्होंने कहीं रुईसे भरे हुए जहाजोंको देख लिया है इस कारण बीमार पड़ गये हैं। उस आदमीने सोचा कि अरे वह धुनिया तो है ही शायद उसने समझा होगा कि यह

रुई कहीं मुझे ही न धुननी पड़े। वह बोला—अच्छा, हम तुम्हारे पिताजी को अच्छा कर देंगे लेकिन १००) रुपये लेंगे। लड़केने मंजूर कर लिया।

उस आदमीने उसी समय उसके घर जाकर एक गिलास पानी लिया और कुछ मन्त्र पढ़कर कुछ राख डालकर धुनियासे कहा इस गिलासका पानी पी जाओ। उस धुनियेने वैसा ही किया और वह पानी पी लिया। तब वह आदमी बोला—'देखो' उन रुईसे भरे हुए जहाजोंमें आग लग गई। इतना कहना था कि वह झट बोल उठा—क्या सचमुच उन जहाजोंमें आग लग गई। उसने कहा—हाँ। तुरन्त ही वह भला चंगा हो गया। इसी प्रकार हम भी पर पदार्थोंको लक्ष्य कर यह सोच रहे हैं कि हम यह करना है, वह करना है। इसी कारण रोगी बन हुए हैं और जब अपने स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तब प्रतीत होता है कि हमें कुछ नहीं करना है। केवल अपने आपको पहिचानना है।

(सुखकी झलक' से)

बन्ध मुक्ति

आत्माके केवल एक राग ही बन्धका कारण है। जैसे तैल मर्दनयुक्त पुरुष अखाड़ेकी भूमिमें धूलिसे लिप्त हो जाता है वैसे ही रागादिककी चिकनाहट जीवको बन्ध करानेवाली है।

निश्चयसे केवल अन्तरंगका अध्यवसान ही बंधका कारण होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। बाह्य वस्तुओंसे बन्ध नहीं होता वह तो अध्यवसानका कारण है। इसीलिए चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्य वस्तुओंका निषेध किया जाता है, क्योंकि जहाँ कारण होता है वहीं कार्यकी सिद्धि है। अतः आचार्योंने पराश्रित व्यवहार सभी छुड़ाया है केवल शुद्ध आनन्दस्वरूप अपनी आत्माका ही अवलम्ब ग्रहण कराया है। अव्रती सम्यग्दृष्टिके चारित्रको कुचारित्र नहीं कहा और द्रव्यलिंगी मुनि जो एकादश अंगके पाठी हैं फिर भी उनके चारित्रको कुचारित्र बतला दिया। तो केवल पढ़नेसे कुछ नहीं होता जिस पठन-पाठनके फलस्वरूप जहाँ आत्माको बोधका लाभ होना चाहिए था वह नहीं हुआ तो कुछ भी नहीं किया।

शरीरकी अपेक्षा हृदयको सजाइये—

हम नित्य पुस्तकोंको खोलते हैं, उसपर सुन्दर सुन्दर गत्तेके आवरण भी चढ़ाते हैं पर अन्तरंगका कुछ भी ख्याल नहीं करते तो क्या होता है? अतः मन अन्तरंगसे ही बन्धकी क्रिया होती है। यदि स्त्री भी त्यागी, घर भी त्यागा और दिगम्बर भी हो गए, पर अन्तरंगकी राग द्वेषमयी परिणतिका त्याग नहीं हुआ तो कुछ भी त्याग नहीं किया। साँपने केंचुलीका तो त्याग कर

दिया पर अन्तरगका जो विष है उसका त्याग नहीं किया तो क्या फायदा ? जबतक आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग नहीं होता तबतक किञ्चित् भी त्याग नहीं कहलाता। अब देखिए, कुत्तेको लाठी मारी जाती है तो वह तो लाठी पकड़ता है, परन्तु सिंहका यह कायदा है कि वह लाठीको न पकड़ मनुष्यको ही पकड़ता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अन्तरग परिग्रह जो रागादिक हैं उन्हें हटानेका यत्न करता है पर मिथ्यात्वी ऊपरी टीपटापमें ही धर्म मान बैठता है। एक प्रात कालकी ललामी है तो एक सायकाल की ललामी। प्रात कालकी ललामी तो उत्तर कालमें प्रकाशका कारण है और सायकालकी ललामी उत्तर कालमें अन्धकारका कारण है दोनों हैं ललामी ही। अत यह सब अन्तरगके परिणामोंकी जाति है। सुदर्शन सेठको रानीने कितना फुसलाया पर वह अपने सम्यक् परिणामोंपर दृढ बने रहे। तो बाहरसे कुछ भी क्रिया करो, क्या होता है ?

अन्त' कलुषताके कारण त्यागिये—

हम बाह्य निमित्तोंको हटानेका प्रयत्न करते हैं, इन निमित्तो-को हटानेसे क्या होगा ? हम आपसे पूछते हैं। किस किसको बाह्य निमित्त बनाकर हटाओगे ? तीनों लोकोंमें निमित्त भरा पड़ा है। अत यह अन्तरका निमित्त हटाओ जिसकी वजहसे अन्य निमित्तोंको हटानेका प्रयत्न किया जाता है। अन्तरगसे यह कलुपता हटानेकी आवश्यकता है जिससे बन्ध होता है। तुम चाहे कुछ भी कार्य करो पर अन्तरगमें जैसे तुम्हारे अध्यवसान हैं उसीके अनुसार बन्ध होगा। एक मनुष्यने दूसरे को तलवारसे मारा तो तलवारको कोई फाँसी नहीं देता। मनुष्य ही फाँसीपर लटकता है। तो बाह्य वस्तुओंको त्यागनेकी आव

श्यकता नहीं, आवश्यकता है अन्तरङ्गसे रागादिक त्यागकी। सम्यग्दृष्टि क्रोध भी करता है पर अन्तरङ्गसे जानता है कि ये मेरे निज स्वभावकी चीज नहीं है। औदयिक परिणाम है मिटनेवाली चीज है। अतः त्यागनेका प्रयत्न करता है। वह त्यागको ही सर्वस्व मानता है। पञ्चम गुणस्थान देशव्रतमें अव्रत का त्याग किया, अप्रमत्तमें प्रमादका त्याग किया और आगे चढ़ा तो सूक्ष्मसाम्परायमें लोभका त्याग किया और क्षीणमोहमें मोहका त्यागकर एक निज शुद्ध स्वरूपमें ही रह गया। इससे धर्मका उपदेश त्याग प्रधान है। हम लोग बाह्य वस्तुओंको त्यागकर अशान्तिको बढ़ा लेते हैं। अरे, त्यागका यह मतलब थोड़े ही था। त्यागसे तो सुख और शान्तिका उद्भव होना चाहिए था, परन्तु यह नहीं हुआ तो त्यागसे क्या लाभ हुआ? त्यागका अर्थ ही आकुलताका अभाव है। बाह्य त्यागकी वहींतक मर्यादा है जहाँतक वह आत्मपरिणामोंमें निर्मलताका साधक हो। तो आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग परमावश्यक है परन्तु परिग्रहका त्याग बहुत कठिन है, कोई सामान्य बात नहीं है। परिग्रहसे ही देखो सारे झगड़े हैं। यदि तुम्हारे पॉकेटमें दाम रखे हुए हैं तो उनके कट जानेका भय है। मुनि हैं नगे हैं तो उन्हें काहेका भय, बताओ। तो परिग्रह त्यागमें ही सुख है। तुम परिग्रहको मत त्यागो पर उसके दोष तो जानो, यह तो मानो कि संसार बेलको बढ़ानेवाली है। भोजन खानेका निषेध नहीं है परन्तु उसमें जो दोष हो उसे तो मानो समझो कि वस्तुतः उसमें स्थायी आस्वाद नहीं है। भगवानका पूजन भी करो, परन्तु यह तो मानो कि साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं है। अतः अन्तरङ्गमें एक केवल शुद्धात्मा का ही अनुभव करो।

मोहके चक्रसे बचिये—

"हम तुम एक हैं" यह मोहकी महिमा तो देखो। हम और तुम अलग अलग कहता ही जा रहा है और एक बतला रहा है कि 'हम तुम एक हैं।' अब तुम देखो मुनिके पास जाओ तो क्या कहेंगे? यही कि हम सरीखे हो जाओ। और क्या? [illegible] छोड़ो, बाल बच्चे छोड़ो और नग धड़ग हो जाओ तो [illegible] उनमें कमी जानिका मोह है। जैनी कहते हैं कि सब [illegible] हो जाए। मुसलमान सबको मुसलमान हो जानेको कहते हैं [illegible] ईसाई सबको ईसाई बनाना चाहते हैं। तो सब अपने [illegible] डपली अपना अपना राग अलापते हैं, क्योंकि उनके [illegible] प्रकारका मोह है। अत मोहकी विलक्षण महिमा है। [illegible] चाहते हैं कि सब ससार मुनि हो जाए पर होय कैसे? [illegible] चक्र ही ऐसा चला आया है।

कोई कहे कि हमारी आत्मा तो भोजन [illegible] लिए हम भोजन क्यों करें? मत करो। कौन [illegible] भोजन करो। पर दो ही दिन बाद क्षुधाकी [illegible], क्योंकि मोहकी सत्ता विद्यमान है। उसके [illegible] नहीं करोगे? हाँ, मोह जिनके नष्ट हो गया है [illegible] क्षुधा-की वेदना नहीं है। औदारिक शरीर होते हुए [illegible] वेदना उनको नहीं सताती। अत मोहमें ही [illegible] है।

शक्तिके अनुसार ही त्याग कीजिये—

कार्य धीरे धीरे होता है। देखिये [illegible] फूलता फलता है। एक मनुष्य था। वह [illegible] था। उसने एक बुढ़ियाको जाड़ेमें [illegible]। [illegible] दया आ गई और अपना कम्बल [illegible]। पर [illegible]

पड रहा था। उसे ठंड सहन नहीं हुई तो आप किसी मकानमें घुस गया और वहाँ छप्पड खींचने लग गया।

'कौन है' मकानवालेने पूछा।

वह बोला—'मैं हूँ धर्मात्मा दादा।'

वह तुरन्त आया और उससे छप्पर खींचनेका कारण पूछा। उसने कहा—'मेरे पास एक कम्बल था सो मार्गमें मैंने एक बुढ़ियाको दे दिया। पर मुझे ठंड बहुत लग रही थी तो मैं यहाँ चला आया।'

मकानवालेने कहा—'अरे, जब तुझपर ठंड सहन नहीं हुई तो अपना कम्बल उस बुढ़ियाको दे क्यों दिया?'

वह चुप रहा और धीरेसे निकलकर अपना मार्ग जा नापा। तो तात्पर्य यही कि अपनी जितनी शक्ति हो उसीके अनुसार कार्य करना चाहिए। मान बड़ाईमें आकर शक्तिसे परे आचरण करना तो उल्टी अपनी पूंजी खोना है।

वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो कल्याण करनेमें कुछ नहीं है। केवल उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। जब नकुल शूकर और वानर आदि तिर्यंचोंने अपना कल्याण कर लिया तो हम तो मनुष्य हैं, सज्ञी पचेन्द्रिय हैं। क्या हम अपना कल्याण नहीं कर सकते? अवश्य कर सकते हैं।

मनुष्यको देवसे बड़ा समझिये—

मनुष्य यदि चाहे तो देवोंसे भी बड़ा बन सकता है। अभी त्याग मार्गको अपना ले तो आज वह देवोंसे बड़ा बन जाय। मनुष्य वास्तवमें क्या नहीं कर सकता? वह तप, यम, सयम सब कुछ पाल सकता है जो देवोंको परम दुर्लभ है। वे देव यदि तप करना चाहें अथवा सयम पालना चाहें तो नहीं पाल सकते।

उपरसे हजारों वर्ष तक नहीं मारें पर अन्तरंगमें तो इनकी चाह मानेकी नहीं मिटती। मनुष्य पर्याय क्यों उत्तम बतलाई है, इसीसे कि उसमें बाह्याभ्यन्तर त्याग करनेकी शक्ति है। अरे देव ज्यादासे ज्यादा नंदीश्वर द्वीप चले गये, पञ्च कल्याणकके उत्सव देख लिए और क्या है? चौथे गुणस्थानसे तो आगे नहीं बढ़ सकते। पर मनुष्य यदि चाहे तो चौदह गुणस्थान पार कर सकता है—यहाँ तक कि वह सर्वार्थसिद्धिके देवों द्वारा पूजनीय हो सकता है। और तुम चाहो तो कुछ बन जाओ। चाहे पाप करके नरक चले जाओ। चाहे पुण्योपार्जन करके स्वर्गमें, और पाप पुण्यको नाश कर चाहे मोक्ष चले जाओ। २४ गत्यागति है, चाहे जिसमें भी चले जाओ। यह तुम्हारे हाथकी बात है।

अपने पदको पहिचानिये—

माघनन्दि आचार्यको ही देखो। दूसरे आचार्यने शिष्यसे कहा कि माघनन्दि आचार्यके पास, जाओ वही प्रश्नका उत्तर देंगे। तो क्या उनको उस प्रश्नका उत्तर नहीं आता था? पर क्या करें? उनको किसी तरह जो अपना पद बतलाना था। अत अपने पदको पहिचानो। यही एक अद्वैत है। इसीका केवल अनुभव करो। और देखो, यदि अनुभवमें आवे तो इसे मानो अन्यथा कोई बाध्य नहीं करता। कुन्दकुन्दाचार्यने यही कहा कि अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। बाध्य होकर मानना कोई मानना नहीं हुआ करता। कोई कहे आत्मा तो अमूर्तिक है, वह दिखती ही नहीं तो उसे देखनेकी क्या चेष्टा करें? तो कहते हैं कि वह दिखनेकी चीज ही नहीं है, अनुभवगोचर है। लोकमें भी किसी जिसको धातराग हो जाता है उसका दुःख वही जानता है। नाहम वह रोग प्रकट नहीं दिखता पर जिसके दर्द

है उसमें ही अनुभव होता है। इसी तरह आत्मा एक अनुभवकी चीज है। आचार्योंने स्पष्ट लिख दिया—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥'

यह ईश्वरका स्वरूप है। निरारम्भी गुरु है। दयामयी धर्म है। अथवा जिस वस्तु का जो स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। अतः जिस तरह आत्मा अनुभवमें आवे वही उपाय श्रेयस्कर है।

अपनेको पर द्रव्यका कर्ता मत मानिये—

सब द्रव्योंके परिणाम जुदे-जुदे हैं। अपने अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और अजीव अपने परिणामोंका यह निश्चय नयका सिद्धान्त है। पर अनुभवमें जब तक भेद ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक यह अपनेको पर द्रव्योंका कर्ता अनुभव करता है। लेकिन पर द्रव्योंका कर्ता त्रिकालमें नहीं होता। जैसे तन्तुवायने ताना बाना करके वस्त्र तैयार किया, पर तन्तुवायका क्या एक अंश भी वस्त्रमें गया? वस्त्रका परिणमन वस्त्रमें हुआ और तन्तुवायका परिणमन तन्तुवाय में। पर तन्तुवायने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहारसे कहता है पर निश्चयसे ऐसा नहीं है। वस्त्रकी क्रिया वस्त्रमें ही हुई है। अतः वह वस्त्रका कर्ता नहीं है। ज्ञानी केवल अपने ज्ञानका कर्ता है। वह दूसरे ज्ञेयोंको जानता है। यदि पूर्वोपार्जित कर्मका उदय भी आता है तो उस कर्मफलको वह जानता ही है अतः समतासे भोग लेता है।

पर द्रव्यको अपना मत समझिये—

हम पर द्रव्यको अपनी मान लेते हैं तभी दुखी होते हैं। कोई इष्ट वस्तुका वियोग हुआ तो दुखी होकर चिल्लाने लगे। क्यों? उसे अपनी मान लिया। कोई अनिष्ट वस्तुका संयोग होगया तो आर्तध्यान करने लगे। यह सब पराई वस्तुको अपना माननेका कारण है। परको आपा मानना मिथ्या है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ समझो हमारा नहीं है। स्त्री भी घरमें आई तो समझो पराई है। ऐसा समझने पर उनका वियोग भी हो जायगा तो तुम्हें दुःख नहीं होगा। अब देखो, मुनि जब विरक्त हो जाते हैं तो स्त्रीसे ममत्व बुद्धि ही तो हटा लेते हैं। और जब वह स्त्री मुनिको पड़गाह लेती है तो क्या आहार नहीं लेते? और उनके हाथमें भोजन भी रखती है तो क्या औरत साथ लेते हैं? नहीं। उसे देखते हैं, आहारको भी शोधकर खाते हैं पर उससे मूर्छा हटा लेते हैं। दुनियाँ भरके कार्य करो कौन निषेध करता है? पुत्रको पालो, कुटुम्बको खिलाओ पर अपनेसे जुदा समझो। इसी तरह पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर समझो हमारा नहीं है। यदि इसे खिलाओगे नहीं तो बताओ काम कैसे देगा? अरे, हाड़ मास चाम बने रहो इससे हमारा क्या बिगड़ता है? बने रहो, पर इसे खिलाओ नहीं यह कहाँका न्याय है? इसे खिलाओ पिलाओ पर इससे काम भी पूरा लो। नौकरको मत खिलाओ तो देखें कैसे काम करेगा? मुनि क्या शरीरको खिलाते नहीं हैं? इसे खिलाते तो हैं पर उससे पूरा-पूरा काम भी लेते हैं। पुद्गलको खिलाओ पिलाओ पर उसे अपना मत मानो। माननेमें ही केवल दोष है। रस्सीको सर्प मान लिया तो गिर रहे हैं, पड़ रहे हैं, चोट भी खा रहे हैं। तो यह क्यों? केवल ज्ञानमें ही तो रस्सीकी कल्पना कर ली। और रस्सा कभी सर्प होती नहीं इसी तरह पुद्गल कभी

है उसे हम अनुभव होता है। इसी तरह आत्मा एक अनुभवकी चीज है। आचार्योंने स्पष्ट लिख दिया—

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये ॥'

यह देवका स्वरूप है। निरारम्भी गुरु है। दयामयी धर्म है। अथवा जिस वस्तु का जो स्वभाव है उसका वही धर्म है। यदि यह अनुभवमें आवे तो मानो नहीं तो मत मानो। अत जिस तरह आत्मा अनुभवमें आवे वही उपाय श्रेयस्कर है।

अपनेको पर द्रव्यका कर्ता मत मानिये—

सब द्रव्योंके परिणाम जुदे-जुदे हैं। अपने-अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और अजीव अपने परिणामोंका यह निश्चय नयका सिद्धान्त है। पर मनुष्यको जब तक भेद ज्ञान प्रकट नहीं होता तब तक यह अपनेको पर द्रव्योंका कर्ता अनुभव करता है। लेकिन पर द्रव्योंका कर्ता त्रिकालमें नहीं होता। जैसे तन्तुवायने ताना बाना करके वस्त्र तैयार किया, पर तन्तुवायका क्या एक अश भी वस्त्रमें गया? वस्त्रका परिणमन वस्त्रमें हुआ और तन्तुवायका परिणमन तन्तुवाय में। पर तन्तुवायने वस्त्र बनाया ऐसा सब कोई व्यवहारसे कहता है पर निश्चयसे ऐसा नहा है। वस्त्रकी क्रिया वस्त्रमें ही हुई है। अत वह वस्त्रका कर्ता नहीं है। ज्ञानी केवल अपने ज्ञानका कर्ता है। वह दूसरे ज्ञेयोंको जानता है। यदि पूर्वोपार्जित कर्मका उदय भी आता है तो उस कर्मफलको वह जानता ही है अत समतासे भोग लेता है।

वे कहते—'कुछ कम करेगा ?'

यह कहता 'नहीं महाराज ! मेरी एक मन लकड़ियाँ हैं, इसे तौलकर देख लो यदि ज्यादा हों तो दाम लेना, नहीं मत देना' ?

जब उन्होंने तौलकर देखा तो ठीक एक मन निकलीं। उसे उन्होंने आठ आने दे दिये। इस तरह रोज उसकी लकड़ी बिक जाया करती।

एक दिन जब वह लकड़ी ले जा रहा था तो रास्तेमें एक नौकरने आवाज दी 'अरे, क्या लकड़ी बेचेगा ?

उसने कहा 'हाँ।'

'क्या दाम लेगा' नौकरने पूछा।

उसने कहा 'आठ आने'।

'सात आने लेगा' नौकर बोला।

उसने कहा 'नहीं।'

फिर उसने बुलाया और कहा 'अच्छा, साढ़े सात आने लेगा'।

यह बोला 'अरे, तू किस बेवकूफका नौकर है। एक बार कह दिया नहीं लूँगा।'

ऊपरसे उसका सेठ सुन रहा था। वह एक दम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है ?'

इसने कहा 'ठीक कहता हूँ। यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता।'

सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे तो मैं तुम्हारी पोल खोल दूँगा। तुम महाबदमाश परस्त्रीलम्पटी हो। इतने दिनों तक शास्त्रश्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पंच-पापोंका त्याग कर दिया।' सेठ उसके ऐसे वचन सुनकर एकदम सहम गया। तात्पर्य यह है कि उसने जो उसी समय पंच पापोंका त्याग कर

आत्मा होता नहीं। पर अज्ञानसे मान लेते हैं। बस यही केवल भूल है। उस भूलको मिटाकर भेदज्ञान करो। समझो आत्मा और पुद्गल जुदा द्रव्य है। परन्तु उस तरफ हमारा लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य करें तो ससार क्या है ?

इस लकड़हारेसे शिक्षा लीजिये—

एक लकड़हारा था, वह रोज एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता और बाजारमें बेच देता था। एक दिन उसने एक पण्डितजीसे व्याख्यान सुना। उसमें उन्होंने कहा कि यह पुद्गल जुदा और आत्मा जुदा है—यह सम्यग्दर्शन है। और फिर पच पापोंका स्वरूप बतलाया। उसने सोचा मैं हिंसा तो करता ही नहीं हूँ। और यह एक मन लकड़ीका गट्ठा लाता हूँ तो इसे आठ आनेमें बेच लिया करूँगा। मेरे यही एक भाव होगा। इस तरह झूठ भी नहीं बोलूँगा। मैं किसीकी चोरी तो करता ही नहीं हूँ अतः चोरीका भी सहजमें त्याग हो जायगा। मेरे एक अकेली स्त्री है, इसलिए पर स्त्रीका भी त्याग कर दूँगा। और पाचवाँ परिग्रह प्रमाण है। तो मुझे लकड़ी बेचनेसे आठ आने मिलेंगे ही। उसमें तीन आने तो खानेमें खर्च लूगा, दो आने बचाऊँगा, एक आना दान करूँगा और दो आने कपड़े आदिमें खर्च करूँगा। इस तरह परिग्रह प्रमाण भी कर लूँगा। ऐसा सोचकर उसने उसी समय पच पापोंका त्याग कर दिया। अब प्रतिदिन वह लकड़ी लाता और बाजारमें बेचनेको रख देता।

उसके पास ग्राहक आते और पूछते—'क्या लकड़ी बेचेगा ?'

वह बोलता—'बेचनेके लिए ही तो लाया हू।'

ग्राहक कहते—'क्या दाम लेगा' ?

वह बोलता—'आठ आने'।

वे कहते—'कुछ कम करेगा।'

वह कहता 'नहीं महाराज ! मेरी एक मन लकड़ियाँ हैं, इसे तौलकर देख लो यदि ज्यादा हो तो दाम देना, नहीं मत देना'?

जब उन्होंने तोलकर देखा तो ठीक एक मन निकलीं। उसे उन्होंने आठ आने दे दिये। इस तरह रोज उसकी लकड़ी बिक जाया करती।

एक दिन जब वह लकड़ी ले जा रहा था तो रास्तेमें एक नौकरने आवाज़ दी 'अरे, क्या लकड़ी बेचेगा ?

उसने कहा 'हाँ।'

'क्या दाम लेगा' नौकरने पूछा।

उसने कहा 'आठ आने'।

'सात आने लेगा' नौकर बोला।

उसने कहा 'नहीं।'

फिर उसने बुलाया और कहा 'अच्छा, साढ़े सात आने लेगा'।

वह बोला 'अरे, तू किस बेवकूफका नौकर है। एक बार कह दिया नहीं लूँगा।'

ऊपरसे उसका सेठ सुन रहा था। वह एक दम गरम होके नीचे आया और बोला 'अबे, क्या बकता है ?'

उसने कहा 'ठीक कहता हूँ। यदि तुम सत्य बोलते तो क्या तुम्हारा असर इस नौकर पर नहीं पड़ता।'

सेठ और भी क्रोधित हुआ। उसने फिर कहा 'यदि तुम क्रोधित होओगे तो मैं तुम्हारा पोल खोल दूँगा। तुम महाबदमाश परस्त्रीलम्पटी हो। इतने दिना तक शास्त्रश्रवण किया पर कुछ भी असर नहीं हुआ। मैंने एक बार ही सुनकर पच पापोंका त्याग कर दिया।' सेठ उसके ऐसे वचन सुनकर एकदम सहम गया। तात्पर्य यह है कि उसने भी उसी समय पच पापोंका त्याग कर

किया। तो देखो, उस पर वक्ता का असर नहीं पड़ा और उस लकड़हारेका उपदेश लग गया। इसका कारण यह कि लकड़हारेने स्वयं सुमार्ग पर चलकर उसे सुमार्ग सुझाया।

स्वयं सुमार्गपर चलिये—

जब हम स्वयं सुमार्गपर चलते हैं तब दूसरोंपर असर पड़ता है। हम रोते हैं कि हमारे बच्चे कहना नहीं मानते। अरे, मानें कैसे? तुम तो सुमार्गपर चलते नहीं हो वे कैसे तुम्हारा कहना मानें। बताओ! तुम तो स्वयं शुद्ध भोजन करते नहीं फिर कहते हो कि बीमार पड़ गए। ये जितनी भी बीमारियाँ होती हैं सब अशुद्ध भोजन खानेसे होती हैं। तुम तो बाजारसे चाट उड़ाओ और घर आकर अपनी स्त्रीसे कहो कि बाजारका मत खाओ। और कदाचित् खा भी ले तो फिर कहते हो हमारी स्त्री बीबी बन गई। अरे बीबी नहीं, वह तो बाबा हो जायगी। आप स्वयं शुद्ध भोजन करनेका नियम तो लो, वह दूसरे दिन स्वयं शुद्ध बनाने लगेगी। यदि तुम्हें फिर भी शुद्ध भोजन न मिले तो चक्की लेकर बैठ जाओ। दूसरे दिन वह स्वयं अपने आप पीसना शुरू कर देगी। तुम तो पर स्त्री लपटी बनो और स्त्रीको ब्रह्मचर्य-का उपदेश करो। आप तो रावण बनो और स्त्रीसे सती सीता बननेकी आशा करो। कैसा अन्याय है? ध्यान दो—यदि स्त्रीको सीता रूपमें देखना चाहते हो तो तुम स्वयं राम बनो, राम जैसे कार्य करो। तभी तुम्हारी कामनाएँ सफल होंगी।

पर वस्तुको त्यागिये—

तुम कहते हो कि जितने भी त्यागी आते हैं वह यही उपदेश करते हैं कि यह त्यागो, वह त्यागो। तो वह तो तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं। अरे, तुम पर वस्तुओंको अपना माने हुए हो

तभी तो वह त्यागनेका उपदेश करते हैं। और चोरटापन क्या है? पराई वस्तुको अपनी मानना यही तो चोरटापन है। तो वह तुम्हारा यह चोरटापन छुड़वाना चाहते हैं और वह तुम्हें बुरा लगता है। हाँ, यदि तुम्हारे निजकी चीज छुड़वाएँ तो तुम कह सकते हो। ज्ञान दर्शन तुम्हारी चीज है। उसे अपनाओ। लेकिन पर द्रव्योंको क्यों अपनाते हो? यह कहाँका न्याय है? अत वह तुम्हारे हितका ही उपदेश करते हैं।

इस जीवके अनादिसे चार संज्ञाएँ लग रही हैं। अब बताओ आहार करना कौन सिखलाता है? इसी तरह पुद्गलमें भी इसकी आत्मीय बुद्धि लग रही है। अब देखो यह लाल कपड़ा हम पहिने हुए हैं। तो इस लाल कपड़ेको पहिननेसे क्या यह शरीर लाल हो जाता है? यह कपड़ा इतना लम्बा चौड़ा है, इतना मोटा पतला है तो क्या यह शरीर इतना लम्बा चौड़ा दुबला पतला हो जाता है? नहीं। इसी तरह यह शरीर कभी आत्मा होता नहीं। इस शरीरमें जो पूरण गलन स्वभाव है वह कभी आत्मा-का नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि जो पुद्गलकी क्रिया है वह त्रिकालमें आत्माकी क्रिया नहीं है। अपनी वस्तुको अपना मानना ही बुद्धिमानोंका कार्य है।

श्रद्धाको दृढ़ कीजिये—

यह कोई बड़ी बात नहीं है। उस तरफ केवल हमारा लक्ष्य ही नहीं है। पर कमसे कम इतना तो जरूर हो जावे कि इस पुद्गलसे यह अभिप्राय हटा ले कि '*इदम् मम*' यह मेरा है। श्रद्धामें यह तो बिलकुल जम जावे। हम तो कहते हैं कि चारित्रको पालो या मत पालो कोई हर्ज नहीं। गृहस्थीके त्यागकी भी आवश्यकता नहीं पर यह श्रद्धान तो दृढ हो जाना चाहिए। अरे, चारित्र तो

कालान्तर पाकर हो ही जायगा। जब यह जान लिया कि यह मेरी चीज नहीं है तो उसे छोड़नेमें कोई बड़ी भारी बात नहीं। अब तीर्थंकरोंको ही देखिए। जबतक आयु पूर्ण न होय तब देखें मोक्ष कैसे चले जाँय। तो श्रद्धानमें यह निश्चय बैठ जाना चाहिये कि न मैं पुद्गलका हूँ और न पुद्गल मेरा है। इसके बिना करोड़ो जप तप करो कुछ फलदायी नहीं। अत सिद्ध हुआ कि श्रद्धामें अमोघ शक्ति है।

('सुखकी झलक' से)



हिंसा और अहिंसा

हिंसा—

लोक व्यवहारमें भी हिंसा उसे कहते हैं जिससे पर जीवका घात किया हो। आचार्योंने 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रको रच दिया। इसका मतलब यही कि प्रमादके निमित्तसे प्राणोंका वियोग करना हिंसा है। अतः प्रमादसे किसी भी कार्यको करना हिंसा है। तुमने प्रमादसे उससे कोई भी कार्य किया, चाहे उसमें हिंसा हुई हो अथवा नहीं, लेकिन उसमें हिंसाका दूषण लग गया। अब प्रत्येक व्यक्तिको प्रमाद या शिथिलाचारकी इन अवस्थाओंमें सदा सतर्क रहना चाहिये जिनमें कि क्षणमात्रकी असावधानीमें हिंसाके कारण अनन्त संसारका बंध होता है। प्रत्येक जीव अपनी आयुमें जीवित रहता है और आयुके निषेक पूरे होनेसे मरण प्राप्त करता है। कोई किसीकी आयुको न देता है न हरता है। छत्रमालका नाम प्रसिद्ध है। इनके विषयमें यह जनश्रुति है कि जब इनके पिताके नगरपर मुगलोंने आक्रमण किया तो उनकी सारी सेना हार गई। कोई चारा न देखकर आप अपनी स्त्री समेत भागनेको एक घोड़ेपर सवार हुए। स्त्रीके उदरमें था गर्भ। ज्योंही वे भागनेको तैयार हुए उसी समय बच्चा पैदा हो गया। अब वे दोनों असमंजसमें पड़ गये कि अब क्या करना चाहिये? इधर तो बच्चेका जन्म है और उधरसे सेनाका आक्रमण। तो उन्होंने अपने प्राण बचानेके लिये बच्चेको एक तरफ

फेंका ना गह मकोड़ोंके झाड़में जा पड़ा। उसके ठीक ऊपर था एक मधुका छत्ता। उसमेंसे एक एक शहदकी बूँद निकले और उस बच्चेके मुखमें जा पड़े। इस तरह सात दिन व्यतीत हो गये। जब वे दोनों वापिस लौटे और बच्चेको वहाँ देखा तो हँसता खेलता हुआ पाया। उन्होंने उसे उठा लिया और नगरमें आकर फिर बड़ी खुशियाँ मनाईं। वही पुत्र वीर छत्रसाल नामसे प्रसिद्ध हुआ जिसने आगे चलकर मुगलोंके दाँत खट्टे किये। तो कहनेका तात्पर्य यही कि जब मनुष्यकी आयु होती है तब उसको प्राय ऐसे निमित्त मिल जाते हैं जिनसे उसकी रक्षा हो जाती है। अत व्यक्तिको चाहिये कि हिंसाका व्यर्थ यत्नकर पापका भागी न बने।

अहिंसा—

अहिंसा तत्त्व ही इतना व्यापक है कि इसके उदरमें सभी धर्म आ जाते हैं। जैसे हिंसा पापमें सभी पाप गर्भित हो जाते हैं। यहाँ सभीसे तात्पर्य चोरी, मिथ्या, अब्रह्म और परिग्रहसे है, क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब आत्मगुणके घातक हैं अत ये सब पाप ही हैं। इन्हीं कषायोंके द्वारा आत्मा पापोंमें प्रवृत्ति करता है तथा जिनको लोकमें पुण्य कहते हैं वह भी कषायोंके सद्भावमें होते हैं। कषाय आत्माके गुणोंकी घातक है अत जहाँ भी आत्मा के चारित्र गुणका घात है वहाँ हिंसा ही है। अत जहाँपर आत्माकी परिणति कषायोंसे मलीन नहीं होती वहीं पर आत्माका अहिंसा परिणाम विकास रूप होता है उसीका नाम यथाख्यात चारित्र है। जहाँपर रागादिक परिणामोंका अश भी नहीं रहता उसी तत्त्वको आचार्योंने अहिंसा कहा है—

'अहिंसा परमो धर्म. यतो धर्मस्ततो जय.'

श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने उसका लक्षण यों कहा है —

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥'

'निश्चयकर जहाँपर रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति नहीं होती वहीं अहिंसाकी उत्पत्ति है और जहाँ रागादिक परिणामोंकी उत्पत्ति होती है वहीं हिंसा होती है। ऐसा जिनागमका संक्षेपमें कथन जानना। यहाँपर रागादिकोंसे तात्पर्य आत्माकी परिणति विशेषसे है। पर पदार्थमें प्रीतिरूप परिणामका होना राग तथा अप्रीतिरूप परिणामका नाम द्वेष, और तत्त्वकी अश्रद्धा रूप परिणामका होना मोह अर्थात् राग, द्वेष, मोह ये तीन आत्माके विकार भाव हैं। ये जहाँपर होते हैं वहीं आत्मा कलिलका संचय करता है, दुःखी होता है, नाना प्रकार पापादि कार्योंमें प्रवृत्ति करता है। कभी मन्द राग हुआ तब परोपकारादि कार्योंमें व्यग्र रहता है तीव्र राग हुआ तब विषयोंमें प्रवृत्ति करता या हिंसादि पापोंमें मग्न हो जाता है। वहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। यह सब अनुभूत विषय है। और जब रागादि परिणाम नहीं होते तब शान्तिसे अपना जो ज्ञाता दृष्टा स्वरूप है उसीमें लीन रहता है। जैसे जलमें पङ्कके सम्बधसे मलिनता रहती है, यदि पङ्कका सम्बध उससे पृथक् हो जाव तब जल स्वयं निर्मल हो जाता है। तदुक्तं-'पङ्कापाये जलस्य निर्मलतावत् ।' निर्मलताके लिये हमें पङ्कको पृथक् करनेकी आवश्यकता है अथवा जैसे जलका स्वभाव शीत है, अग्निके सम्बधसे, जलमें उष्ण पर्याय हो जाती है, उस समय जल देखा जाय तो उष्ण ही है। यदि कोई मनुष्य जलका शीत स्वभाव मानकर पान कर जावे तब वह नियमसे दाह भावको प्राप्त हो जावेगा। अतएव जलको शीत करनेके

वास्ते आवश्यकता इस बातकी है कि उसको किसी दूसरे वर्तनमें डालकर उसकी उष्णता पृथक् कर दी जाय, इसी प्रकार आत्मामें मोहोदयसे जो रागादि परिणाम होते हैं वे विकृत भाव हैं। उनके न होनेका यही उपाय है जो वर्तमानमें रागादिक हों उनमें उपादेयताका भाव त्यागे, यही आगामी न होनेमें मुख्य उपाय है। जिनके यह अभ्यास हो जाता है उनकी परिणति सन्तोषमयी हो जाती है। उनका जीवन शान्तिमय बीतता है, उनके एक बार ही पर पदार्थोंसे निजत्वकी कल्पना मिट जाती है तब उनके रागद्वेष नहीं होते। जहाँ आत्मामें रागद्वेष नहीं होते वहीं पूर्ण अहिंसा का उदय होता है। अहिंसा ही मोक्षमार्ग है। यह आत्मा फिर आगामी अनन्त कालतक जिस रूपसे परिणम गया, उसी रूप रहता है। जिन भगवानने यही अहिंसाका तत्त्व बताया है—अर्थात् जो आत्माएँ रागद्वेष मोहके सद्भावसे मुक्त हो चुकी हैं उन्हींका नाम जिन है। वह कौन है? जिसके यह भाव हो गये वही जिन है। उसने जो कुछ पदार्थका स्वरूप दर्शाया उस अर्थके प्रतिपादक जो शब्द हैं उसे जिनागम कहते हैं। परमार्थसे देखा जाय तो जो आत्मा पूर्ण अहिंसक हो जाता है उसके अभिप्राय में न तो परके उपकारके भाव रहते हैं और न अनुपकारके भाव रहते हैं अतः न उनके द्वारा किसीके हितकी चेष्टा होती है और न अहितकी चेष्टा होती है किन्तु जो पूर्वोपार्जित कर्म है वह उदयमें आकर अपना रस देता है। उस कालमें उनके शरीरसे जो शब्द वर्गणा निकलती है उनसे क्षयोपशम ज्ञानी वस्तु स्वरूपके जाननेके अर्थ आगम रचना करते हैं।

आज बहुतसे भाई जैनोंके नामसे यह समझते हैं कि एक जाति विशेष है। यह समझना यथार्थ तथ्य है, पाठकगण जानें। वास्तवमें जिसने आत्माके विभाव भावोंपर विजय पा ली वही

जैन है। यदि नामका जैनी है और उसने मोहादि कलङ्कोंको नहीं जीता तब वह नाम 'नामका नैन सुख आँखोंका अन्धा' की तरह है। अतः मोह विकल्पोंको छोड़ो और वास्तविक अहिंसक बनो।

वास्तवमें तो बात यह है कि पदार्थ अनिर्वचनीय है कोई कह नहीं सकता। आप जब मिसरी खाते हो तब कहते हो मिसरी मीठी होती है—जिस पात्रमें रक्खी है वह नहीं कहता, क्योंकि जड है। ज्ञान चेतन है वह जानता है मिसरी मीठी होती है। परन्तु यह भी कथन नहीं बनता, क्योंकि यह सिद्धान्त है कि ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञानमें नहीं जाता। फिर जब मिसरी ज्ञानमें गई नहीं तब मिसरी मीठी होती है, यह कैसे शब्द कहा जा सकता है? अथवा जब ज्ञानमें ही पदार्थ नहीं आता तब शब्दसे उसका व्यवहार करना कहाँतक न्याय सगत है। इससे यह तात्पर्य निकला कि मोह परिणामोंसे यह व्यवहार है अर्थात् जबतक मोह है तबतक ज्ञानमें यह कल्पना है। मोहके अभावसे यह सर्व कल्पना विलीन हो जाती है यह असगत नहीं। जबतक प्राणीके मोह है तबतक ही यह कल्पना है जो ये मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ और ये मेरी भार्या है मैं इसका पति हूँ। मोहके फन्देमें रहता है तब नाना कल्पनाओंकी पुष्टि करता है, किसीको हेय और उपादेय मानकर अपनी प्रवृत्ति बनाकर इतस्तत भ्रमण करता है। मोहके अभावमें आपसे आप शान्त हो जाता है। विशेष क्या कहूँ, इसका मर्म वे ही जानें जो निर्मोही हैं, अथवा वे ही क्या जानें, उन्हें विकल्प ही नहीं।

अहिंसाके आदर्श श्रीमहावीर स्वामी—

श्रीमहावीर स्वामीका जन्म ससारमें अद्वितीय ही था अर्थात् इस कलिकालके उद्धारके लिये वे ही अन्तिम महापुरुष हुए। जहाँ

अहिंसा धर्मके सच्चे उपदेष्टा थे। उनके दिखलाये हुए मार्गका अवलम्बन करनेसे ही हम उनके अनुयायी हो सकते हैं। लाखों रुपयाका व्यय करनेपर भी हम श्रीवीर प्रभुका उतना प्रभाव दिखानेमें समर्थ नहीं हो सकते जितना कि उनके द्वारा प्रतिपाद्य अहिंसाको पालन करनेसे दिखा सकते हैं। यदि हम सच्चे अन्तरंगसे श्रीवीरके उपासक हैं तो हमें आजसे यह नियम हृदयङ्गम करना चाहिये कि हम अपनी आत्मामें हिंसा दोषसे लिप्त न होने देंगे तथा आजके दिनसे किसी भी प्राणीके प्रति मन, वचन, कायसे दु:ख न होने देनेका प्रयत्न करेंगे एवं कमसे कम एक दिनकी आय परोपकारमें लगावेंगे। साथ ही इस दिन मन, वचन, कायसे सब पापोंका त्याग करेंगे और उस त्यागमें ब्रह्मचर्य व्रतकी पूर्ण रक्षा करेंगे। इस दिनका ऐसा निर्मल आचार होगा कि जिसे देख अन्यके परिणाम दयापरक हो जावेंगे। अहिंसाकी परिभाषा करनेमें ही चतुरता दिखलानेकी चेष्टा न होगी किन्तु उसके पालनमें अनुराग होगा। यदि हम अन्तरङ्गसे अहिंसाके उपासक हो गये तो अनायास ही हमारी यातनाएँ पलायमान हो जायेंगी। हम यह चेष्टा करते हैं कि संसारमें अहिंसा धर्मका प्रचार हो चाहे हममें उसकी गन्ध भी न हो। सर्वोत्तम मार्ग तो यह है कि हम अपनी प्रवृत्तिको अति निर्मल बनानेका प्रयत्न करें। श्रीमहावीर स्वामीके जीवन चरित्रसे यही शिक्षा लेनी चाहिये कि हम पञ्चेन्द्रियोंके विषयोंसे अपनेको सुरक्षित रखें। आत्मामें अनन्त शक्ति है, प्रत्येक आत्मामें वह है परन्तु हम तो इतने कायर हो गये हैं कि अपनी परिणतिको दुर्बल समझ ऊपर चढ़नेकी कोशिश ही नहीं करते।

एक मजेका उदाहरण—

बरुआसागरमें एक बात विलक्षण हुई जो इस प्रकार है—हम

लोग स्टेशन पर मूलचन्दजीके मकानमें रहते थे पासमें कहार लोगोंका मोहल्ला था। एक दिन रात्रिको ओलाकी वर्षा हुई। इतनी विकट कि मकानोंके छप्पर फूट गये। हमलोग रजाई आदिको ओढ़कर किसी तरह ओलोंके कष्टसे बचे। पड़ोसमें जो कहार थे वे सब राम राम कहकर अपनी प्रार्थना कर रहे थे। वे कह रहे थे कि—

'हे भगवन्! इस कष्टसे रक्षा कीजिये, आपत्ति कालमें आपके सिवाय ऐसी कोई शक्ति नहीं जो हमें कष्टसे बचा सके।' उनमें एक दस वर्षकी लड़की भी थी, वह अपने माता पितासे कहती है कि 'तुम लोग व्यर्थ ही राम राम रट रहे हो। यदि कोई राम होता तो इस आपत्ति कालमें हमारी रक्षा न करता। दिन भर मेहनत करते हैं तब वहा जाकर दामको अन्न मिलता है वह भी पेट भर नहीं मिलता। पिताजी! आपने राम राम जपते अपना जन्म ता बिता दिया पर रामने एक भी दिन सकट में सहायता न की, यदि कोई राम होवे तो क्या सहायता न करते। बगलमें देखो सर्राफजी का मकान है उनके हजारों मन गल्ला है, अनेक प्रकारके वस्त्रादि हैं, नाना प्रकारके भूषण हैं, दूध आदिकी कमी नहीं है, पास हीमें उनका बाग है जिसमें आम, अमरूद केला आदिके पुष्कल वृक्ष हैं। यहाँ तो हमारे घरमें अन्नका दाना नहीं, दूसरी बात छोड़ो छाछ भी मांगसे नहा मिलती, यदि मिले भी तो लोग उसके एवजमें घास माँग लेते हैं। इस विपत्तिमय जीवन की कहानी कहाँ तक कहूँ? अत पिताजी! न कोई राम है और न रहीम है यदि कोइ राम-रहीम होता तो उसके दया होती और वह ऐसे अवसरमें हमारी रक्षा करता। यह कहाँका न्याय है कि पड़ोसवालेको लाखोंकी सम्पत्ति और हम लोगोंको उदर भर भोजनके भी लाले। अपनी इस विपत्तिसे इतना जानती हूँ कि

जो नीम बोवेगा उसके नीमका ही पेड होगा और जब वह फलेगा तब उसमें निंबोरी ही होगी, जो आमका बीज बोवेगा उसके आम हीका फल लगेगा। पिताजी! आपने जन्मान्तरमें कोई अच्छा कार्य नहीं किया जिससे कि तुम्हें सुखकी सामग्री मिलती और न मेरी माताने कोई सुकृत किया अन्यथा ऐसे दरिद्रके घर इनका विवाह नहीं होता। मैं भी अभागिनी हूँ जिससे कि आपके यहाँ जन्मी। न तो मुझे पेट भर दाना मिलता है और न तन ढकनेको वस्त्र ही।

यदि तुम इन सब आपत्तियोंसे बचना चाहते हो तो एक काम करो, देखो तुम प्रतिदिन सैकड़ों मछलियोंको मारकर अपनी आजीविका करते हो। जैसी हमारी जान है वैसी ही अन्यकी भी है। यदि तुम्हें कोई सुई चुभा देता है तो कितना दुःख होता है। जब तुम मछलीकी जान लेते हो तब उसे जो दुःख होता है उसे वही जानती होगी। अतः मैं यही भिक्षा माँगती हूँ कि चाहे भिक्षा माँगकर पेट भर लो परन्तु मछली मारकर पेट मत भरो। संसारमें करोड़ों मनुष्य हैं क्या सब हिंसा करके ही अपना पालन पोषण करते हैं?

लड़कीकी ज्ञानभरी बातें सुनकर पिता एकदम चुप रह गया और कुछ देर बाद उससे पूछता है कि बेटी तुझे इतना ज्ञान कहाँसे आया? वह बोली कि मैं पढ़ी लिखी तो हूँ नहीं परन्तु बाईजीके पास जो पण्डितजी हैं वे प्रतिदिन शास्त्र बाँचते हैं एक दिन बाँचते समय उन्होंने बहुत-सी बातें कहीं जो मेरी समझमें नहीं आईं पर एक बात मैं अच्छी तरह समझ गई। वह यह कि इस अनादि निधन संसारका कोई न तो कर्ता है न धर्ता है और न विनाश कर्ता है। अपने अपने पुण्य पापके अधीन सब प्राणी

हैं। यह बात आज मुझे और भी अधिक जँच गई कि यदि कोई बचानेवाला होता तो इस आपत्तिसे न बचाता ?

इसके सिवाय एक दिन बाईजीने भी कहा था कि परको सताना हिंसा है और हिंसासे पाप होता है। फिर आप तो हजारों मछलियोंकी हिंसा करते हैं अतः सबमें बड़े पापी हुए। कसाइके तो गिनती रहती है पर तुम्हारे वह भी नहीं।

पिताने पुत्रीकी बातका बहुत आदर किया और कहा कि 'बेटी! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं और जो यह मछलियोंके पकड़नेका जाल है उसे अभी तुम्हारे ही सामने ध्वस्त करता हूँ।'

इतना कहकर उसने आग जलाई और उस पर वह जाल रखने लगा। इतनेमें उसकी स्त्री बोली कि 'व्यर्थ ही क्यों जलाते हो, इसको बेचनेसे ८) रुपये आजावेंगे और उनसे एक धोती जोड़ा लिया जा सकेगा।' पुरुष बोला कि यह हिंसाका आयतन है, जहाँ जावेगा वहीं हिंसामें सहकारी होगा अतः नंगा रहना अच्छा परन्तु इस जालको बचाना अच्छा नहीं। इस तरह उसने बातचीतके बाद उस जालको जला दिया और स्त्री पुरुषने प्रतिज्ञा की कि अब आजन्म हिंसा न करेंगे।

यह कथा हम और बाईजी सुन रहे थे बहुत ही प्रसन्नता हुई और मनमें विचार आया कि देखो समय पाकर दुष्टसे दुष्ट भी सुमार्ग पर आ जाते हैं। जातिके कहार अपने आप अहिंसक हो गये। बालिका यद्यपि अबोध थी पर उसने जिस प्रकार समझाया कि अच्छेसे अच्छे पंडित भी सहसा न समझा सकते।

इसके अनन्तर ओला पड़ना बन्द हुआ। प्रातःकाल नित्य क्रियासे निवृत्त होकर जब हम मन्दिरजी पहुँचे तब ८ बजे वे तीनों जीव आये और उत्साहसे कहने लगे कि हम आजसे हिंसा न करेंगे। मैंने प्रश्न किया—क्यों ? उत्तरमें उनने रात्रिकी राम-

कहानी आनुपूर्वी सुना दी। जिसे सुनकर चित्तमें अत्यन्त हर्ष हुआ और श्री समन्तभद्र स्वामीका यह श्लोक स्मरण द्वारा सामने आ गया—

'सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥'

हम लोगोंकी यह महती अज्ञानता है कि किसीको सर्वथा तुच्छ नीच या अधम मान बैठते हैं। न जाने कब किसके काल लब्धि आजावे? जातिके कहार, महाहिंसक, कौन इन्हें उपदेश देने गया कि आप लोग हिंसा छोड़ दो? जिस लड़कीके उपदेशसे माता पिता एकदम सरल परिणामी होगये उस लड़कीने कौनसी पाठशालामें शिक्षा पाई थी? दस वर्षकी अबोध बालिकामें इतनी विज्ञता कहाँसे आ गई? इतनी छोटी उमरमें तो कपड़ा पहिरना ही नहीं आता परन्तु पिछला संस्कार था जो समय पाकर काम करने लगा, अतः हमें उचित है कि अपने संस्कारोंको अति निर्मल बनानेका सतत प्रयत्न करें। इस अभिमानको त्याग देवें कि हम तो उत्तम जाति हैं सहज ही कल्याणके पात्र हो जावेंगे। यह कोई नियम नहीं कि उत्तम कुलमें जन्ममात्रसे ही मनुष्य उत्तम गतिका पात्र हो और जघन्य कुलमें जन्म लेनेसे अधम गतिका पात्र हो। यह सब तो परिणामोंकी निर्मलता और कलुषता पर निर्भर है। इस प्रकार हम बाईजी और मूलचन्द्र जी परस्पर कथा करने लगे इतनेमें वह लड़की बोली—'वर्णीजी! हम तीनोंको क्या आज्ञा है?'

मैंने कहा—'बेटी! तुमको धन्यवाद देता हूँ, आज तूने वह उत्कृष्ट कार्य किया जो महापुरुषों द्वारा साध्य होता है। तुम्हारे माता पिताने जो हिंसाका त्याग किया है श्लाघनीय है, तुमसे

सरीफ बहुत प्रसन्न हैं और तुम लोगोंको जिसकी आवश्यकता पड़े सर्राफसे ले सकते हो।'

उस लड़कीका पिता बोला—'मैंने हिंसाका त्याग किया है उसका यह तात्पर्य नहीं कि आप लोगोंसे कुछ याचना करनेके लिये आया हूँ। मैं तो केवल आप लोगोंको अहिंसक जानकर आपके सामने इस पापको छोड़नेके लिये आया हूँ। आपसे क्या माँगू? हमारा निमित्त ही ऐसा है कि मजदूरी करना और जो मिले सन्तोषसे खाना। आजतक मछलियाँ मारकर उदर भरते थे। अब मजदूरी करके उदर पोषण करेंगे। अभी तो हमने केवल हिंसा करना ही छोड़ा था पर अब यह भी नियम करते हैं कि आजसे मांस भी नहीं खायेंगे तथा हमारे यहाँ जो देवीका बलिदान होता था वह भी नहीं करेंगे। कोई कोई वैष्णव लोग बकराके स्थानमें भूरा कुम्हड़ा चढ़ाते हैं हम वह भी नहीं चढ़ायेंगे केवल नारियल चढ़ायेंगे। बस, अब हमलोग जाते हैं क्योंकि खेत सींचना है।'

इतना कहकर वे तीनों चले गये और हमलोग भी उन्हींकी चर्चा करते हुए अपने स्थान पर चले आये। इतनेमें बाईजी बोलीं—'बेटा! तुम भूल गये ऐसे भद्र जीवोंको मदिरा और मधु भी छुड़ा देना था।'

मैंने कहा—'अभी क्या बिगड़ा है? उन्हें बुलाता हूँ, पास ही तो उनका घर है?'

मैंने उन्हें पुकारा, वे तीनों आगये, मैंने उनसे कहा—'भाई! हम एक बात भूल गये, वह यह कि आपने मांस खाना तो छोड़ दिया पर शहद और मदिरा नहीं छोड़ी अतः इन्हें भी छोड़ दीजिये।' लड़की बोली—'हाँ पिताजी! वही शहद न? जो दवाईमें कभी-कभी काम आती है वह तो बड़ी बुरी चीज है,

हजारों मक्खियाँ मारकर निचोडी जाती हैं, छोड दीजिये और मदिरा तो हम तथा माँ पीती ही नहीं हैं तुम्ही कभी कभी पाते हो और उस समय तुम पागलसे हो जाते हो, तुम्हारा मुँह बसाने लगता है। बाप बोला—'बेटी! ठीक है, जब मांस ही जिससे कि पेट भरता था छोड दिया तब अब न मदिरा पीवेंगे और न मधु ही खायेंगे। हम जो प्रतिज्ञा करते हैं उसका निर्वाह भी करेंगे।'

हम वर्णीजी और बाईजीकी बात तो नहीं कहते क्योंकि यह साधु लोग हैं परन्तु बड़े बडे जैनी व ब्राह्मण लोग अस्पतालकी दवा खाते हैं जहाँ भगी और मुसलमानोंके द्वारा दवा दी जाती है। उस दवामें मांस मदिरा और शहदका संयोग अवश्य रहता है। बडे आदमियोंकी बात करो तो यह लोग न जाने हमलोगोंकी क्या दशा करेंगे? अत इनकी बात न करना ही अच्छा है। अपनेको क्या करना है? 'जो करेगा सो भोगेगा।' परन्तु बात तो यह है कि जो बड़े पुरुष आचरण करते हैं वही नीच श्रेणीके करने लग जाते हैं। जो भी हो हमको क्या करना है? वह फिर कहने लगा कि 'वर्णीजी! कुछ चिन्ता न करना, हमने जो व्रत लिया है मरण पर्यन्त कष्ट सह लेने पर भी उसका भग न करेंगे।' अच्छा अब जाते हैं यह कहकर वे चले गये और हमलोग आनन्द सागरमें निमग्न होगये। मुझे ऐसा लगा कि धर्मका कोई ठेकेदार नहीं है।

('सुखकी भलक' और 'मेरी जीवनगाथा' ■)

मद्य मांस-मधु

मदिरा त्याग—

गृहस्थका मद्य, मांस और मधुका त्याग करना धर्मका मूल सिद्धान्त है। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि मदिरा पान करनेवाले उन्मत्त हो जाते हैं और उन्मत्त होकर जो जो अनर्थ करते हैं सब जानते हैं। मदिरा पान करनेवालोंकी तो यहाँतक प्रवृत्ति देखी गई कि ये अगम्यागमन भी कर बैठते हैं, मदिराके नशामें मस्त हो नालियोंमें पड़ जाते हैं, कुत्ता मुखमें पेशाब कर रहा है फिर भी मधुर-मधुर कहकर पान करते जाते हैं, बड़े बड़े कुलीन मनुष्य इसके नशेमें अपना सर्वस्व खो बैठते हैं, उन्हें धर्म कथा नहीं रुचती, केवल वेश्यादि व्यसनोंमें लीन रहकर इहलोक और परलोक दोनोंकी अवहेलना करते रहते हैं। इसीको श्रीअमृतचन्द्र स्वामीने पुरुषार्थ सिद्धयुपायमें अच्छी तरह दर्शाया है। वे लिखते हैं—

'मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥'

'मदिरा मनको मोहित करती है। जिसका चित्त मोहित हो जाता है वह धर्मको भूल जाता है और जो मनुष्य धर्मको भूल जाता है वह निःशङ्क होकर हिंसाका आचरण करता है।'

मांस त्याग—

धर्मका दूसरा सिद्धान्त यह है कि मांस भक्षण नहीं करना चाहिये। मांसकी उत्पत्ति जीव घातके बिना नहीं होती। जरा

विचारो तो सही कि जिस प्रकार हमें अपने प्राण प्यारे हैं उसी प्रकार अन्य प्राणियोंको क्या उनके प्राण प्यारे न होंगे ? जब जरा सी सुई चुभ जाने अथवा काँटा लग जानेसे हमें महती वेदना होती है तब तलवारसे गला काटनेपर अन्य प्राणियोंको कितनी वेदना न होती होगी ? परन्तु हिंसक जीवोंको इतना विवेक कहाँ ? हिंसक जीवोंको देखनेसे ही भयका संचार होने लगता है। हाथी इतना बड़ा होता है कि यदि सिंहपर एक पैर रख दे तो उसका प्राणान्त हो जावे परन्तु वह सिंहसे भयभीत हो जाता है। क्रूर सिंह छलांग मारकर हाथीके मस्तकपर धावा बोल देता है। इसीसे उसका 'गजारि' कहते हैं। मांस खानेवाले अत्यन्त क्रूर हो जाते हैं। उनसे संसारका उपकार न हुआ है न होगा। भारतवर्ष दया प्रधान देश था। इसने संसारके प्राणीमात्रको धर्मका उपदेश सुनाया है। यहाँ ऐसे ऐसे ऋषि उत्पन्न हुए कि जिनके अवलोकन मात्र से क्रूर जीव भी शान्त हो जाते थे। जैसा कि एक जगह कहा है—

"सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम्।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्॥'

'जिनका मोह नष्ट हो चुका है, कलुषता शान्त हो चुकी और जो समभावमें आरूढ हैं ऐसे योगीश्वरोंका आश्रय पाकर हिरणी सिंहके बालकको अपना पुत्र समझकर स्पर्श करने लगती है, गाय व्याघ्रके बालकको अपना पुत्र समझने लगती है, बिल्ली हंसके बालकको और मयूरी प्रेमके परवश हुए सर्पको स्पर्श करने लगती है इस प्रकार विरोधी जन्तु मद रहित होकर आजन्म

जात वैर भावको छोड़ देते हैं—सबमें परस्पर मैत्रीभाव हो जाता है।' कहनेका तात्पर्य यह है कि जिनकी आत्मा राग द्वेष मोहसे रहित हो जाती है उनके सान्निध्यमें क्रूरसे क्रूर जीव भी शान्त-भावको प्राप्त हो जाते हैं इसमें आश्चर्यकी क्या बात है, क्योंकि आत्माका स्वभाव अशान्त नहीं है। जिसप्रकार जलका स्वभाव शीतल है परन्तु अग्निका निमित्त पाकर गर्म हो जाता है और अग्निका निमित्त दूर होते ही पुन शीतल हो जाता है उसी प्रकार आत्मा स्वभावसे शान्त है परन्तु कर्मकलङ्कका निमित्त पाकर अशान्त हो रहा है। ज्यो ही कर्मकलङ्कका निमित्त दूर हुआ त्यों ही पुन शान्त हो जाता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि सिंहादिक क्रूर जन्तु हैं तो भी उनका आत्मा शान्त स्वभाववाला है इसीलिये योगीश्वरोंके पादमूलका निमित्त पाकर अशान्ति दूर हो जाती है। योगियोंके पादमूलका आश्रय पाकर उनकी उपादान शक्तिका विकाश हो जाता है अत मोही जीवोंको उत्तम निमित्त मिलानेकी आवश्यकता है।

योगी होना कुछ कठिन बात नहीं परन्तु हम राग, द्वेष और मोहके वशीभूत होकर निरन्तर अपने पराये गुण दोष देखते रहते हैं। वीतराग परिणतिका जो कि आत्माका स्वभाव है अमल नहीं करते। यही कारण है कि आजन्म दु खके पात्र रहते हैं। जिन्होंने राग, द्वेष, मोहको जीत लिया उनकी दशा लौकिक मानवोंसे भिन्न हो जाती है। जैसा कि कहा है—

'एकः पूजां रचयति नरः पारिजातप्रसूनैः
क्रुद्धः कण्ठे क्षिपति भुजगं हन्तुकामस्ततोऽन्यः।
तुल्या वृत्तिर्भवति च तयोर्यस्य नित्यं स योगी
साम्यारामं विशति परमज्ञानदत्तावकाशम् ॥"

सम्यक्त्व

जैन दर्शनमें श्रद्धाको सर्व प्रथम स्थान प्राप्त है। इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। यदि यह नहीं हुआ तो ज्ञान नेना नींवके बिना महल बनानेके सदृश है। इसके होने ही सब गुणोंकी शोभा है। सम्यग्दर्शन आत्माका वह गुण है जिसका विकास होने ही अनन्त संसारका बन्धन छूट जाता है। आठों कर्मोंसे सबकी रक्षा करनेवाला यही है। यह ऐसा शूर है कि अपनी रक्षा करता है और शेष गुणोंकी भी।

सम्यग्दर्शनका लक्षण आचार्योंने 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लिखा है। जैसा कि दशाध्याय तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम अध्यायमें आचार्य गृद्धपिच्छने लिखा है—

'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'

श्री नेमिचन्द्र स्वामीने द्रव्यसंग्रहमें लिखा है—

'जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं'

यही समयसारमें लिखा है तथा ऐसा ही लक्षण प्रत्येक ग्रन्थ में मिलता है, परन्तु पञ्चाध्यायीकर्त्ताने एक विलक्षण बात लिखी है। वे लिखते हैं कि यह सब तो ज्ञानकी पर्याय है। सम्यग्दर्शन आत्माका अनिर्वचनीय गुण है, जिसके होने पर जीवाके तत्त्वार्थका परिज्ञान अपने आप हो जाता है वह आत्माका परिणाम सम्यग्दर्शन कहलाता है।

ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम आत्मामें सदा विद्यमान रहता है, सञ्ज्ञी जीवके और भी विशिष्ट क्षयोपशम रहता है। सम्यग्दर्शन

के होने ही यही ज्ञान सम्यग्ज्ञानपदेशको पा जाता है। पुरुषार्थ सिद्धयुपायमें श्री अमृतचन्द्राचार्यने भी लिखा है—

'जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥'

अर्थात् जीवाजीवादि सब पदार्थोंका विपरीत अभिप्रायसे रहित सदैव श्रद्धान करना चाहिये इसीका नाम सम्यग्दर्शन है, यह सम्यग्दर्शन ही आत्माका पारमार्थिक रूप है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके बिना आत्मा अनन्त संसारका पात्र रहता है।

यह गुण अतिसूक्ष्म है। केवल उसके कार्यसे ही हम उसका अनुमान करते हैं। जैसे अग्निकी दाहकत्व शक्तिका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता केवल उसके ज्वलन कार्यसे ही उसका अनुमान करते हैं। अथवा जैसे मदिरा पान करनेवाला उन्मत्त होकर नाना कुचेष्टाएँ करता है पर जब मदिराका नशा उतर जाता है तब उसकी दशा शान्त हो जाती है। उसकी यह दशा उसीके अनुभवगम्य होती है। दूसरे केवल अनुमानसे जान सकते हैं कि इसका नशा उतर गया। मदिरामें उन्मत्त करनेकी शक्ति है पर हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, वह अपने कार्यसे ही अनुमित होती है। अथवा जिस प्रकार सूर्योदय होनेपर सब दिशाएँ निर्मल हो जाती हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके होनेपर आत्माका अभिप्राय सब प्रकारसे निर्मल हो जाता है। उस गुणका प्रत्यक्ष मति श्रुत तथा देशावधिज्ञानियोंके नहीं होता किन्तु परमावधि, सर्वावधि मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानसे युक्त जीवोंके ही होता है। उनकी कथा करना ही हमें आता है, क्योंकि उनकी महिमाका

यथार्थ आभास होना कठिन है। यदि हम अपने ज्ञानकी करते हैं। यही ज्ञान हमें कल्याणके मार्गमें ले जाता है।

वस्तुतः आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है और उसका पता हमें स्वयमेव होता है। सम्यग्दर्शन गुणका प्रत्यक्ष हमें न हो परन्तु उसके होते ही हमारी आत्मामें जो निर्मलताका उदय होता है वह तो हमारे प्रत्यक्षका विषय है। यह सम्यग्दर्शनकी ही अद्भुत महिमा है कि हमलोग बिना किसी शिक्षक व उपदेशकके उदासीन हो जाते हैं। जिन विषयोंमें इतने अधिक तल्लीन थे कि जिनके बिना हमें चैन ही नहीं पड़ता था, सम्यग्दर्शनके होनेपर उनकी एकदम उपेक्षा कर देते हैं।

इस सम्यग्दर्शनके होते ही हमारी प्रवृत्ति एकदम पूर्वसे पश्चिम हो जाती है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यका आविर्भाव हो जाता है। श्री पञ्चाध्यायीकारने प्रशम गुणका यह लक्षण माना है—

> 'प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
> लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः॥'

अर्थात् असंख्यात लोकप्रमाण जो कषाय और विषय हैं उनमें स्वभावसे ही मनका शिथिल हो जाना प्रशम है। इसका यह तात्पर्य है कि आत्मा अनादि कालसे अज्ञानके वशीभूत हो रहा है और अज्ञानमें आत्मा तथा परका भेदज्ञान न होनेसे पर्यायमें ही आपा मान रहा है, अतः जिस पर्यायको पाता है उसीमें निजत्वकी कल्पना कर उसीकी रक्षाके प्रयत्नमें सदा तल्लीन रहता है। पर उसकी रक्षाका कुछ भी अन्य उपाय इसके ज्ञानमें नहीं आता केवल पञ्चेन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण एवं शब्दका ग्रहण करनाही इसे सूझता है। प्राणीमात्र

ही इसी उपायका अवलम्बन कर जगतमें अपनी आयु पूर्ण कर रहे हैं।

जब बच्चा पैदा होता है तब माँके स्तनको चूसने लगता है। इसका मूल कारण यह है कि अनादि कालसे इस जीवके चार संज्ञाएँ लग रही हैं उनमें एक आहार संज्ञा भी है, उसके बिना इसका जीवन रहना असम्भव है। केवल विग्रहगतिके ३ समय छोड़कर सर्वदा आहार वर्गणाके परमाणुओंको ग्रहण करता रहता है। अन्य कथा कहाँ तक कहें? इस आहारकी पीड़ा जब असह्य हो उठती है तब सर्पिणी अपने बच्चोंको आप ही खा जाती है। पशुओंकी कथा छोड़िये जब दुर्भिक्ष पड़ता है तब माता अपने बालकों को पकाकर खा जाती है। यहाँ तक देखा गया है कि कूड़ा घरमें पड़ा हुआ नाना चुन चुन कर मनुष्य खा जाते हैं, जूठी पत्तलके दाने भी बीन बीनकर खा जाते हैं। यह एक ऐसी संज्ञा है कि जिससे प्रेरित होकर मनुष्य अनर्थसे अनर्थ कार्य करनेको प्रवृत्त हो जाता है। इस क्षुधाके समान अन्य दोष संसारमें नहीं। कहा भी है—

'सब दोषन माही या सम नाहीं—'

इसकी पूर्तिके लिये लाखों मनुष्य सैनिक हो जाते हैं। जो भी पाप हो इस आहारके लिये मनुष्य कर लेता है। इसका मूल कारण अज्ञान ही है। शरीरमें निजत्व बुद्धि ही इन उपद्रवोंकी जड़ है। जब शरीरको निज मान लिया तब उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य हो जाता है और जब तक यह अज्ञान है तभी तक हम संसारके पात्र हैं?

यह अज्ञान कब तक रहेगा इस पर श्रीकुन्दकुन्द महाराजने ... है—

'कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥'

भावार्थ—जब तक ज्ञानावरणादि कर्मों और औदारिकादि शरीरमें आत्माकी बुद्धि होती है और आत्मामें ज्ञानावरणादिक कर्म तथा शरीरकी बुद्धि होती है अर्थात् जब तक जीव ऐसा मानता है कि ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीर मेरे हैं तथा मैं इनका स्वामी हूँ तब तक यह जीव अज्ञानी है और तभी तक अप्रतिबुद्ध है। यदि शरीरमें अहम्बुद्धि मिट जावे तो आहारकी आवश्यकता न रहे। जब शरीरकी शक्ति निर्बल होती है तभी आत्मामें आहार ग्रहण करनेकी इच्छा होती है। यद्यपि शरीर पुद्गलपिण्ड है तथापि इसका आत्माके साथ सम्पर्क है और इसी लिये उसकी उत्पत्ति दो विजातीय द्रव्योंके सम्पर्कसे होती है। पर यह निश्चय है कि शरीरका उपादान कारण पुद्गल द्रव्य ही है आत्मा नहीं। दोनोंका यह सम्बन्ध अनादि कालसे चला आता है इसीसे अज्ञानी जीव दोनोंको एक मान बैठता है। शरीरको निज मानने लगता है।

उस शरीरको स्थिर रखनेके लिये जीवके आहार ग्रहणकी इच्छा होती है और उससे आहार ग्रहण करनेके लिये रसना इन्द्रियके द्वारा रसको ग्रहण करता है। ग्रहण करनेमें प्रदेश प्रकम्पन होता है उससे हस्तके द्वारा ग्रास ग्रहण करता है। जब ग्रासके रसका रसना इन्द्रियके साथ सम्बन्ध होता है तब उसे स्वाद आता है। यदि अनुकूल हुआ तो प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करता जाता है। ग्रहणका अर्थ यह है कि रसना इन्द्रियके द्वारा रसका ज्ञान होता है, इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान रसमय हो जाता है। यदि रस रूप हो जाता तो आत्मा जड़ ही बन जाता।

इस विषयक ज्ञान होते ही जो रसग्रहणकी इच्छा उठी थी वह शान्त हो जाती है और इच्छाके शान्त होनेसे आत्मा सुखी हो जाता है। सुखका बाधक है दुःख, और दुःख है आकुलतामय। आकुलताकी जननी इच्छा है, अतः जब इच्छाके अनुकूल विषयकी पूर्ति हो जाती है तब इच्छा स्वयमेव शान्त हो जाती है। इसी प्रकार सब व्यवस्था जानना चाहिये। जब जब शरीर निःशक्त होता है, तब तब आहारादिकी इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छाके उदयमें आहार ग्रहण करता है और आहार ग्रहण करनेके अनन्तर आकुलता शान्त हो जाती है। इस प्रकार यह चक्र बराबर चला जाता है और तब तक शान्त नहीं होता जब तक कि भेदज्ञानके द्वारा निजका परिचय नहीं हो जाता।

इसी प्रकार इसके भय होता है। यथार्थमें आत्मा तो अजर अमर है, ज्ञान गुणका धारी है, और इस शरीरसे भिन्न है फिर भयका क्या कारण है? यहाँ भी वही बात है अर्थात् मिथ्यात्वके उदयमें यह जीव शरीरको अपना मानता है अतएव इसके विनाशके जहाँ कारणकूट इकट्ठे हुए वहीं भयभीत हो जाता है। यदि शरीरमें अभेदबुद्धि न होती तो भयके लिये स्थान ही न मिलता। यही कारण है कि शरीर नाशके कारणोंका समागम होने पर यह जीव निरन्तर दुःखी रहता है।

वह भय सात प्रकारका है—१ इहलोक भय, २ परलोक भय, ३ वेदना भय, ४ अरक्षा भय, ५ अगुप्ति भय, ६ आकस्मिक भय और ७ मरण भय। इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

इस लोकका भय तो सर्वानुभवगम्य है अतः उसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। पर लोकका भय यह है कि जब यह पर्याय छूटती है तब यही कल्पना होती है कि स्वर्गलोकमें जन्म हो तो भद्र—भला है, दुर्गतिमें जन्म न हो, अन्यथा नाना दुःखोंका

पात्र होना पड़ेगा। इसी प्रकार मेरा कोई त्राता नहीं। असाताके उदयमें नाना प्रकारकी वेदनाएँ होती हैं यह वेदना भय है। कोई त्राता नहीं जिसकी शरणमें जाऊँ? यह अत्राण-अरक्षा भय है। कोई ऐसा नहीं यही अगुप्ति भय है। आकस्मिक वज्र पातादिक न हो जावे यह आकस्मिक भय है और मरण न हो जावे यह मृत्युका भय है। इन सप्तभयोंमें यह जीव निरन्तर दुखी रहता है। भयके होने पर उससे बचनेकी इच्छा होती है और उससे जीव निरन्तर आकुलित रहता है। इस तरह यह भय सज्ञा अनादि कालसे जीवोंके साथ चली आ रही है।

संसारमें जो मिथ्या प्रचार फैल रहा है उसमें मूल कारण राग द्वेषकी मलिनतासे जो कुछ लिखा गया वह साहित्य है। वही पुस्तकें कालान्तरमें धर्मशास्त्रके रूपमें मानी जाने लगीं। लोग तो अनादिकालसे मिथ्यात्वके उदयमें शरीरको ही आत्मा मानते हैं। जिनको अपना ही बोध नहीं वे परको क्या जानें? जब अपना पराया ज्ञान नहीं तब कैसा सम्यग्दृष्टि? यही श्री समयसारमें लिखा है—

परमाणुमित्तयं पि रागादीण सुविज्जदे जस्स।
ण वि सो जाणदि अप्पाण यदु सव्वागमधरो वि॥'

जो सर्वागमको जाननेवाला है उसके रागादिकोंका अंशमात्र भी यदि विद्यमान है तो वह आत्माको नहीं जानता है। जो आत्माको नहीं जानता है वह जीव और अजीवको नहीं जानता। जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? कहनेका तात्पर्य यह कि आगमाभ्यास ही जीवादिकोंके जाननेमें मुख्य कारण है और आगमाभासका अभ्यास ही जीवादिकोंको अन्यथा जाननेमें कारण है। जिनको आत्म

कल्याणकी लालसा है वे आप्तकथित आगमका अभ्यास करें। क्षेत्रापर ज्ञानके साधन कुछ नहीं, केवल रुपये इकट्ठे करनेके साधन हैं। कल्पना करो यह धन यदि एकत्रित होता रहे और व्यय न हो तो अन्तमें नदाके तुल्य हुआ। अस्तु, इस कथासे क्या लाभ?

('मेरी जीवनगाथासे')

— —

मिथ्यात्व

पर पदार्थको आत्मीय मानना ही मिथ्यात्व है। यद्यपि पर पदार्थ आत्मा नहीं हो जाता तथापि मिथ्यात्वके प्रभावसे हमारी कल्पनामें आत्मा ही दीखता है। जैसे जो मनुष्य रज्जुमें सर्प-भ्रान्ति हो जानेके कारण भयसे पलायमान होने लगता है परन्तु रज्जु रज्जु ही है और सर्प सर्प ही है। ज्ञानमें जो सर्प आ रहा है वह ज्ञानका दोष है ज्ञेयका नहीं इसीको अन्तर्ज्ञेय कहते हैं, इस अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वह ज्ञान अप्रमाण नहीं क्योंकि यदि अन्तर्ज्ञेय सर्प न होता तो वह पलायमान नहीं होता। उस ज्ञानको जो मिथ्या कहते हैं वह बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा ही कहते हैं। इसी लिये श्रीसमन्तभद्र स्वामीने देवागमस्तोत्रमें लिखा है—

'भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्ह्वः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभञ्च ते ॥'

अर्थात् यदि अन्तर्ज्ञेयकी अपेक्षा वस्तु स्वरूपका विचार किया जावे तो कोई भी ज्ञान अप्रमाण नहीं, क्योंकि जिस ज्ञानमें प्रतिभासित विषयका व्यभिचार न हो वही ज्ञान प्रमाण है। जब हम मिथ्याज्ञानके ऊपर विचार करते हैं तब उसमें जो अन्तर्ज्ञेय भासमान हो रहा है वह तो ज्ञानमें है ही। यदि ज्ञानमें सर्प न होता तो पलायमान होनेकी क्या आवश्यकता थी? फिर उस ज्ञानको जो मिथ्या कहते हैं वह केवल बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा ही कहते हैं क्योंकि बाह्यमें सर्प नहीं है रज्जु है। अतएव स्वामीने यही सिद्धान्त निश्चित किया कि बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा ही ज्ञानमें

प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था है। अन्तरङ्ग प्रमेयकी अपेक्षा सब ज्ञान प्रमाण ही हैं।

यही कारण है कि जब हम ज्ञानमें शरीरको आत्मा देखते हैं तब उसीमें निजत्वकी कल्पना करने लगते हैं। उस समय हमें कितने ही प्रकारसे समझानेका प्रयत्न क्यों न किया जावे सब विफल होता है, क्योंकि अन्तरङ्गमें मिथ्यादर्शनकी पुट विद्यमान रहती है। जैसे कामला रोगीको शङ्ख पीला ही दीखता है। उसे कितना ही क्यों न समझाया जावे कि शङ्ख तो शुक्ल ही होता है, आप बलात्कार पीत क्यों कह रहे हैं? पर वह यही उत्तर देता है कि आपकी दृष्टि विभ्रमात्मक है जिससे पीले शङ्खको शुक्ल कहते हो।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जबतक मिथ्यादर्शनका सद्भाव है तबतक पर पदार्थसे आत्मीय बुद्धि नहीं जा सकती। जिन्हें सम्यग्ज्ञान अभीष्ट है उन्हें सबसे पहले अभिप्रायको निर्मल करनेका प्रयत्न करना चाहिये। जिनका अभिप्राय मलिन है वे सम्यग्ज्ञानके पात्र नहीं, अतः सब परिग्रहोंमें महान् पाप मिथ्यात्व परिग्रह है। जबतक इसका अभाव नहीं तबतक आप कितने ही व्रत तप संयमादि ग्रहण क्यों न करें मोक्षमार्गके साधक नहीं। इस मिथ्यात्वके सद्भावमें ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वका तथा बाह्यमें मुनि धर्मका पालन करनेवाला भी नव ग्रैवेयकसे ऊपर नहीं जा सकता। अनन्तबार मुनि लिङ्ग धारण करके भी इसी संसार में रुलता रहता है।

मिथ्यात्वका निर्वचन भी सम्यक्त्वकी तरह ही दुर्लभ है, क्योंकि ज्ञानगुणके बिना जितने अन्य गुण हैं वे सब निर्विकल्पक हैं। ज्ञान ही आत्मामें एक ऐसी शक्ति है कि जो सबकी व्यवस्था बनाये है—यही एक ऐसा गुण है जो परकी भी व्यवस्था

जाती है, अत सब परिग्रहका मूल मिथ्यात्व ही है। जिन्हें ससार बन्धनसे छूटनेकी अभिलाषा है उन्हें सर्व प्रथम इसीका त्याग करना चाहिए, क्योंकि इसका त्याग करनेसे सब पदार्थोंका त्याग सुलभ हो जाता है।

('मेरी जीवन गाथा'से)



प्रभावना

जिस ग्राममें मन्दिर और मूर्तियोंकी प्रचुरता है यदि वहाँ पर मन्दिर न बनवाया जाय, तथा गजरथ न चलाया जावे तो कोई हानि नहीं। यही द्रव्य दरिद्र लोगोंके स्थितीकरणमें लगाया जावे, बालकोंको शिक्षित बनाया जावे, धर्मका यथार्थ स्वरूप समझाकर लोगोंकी धर्ममें यथार्थ प्रवृत्ति कराई जावे, प्राचीन शास्त्रोंकी रक्षा की जाय, प्राचीन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया जावे या सब विकल्प छोड़ यथायोग्य विभागके द्वारा साधर्मी भाइयोंको धर्म साधनमें लगाया जावे तो क्या धर्म नहीं हो सकता?

जहाँ तक बने सन्मार्गका उपदेश देकर सन्मार्गकी प्रभावना करना महान् धर्म है परन्तु हमारी दृष्टि इस ओर नहीं जाती। धर्मका स्वरूप तो क्या है वे भी तो हमारे भाई हैं जो सदुपदेशके अभावमें कुमार्गगामी हो गये हैं। यदि हमारा लक्ष्य होता तो उनका कुमार्गसे सुमार्गपर आना क्या दुर्लभ था? वे सज्ञी हैं, मनुष्य हैं, साक्षर हैं, बुद्धिमान हैं फिर भी सदुपदेशके अभावमें आज उनकी यह दुर्दशा हो रही है। यदि उन्हें सदुपदेशका लाभ हो तो उनका सुधारना कठिन बात नहीं परन्तु उस ओर हमारी दृष्टि जाती ही नहीं।

जिस समय श्रीशान्तिसागर महाराजका शिखरजीका शुभागमन हुआ था उस समय वहाँ दस लाखसे भी अधिक जनताका जमाव हुआ था। भारतवर्ष भरके धनाढ्य, विद्वान तथा साधारण मनुष्य उस समारोहमें थे। पण्डितोंके मार्मिक तत्त्वों पर बड़े-बड़े

व्याख्यान हुए थे। महासभा, तीर्थक्षेत्र कमेटी आदिके अधिवेशन हुए थे, कोठियोंमें भरपूर आमदनी हुई, लाखों रुपये रेलवे कम्पनीने कमाये और लाखों ही रुपये मोटरकार तथा बैल गाड़ियोंमें गये परन्तु सर्वदाके लिये कोई स्थायी कार्य नहीं हुआ। क्या उस समय दस लाखकी पूँजीसे एक ऐसी संस्थाका खोला जाना दुर्लभ था जिसमें कि उस प्रान्तके भीलोंके हजारों बालक जैनधर्मकी शिक्षा पाते, हजारों गरीबोंके लिये औषधिका प्रबन्ध होता और हजारों मनुष्य आजीविकाके साधन प्राप्त करते? परन्तु यह तो स्वप्नकी वार्ता है, क्योंकि हमारी दृष्टि इन कार्योंको व्यर्थ समझ रही है। यह कलिकालका माहात्म्य है कि हम द्रव्य व्यय करके भी उसके यथेष्ट लाभसे वञ्चित रहते हैं।

आजकल प्रायः अर्मे जो दवाका विशेष प्रचार हो गया है। इसका मूल कारण यह है कि ऐसे औषधालय नहीं रहे जिनमें शुद्ध औषधि तैयार मिल सके। यद्यपि इसमें लाखों रुपयोंका काम है पर समुदाय क्या नहीं कर सकता? उत्तमसे उत्तम वैद्योंकी नियुक्ति की जावे, शुद्ध औषधिकी सुलभता हो, ठहरने आदि के सब साधन उपलब्ध [illegible] तो लोग अनुपसेव्य औषधका सेवन क्यों करेंगे?

जब लोग धर्मको जान लेंगे तब अनायास उस पर चलेंगे। आत्मा स्वयं परीक्षक है, परन्तु क्या करे? सबके पास साधन नहीं, यदि धर्म प्रचारके यथार्थ साधन मिलें तो बिना किसी प्रयत्नके धर्म प्रसार हो जावे। धर्म वस्तु कोई बाह्य पदार्थ नहीं, आत्माकी निर्मल परिणतिका नाम ही तो धर्म है। जितने जीव हैं सबमें उसकी योग्यता है परन्तु उस योग्यताका विकास संज्ञी जीवके ही होता है। जो असंज्ञी हैं अर्थात् जिनके मन नहीं उनके तो उसके विकासका कारण ही नहीं है। संज्ञी जीवोंमें एक मनुष्य

हा ऐसा प्राणी है जिसके उसका पूर्ण विकास हो सकता है। यही कारण है कि मनुष्य पर्याय सब पर्यायोंमें उत्तम पर्याय मानी गई है। इस पर्यायसे हम सयम धारण कर सकते हैं। अन्य पर्यायोंमें संयमकी योग्यता नहीं। पञ्चेन्द्रियोंके विषयमे चित्तवृत्तिको हटा लेना तथा जीवोंकी रक्षा करना ही तो सयम है। यदि इस ओर हमारा लक्ष्य हो जावे तो आज ही हमारा कल्याण हो जावे। हमारा ही क्या समाज भरका कल्याण हो जावे।

आगममें लिखा है कि आदिनाथ भगवान जब अपने पूर्व भवमें राजा वज्रजङ्घ थे और वज्रदन्त चक्रवर्तीके विरक्त होनेके बाद उनकी राज्य व्यवस्थाके लिये जा रहे थे तब बीचमें एक सरोवरके तट पर ठहरे थे। वहाँ उन्होंने चारण ऋद्धिधारी मुनियोंके लिये आहार दान दिया। जिस समय वे आहार दान दे रहे थे उस समय शूकर, सिंह, नकुल और वानर ये चार जीव भी शान्त भावसे बैठे थे और आहारदान देखकर मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे। आहारदानान्तर राजा वज्रजङ्घने चारण मुनियोंसे प्रश्न किया कि हे मुनिराज! यह जो चार जीव शान्त बैठे हुए हैं इसका कारण क्या है? उस समय मुनिराजने उनके पूर्व जन्मका वर्णन किया जिसे सुनकर वे इतने प्रभावित हुए कि उनका अवशिष्ट जीवन धर्ममय होगया और आयुका अवसान होने पर जहाँ राजा वज्रजङ्घ और उनकी रानी श्रीमतीका जन्म हुआ वहीं पर इनका भी जन्म हुआ तथा राजाके मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और श्रेष्ठी ये चारों जीव भी वहीं उत्पन्न हुए। पश्चात् वज्रजङ्घका जीव जब कई भवोंके बाद श्री आदिनाथ तीर्थङ्कर हुआ तब वे जीव भी उन्हीं प्रभुके बाहुबलि आदि पुत्र हुए। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म किसी जाति विशेषका पैतृक विभव नहीं अपि तु प्राणीमात्रका स्वभाव धर्म है। कर्मोंकी प्रबलता-

से उनका अभाव सा हो रहा है अतः जिन्हें धर्मकी प्रभावना इष्ट है उन्हें उचित है कि प्राणीमात्रके ऊपर दया करें, अहम्बुद्धिको तिलाञ्जलि देवें, तभी धर्मकी प्रभावना हो सकती है।

बाह्य उपकरणोंका प्राचुर्य धर्मका उतना साधक नहीं जितना कि आत्मपरिणतिका निर्मल होना साधक है। भूखे मनुष्यको आभूषण देना उतना तृप्तिजनक नहीं जितना कि दो रोटियाँ देना है। इस पञ्चम कालमें प्रायः दुखी प्राणी बहुत हैं अतः अपनी सामर्थ्यके अनुकूल उनके दुःख दूर करनेमें प्रयास करो, वे आपसे आप धर्ममें प्रेम करने लगेंगे। प्रतिदिन व्यापार करते हो टोटा भी पड़ता है और नफा भी होता है। क्या जब टोटा पड़ता है तब व्यापार त्याग देते हो? नहीं, तब धर्ममें इतनी निराशताका उपयोग क्या? धर्मके लिये यथाशक्ति द्रव्यका सदुपयोग करो यही सच्ची प्रभावना है।

बहुतसे ऐसे महानुभाव हैं कि जिनके सजातीय बन्धु तो आजीविका विहीन होकर इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं पर वे हजारों रुपये प्रतिष्ठा आदिमें व्यय कर रहे हैं और खूबीकी बात यह कि सजातीय बन्धुओंकी अवस्थाके सुधारमें एक पैसा देनेमें भी उदारताका परिचय नहीं देते। क्या यह प्रभावना है?

ऐसा देखा गया है कि मनुष्य जिनसे हजारों रुपये अर्जन कर इस लोकमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए हैं और जिनके द्रव्यसे धर्मवर सिंघई, सेठ या श्रीमन्त बननेके पात्र हुए हैं उन्हींके नन्हे-नन्हे बालकों पर जो कि अन्नके लिये तरस रहे हैं दया न करके मनो-नीत कार्योंमें द्रव्य व्ययकर धर्मात्मा बननेका प्रयत्न करते हैं। यह क्या उचित है, यह क्या धर्मका स्वरूप है?

इसका मूल कारण अन्तरङ्गमें अभिप्रायकी मलिनता है। जिनका अभिप्राय निर्मल है वे जो भी कार्य करेंगे, यथायोग्य

करेंगे। गर्मीके दिनमें प्राणी तृषासे आतुर रहते हैं अत उन्हें
तीसे सन्तुष्ट करना उचित है।

आजकल समारमें अधिकतर मनुष्य बेकार हो गये हैं। उन्हें
योग्य कार्यमें लगा देना ही उचित है। आगमकी तो यह
ज्ञा है कि द्रव्य क्षेत्रादि निमित्तको देखकर द्रव्यादिकी व्यवस्था
नी चाहिये। धर्मसाधनमें अनेक मनुष्य अन्नके बिना अपना
र्म छोड़कर अन्य धर्म अङ्गीकार कर लेते हैं। कोई उनकी रक्षा
नेवाला नहीं। द्रव्यका सदुपयोग यही है कि दुःखी प्राणियोंकी
में लगाया जावे। प्रत्येक आत्मामें धर्म है परन्तु कर्मोदयकी
लतासे उसका विकास नहीं हो पाता। यदि भाग्योदयसे
री आत्मामें उसके विकासका अवसर आया है तो इस बाह्य
में ममता छोड़कर निर्ग्रन्थपद धारण करो। यदि इतनी योग्यता
तो जो बाह्य सामग्री तुम्हें उपलब्ध है उसे उसीके साधनोंमें
करो। जितना जितना कषाय उपशम होता जावे उतना-
त्यागकी वृद्धिरूप करते जाओ। सबसे पहिले गृहस्थावस्थामें
यसे जो धनार्जन करते थे उसका सवर करो और अन्यायके
व्यय थे उन्हें त्यागो। भोजन ऐसा करो जो अभक्ष्य न हो।
शाला खोलो परन्तु उसमें शुद्ध भोजनादिकी व्यवस्था हो।
औषधालय खोलो परन्तु शुद्ध औषधिकी व्यवस्था करो। विद्यालय
लो परन्तु उनमें स्वपरभेद ज्ञानकी शिक्षाके मुख्य साधन
ओ। मन्दिर बनवाओ परन्तु उनमें ऐसी प्रतिमा पधराओ
के जिसे देखकर प्राणी मात्रको शान्ति आ जाय।

('मेरी जीवनगाथा' से)

पुरुषार्थ

आत्माको पहिचानना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। सच्चा पुरुषार्थ तो यह है कि उदयके अनुसार जो रागादिक होवें हमारे ज्ञानमें भी आवें, उनकी प्रवृत्ति भी हममें हो किन्तु हम उन्हें कर्मज भाव समझकर इष्टानिष्ट कल्पनामें अपनी आत्माकी रक्षा कर सकें। लोग कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिलती। अरे, तुम्हें शान्ति मिले तो कैसे मिले ? एक क्षण रागादिकसे निवृत्त होकर शान्ति मुद्रासे बैठकर तो देखो कैसा शान्तिका समुद्र उमड़ता है ? न कुछ करना ही आत्माका काम है। मन, वचन, कायके योग भी आत्माके नहीं है। यह तो एक निर्विकल्प भाव है। लोग कहते हैं कि आत्माकी महिमा अनन्तशक्तिमें है परन्तु उसकी महिमा केवल अनन्तशक्तिमें ही नहीं है क्योंकि पुद्गलमें भी अनन्तशक्ति है, केवल एक ज्ञानावरण कर्म ही आत्माके केवलज्ञानको रोक लेता है। अतः आत्माकी महिमा उस शक्तिमें है जो सम्यग्दर्शन पैदा करके अन्तर्मुहूर्तमें कर्मोंका नाशकर आत्माको परमात्मा बना देता है। इससे सिद्ध है कि आत्माकी महिमा उसकी अचिन्त्यशक्तिमें नहीं, क्योंकि उसका काम केवल देखना और जानना मात्र है। और देखना जानना भी क्या है ? यह कि जो चीज जैसी है वैसी ही देखे जाने।

अकर्मण्यता छोड़ो—

लोग अपनेको कर्मोंपर छोड़ देते हैं। वे कहते हैं "क्या करें हमारे कर्ममें ही ऐसा लिखा था।" कितनी अज्ञानता और काय

रता है ? जैसा कि और लोग भी कहते हैं। "क्या करें भगवान ने ऐसा ही स्वीकार था।" कर्मोंके मत्थे सारा दोष मढते हैं, पुरुषार्थपर किंचित् भी ध्यान नहीं देते। जिस आगममें पुरुषार्थका इतना विशद वर्णन हो उसको ये लोग भूल जाते हैं। जरा भी नहीं सोचते कि कर्मोंको दोष देनेसे क्या होगा ? जो अन्मार्जित कर्म हैं, उनका तो फल उदयमें आयगा ही। भगवानको ही देखो। मोह नष्ट हो चुका, अर्हत् पदमें विराजमान हैं। पर फिर भी दण्ड कपाट करो। प्रतरावस्था हो कपाटरूप हो प्रतर करो और लोकपूर्ण करो। यह सब क्या है ? यही अन्मार्जित कर्म ही तो उदयमें आकर खिर रहे हैं, तो कर्मोंके सहारे रहना ठीक नहीं है। पुरुषार्थ भी कोई चीज नहीं है। जिस पुरुषार्थमें केवलज्ञानकी प्राप्ति हो उस पुरुषार्थकी ओर ध्यान न दो तो यह अज्ञानता ही है।

मोहको जीतो—

परन्तु मोह ! तेरी महिमा अचिन्त्य है, अपार है जो समारमात्रको अपना बनाना चाहता है। नारकीकी तरह मिलनेको तो कण भी नहीं, परन्तु इच्छा समार भरके अनाज खानेकी होती है।

अब देखिये इस शरीरपर तुम यह कपड़ा पहिनते हो तो क्या यह कपड़ा तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है ? अरे, मोही जीव उसे अपना मान बैठते हैं। और चोट्टापन क्या है ? दूसरी चीज को अपनी मान लेना यही तो चोट्टापन है। इस दुपट्टेको अपना मान लिया जभी ता चोर हो गया, नहीं तो समझते पराया है। पर मोह भन्दिरमें ऐसा ही होता है। तुमने उसकी सी बात कही और उसने उसकी-सी इस तरह उस शुद्ध स्वरूप की ओर ध्यान

ही नहीं देते। इसलिये यह घड़ी हमने ले ली। इससे हम अपना काम भी निकाल रहे हैं। पर अन्तरङ्गमे यही समझते हैं कि अरे, यह तो पराई है। उसी तरह रागादिकोंसे यदि जरूरत पड़े तो काम भी निकाल लो पर अन्तरङ्गमे यही जानो कि अरे, यह तो पर हैं और जब तक भइया परको पर और अपनेको अपना नहीं समझा तबतक कल्याण भी कैसे होगा ? यदि रागादिकको अपनाये रहोगे तो कैसे बन्धनसे छूटना होगा बतलाइये। अत रागादिकोंको हटानेकी आवश्यकता है। कैसी आपत्ति आजाय समझो यह भी कर्मोका कर्जा है। समभावसे उसे सहन करलो। हाँ, उसमें हर्ष विषाद मत करो। यह तुम्हारे हाथकी बात है। और भैया रागादिक नहीं हटे तो मनुष्य जन्म पानेका फल ही क्या हुआ ? संसार और कोई नहीं, रागादिक परिणति ही संसार है और उसका अभाव ही समयसार है।

अभिप्रायको निर्मल रखो—

मनुष्यको अभिप्राय निर्मल रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उसीकी सारी महिमा है। श्रेणिक राजाको ही देखिये मुनिराजके गलेमे मरा हुआ सर्प डाल आये। रानीसे जाकर सर्व हाल कह दिया। रानीने कहा अरे तुमने यह क्या किया ? राजा बोला वह तो गलेसे उतारकर फैंक देगा। रानीने कह दिया नहीं यदि वह सच्चे हमारे मुनि होंगे तो नहीं फेंक सकते नहीं फेंक सकते। यदि फेंक दिया होगा तो वह नग्न होते हुए भी हमारे मुनि नहीं। वहाँ दोनों जाकर पहुँचे तो देखा कि उनके गलेमें सर्पके कारण तमाम चींटियाँ चिपक गई हैं। दूरसे देखते ही राजाके हृदयमें वह साम्यभावकी मुद्रा अङ्कित होगई। उसने सोचा कि मुनि हैं तो सचमुच यही हैं। रानीने उसी समय मुनिके समीप पहुचकर

माँड द्वारा इन चीटियोंको दूर किया। तो मतलब यही कि महिमा तो उसकी तभी हुई जब उसके हृदयमें साम्यभाव जाग्रत हुआ। और शास्त्रोंमें भी क्या लिखा है? मनुष्यके अभिप्रायको निर्मल बनानेकी चेष्टा ही तो है।

देव शास्त्र गुरुसे शिक्षा लो—

मनुष्य यदि चाहे तो संसारकी सन्ततिको निर्मल कर सकता है। कोई बड़ी बात नहीं। भगवानकी मूर्तिमें भी यही शिक्षा मिलती है कि अपनेको उनीके अनुसार बनाए। उन्होंने रागद्वेष हटाया, मध्यस्थ रहे, तुम भी वैसा ही करो। मध्यस्थ बननेका यत्न करो। इसमें यह रामायण तो सब गपाडबाजी है। इसमें मन कपोल कल्पित कल्पनाएँ भर रही हैं। दूसरा बोला यदि उसमें कल्पनाएँ हैं, तो यह तो मानोगे कि रावणने खोटा काम किया तो लोकनिन्दाका पात्र हुआ और रामने लोकप्रिय कार्य किया तो सुयशका अर्जन किया। यह बोला हाँ इसमें कोई आपत्ति नहीं। तो बाँचनेका फल ही यह हुआ कि अपनेको सुधारनेकी चेष्टा करे। गुरु और क्या पूजे जाते हैं? उन्होंने यही समताभाव धारण किया। अरि, मित्र, महल, मसान, कञ्चन, काँच, निन्दा, स्तुति अपमान और पूजा सबको समान समझा। मनुष्यको परिणामोंमें समता धारण करना चाहिये। तुम्हारे दिलमें यदि प्रसन्नता हुई तो कह दिया कि भगवान आज तो प्रसन्न मुद्रामें हैं। वैसे देखा जाय तो भगवान न तो प्रसन्न हैं और न रुष्ट। अपने हृदयकी प्रसन्नताका तुमने भगवानपर आरोप कर दिया कि आज तो हमें मूर्ति प्रसन्नमना दिखाई देती है, पर देखो तो वह जैसेकी तैसी ही है। अतः मनुष्य यदि अपने परिणामोंपर दृष्टिपात करे तो संसार बन्धनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है।

अपनेको ही शान्तिबाधक समझो—

हम ही लोग अपने शान्तिके बाधक हैं। संसारमें जितने पदार्थ हैं उनमेंसे एक भी पदार्थ शान्ति स्वभावका बाधक नहीं। वर्तमानमें रखी हुई मदिरा अथवा डिब्बेमें रखा हुआ पान पुरुष में विकृतिका कारण नहीं। पदार्थ हमें विकारी होनेको बाध्य नहीं करता, हम स्वयं विकल्पासे उसमें इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दुखी होते हैं। कोई भी पदार्थ न सुख देता है न दुख देता है, इसलिये जहाँ तक बने आभ्यन्तर परिणामोंकी विशुद्धता पर सदैव ध्यान रखना चाहिये।

ब्रह्मचर्यका पालन करो—

ब्रह्मचर्य व्रत ही सब व्रतोंमें उत्तम है। इसके समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है। जिसने इस व्रतको पाल लिया उसने अन्य व्रत अनायास ही सध जाते हैं। पर इस व्रतका पालन करना कोई सामान्य बात नहीं है। स्त्री विषयक रागको जीतना बड़ा कठिन है। पहिले पार्सी थिएटर चलाते थे। एक थिएटरमें पार्सी था, उसकी स्त्री बड़ी खूबसूरत थी। वे दोनों रंगमंच पर अपना अभिनय प्रदर्शन करते थे। एक दिन वह स्त्री रंगमंच पर अभिनय कर रही थी। एक मनुष्यने एक कागज पर कुछ लिख कर रंगमंच पर फेंक दिया। उस स्त्रीने उस कागजको उठाकर पढ़ा। पढ़कर उस कागजको दियासलाईसे जलाकर अपने पैरोंसे कुचल दिया। इधर तो उसने कागजको कुचला और उधर उस मनुष्यने कटारसे अपना गला काट लिया। इससे स्पष्ट है कि स्त्री सम्बन्धी राग बड़ा दुखदाई होता है। एक पुस्तकमें लिखा है— संसारमें शूरवीर कौन है? उत्तरमें बतलाया—जो तरुण स्त्रियोंके कटाक्ष बाणोंसे बींधा जाने पर भी विकार भावको प्राप्त नहीं

हुआ। वास्तवमें शूरवीर तो वही है। जितनी प्रेरका सुत्र है। अन्तमें तो इससे वैराग्य होता ही है।

इस रागसे विरक्त होना अत्यन्त कष्ट साध्य है। और जिसकी निरक्तना हो जाती है उसके लिये भोगोंका छोड़ना कोई बड़ी बात भी नहीं होती। पंडित ठाकुरप्रसादजी थे। वे दो विषयोंके आचार्य थे। उनकी दूसरी स्त्री बड़ी सुन्दर थी। उदारता और सदाचारकी तो वह मूर्ति थी। विशेषता यह कि प० जी उस पर पूर्ण आसक्त थे। परन्तु वह विरागकी ओर बढ़ी जा रही थी। उसने एक दिन प० जी को बुलाकर कहा—देखो आज तक हमने आपके साथ इतने दिना तक भोग भोगे पर हमें विषयामें कुछ भी मजा नहीं आया। ये आपके बाल बच्चे हैं, सँभालिये। आजसे तुम हमारे भाई और हम तुम्हारी बहिन हुए। पण्डितजी ऐसे वचनोंको सुनकर अवाक् रह गये। तुमने मुझे आज चेता वनी देकर सँभाल लिया नहीं तो मैं भोगोंमें आसक्त होकर न जाने कौन-सी दुर्गतिका पात्र होता। भोगोंसे विरक्त रहने हीमें मनुष्यकी शोभा है। स्त्री सम्बन्धी रागका घटना ही सर्वस्व है। जब इस सम्बन्धी राग घट गया तब अन्य परिग्रहसे तो सुतरां अनुराग घट जाता है।

(सुगका मक्खन)



सल्लेखना मरण

सल्लेखना—

काय और कषायके कृश करनेको ही सल्लेखना (समाधि) कहते हैं। उसमें भी कायकी कृशताकी कोई आवश्यकता नहीं, यह पर वस्तु है। इसको न कृश ही करना और न पुष्ट ही करना, अपने आधीन नहीं। हाँ, यह स्वाधीन वस्तु है, जो अपनी कषायको कृश करना, क्योंकि इसका जन्य आत्मामें होता है। और इसीके कारण हम कृश हो जाते हैं। अर्थात् हमारे ज्ञान दर्शन घाते जाते हैं। और उसके घातसे ज्ञान दर्शनका जो देखना जानना कार्य है वह न होकर इष्टानिष्ट कल्पना सहित देखना जानना होता है। यही तो दुःखका मूल है। अतः आप त्यागकी मुख्यताकर शरीरकी कृशतामें ध्यान न कीजिये। रही कषाय कृशकी कथा, सो उसके अर्थ निरन्तर चिद्रूपमें तन्मयता ही उसका प्रयोजन है। औदयिक भावोंका करना तो हाथकी बात नहीं किन्तु औदयिक भावोंको अनात्मीय जान उनमें हर्ष विषाद न करना ही पुरुषार्थ है। जहाँ अनुकूल साधन हों उन्हें त्यागकर अनुकूल साधन बनानेमें उपयोगका दुरुपयोग है। कल्याणका पथ आत्मा है न कि बाह्य क्षेत्र। यह बाह्य क्षेत्र तो अनात्मज्ञोंकी दृष्टिमें महत्त्व रखते हैं। चिरकालसे हमारे जैसे जीवोंकी प्रवृत्ति बाह्य साधनोंकी ओर ही मुख्य रही, फल उसका यह हुआ जो अद्यावधि स्वात्म सुखसे वञ्चित रहे।

मरण—

आयुके निषेक पूर्ण होनेपर मनुष्य पर्यायका वियोग मरण है। तथा आयुके सद्भावमें पर्यायका सम्बन्ध सो ही जीवन है। जैसे जिस मन्दिरमें हम निवास करते हैं उसके सद्भाव असद्भावमें हमको किसी प्रकारकी हानि लाभ नहीं। तब क्यों हम विषादवश अपने पवित्र भावोंको कलुषित किया जावे। जैसे कि कहा है—

'प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।।
अस्यातो मरणं न किंचिद् भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।'

अर्थ—प्राणोंके नाशको मरण कहते हैं। और प्राण इस आत्माका ज्ञान है। यह ज्ञान सत् रूप स्वयं ही नित्य होनेसे कारण कभी नहीं नष्ट होता है। अतः इस आत्माका कुछ भी मरण नहीं है तो फिर ज्ञानीको मरणका भय कहाँसे हो सकता है। वह ज्ञानी स्वयं निःशङ्क होकर निरन्तर स्वाभाविक ज्ञानका सदा प्राप्त करता है।

इस प्रकार आप आनन्दसे मरणका प्रयास करना जो परम्परा मोक्षमार्गके पानेसे बच जाओ। इतना सुन्दर अवसर हस्तगत हुआ है, अवश्य इससे लाभ लेना।

आत्मा कल्याणका मन्दिर है—

आत्मा ही कल्याणका मन्दिर है अतः पराधारोंकी किञ्चित् मात्र भी आप अपेक्षा न करें। अब पुस्तक द्वारा ज्ञानाभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। अब तो पर्यायमें घोर परिश्रमकर स्वरूपके अर्थ मोक्ष-मार्गका अभ्यास करना उचित है। अब उसी

ज्ञान शस्त्रका रागद्वेष शत्रुओंके ऊपर निपात करनेकी आवश्यकता है। यह कार्य न तो उपदेष्टाका है और न समाधिकरणमें सहायक पण्डितोंका है। अब तो अन्य कथाओंके श्रवण करनेमें समयको न देकर उस शत्रु सेनाके पराजय करनेमें सावधान होकर यत्नपर हो जाओ।

यद्यपि निमित्तको प्रधान माननेवाले तर्कद्वारा बहुतसी आपत्ति इस विषयमें ला सकते हैं। फिर भी कार्य करना अन्तमें तो आपहीको कर्तव्य होगा। अत अबतक आपकी चेतना सावधान है, निरन्तर स्वात्मस्वरूप चिन्तवनमें लगा दो।

श्री परमेष्ठीका भी स्मरण करो किन्तु ज्ञायककी ओर ही लक्ष्य रखना, क्योंकि मैं "ज्ञाता द्रष्टा" हूँ, ज्ञेय भिन्न हैं, उनमें इष्टानिष्ट विकल्प न हो यही पुरुषार्थ करना और अन्तरङ्गमें मूर्च्छा न करना। तथा रागादिक भावोंका तथा उनके वक्ताओंको दूरहीसे त्यागना। मुझे आनन्द इस बातका है कि आप निःशल्य हैं। यही आपके कल्याणकी परमौषधि है।

शरीर नश्वर है—

जहाँतक हो सके इस समय शारीरिक अवस्थाकी ओर दृष्टि न देकर निजात्माकी ओर लक्ष्य देकर धर्मोके स्वास्थ्य लाभकी औषधिका प्रयत्न करना। शरीर पर द्रव्य है, उसकी कोई भी अवस्था हो उसका ज्ञाता द्रष्टा ही रहना। सो ही समयसारमें कहा है—

'को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं।

अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणन्तो ॥'

भावार्थ—यह परद्रव्य मेरा है ऐसा ज्ञानी पण्डित नहीं कह सकता, क्योंकि ज्ञानी जीव तो आत्माको ही स्वकीय परिग्रह मानता या समझता है।

यद्यपि विजातीय दो द्रव्योंसे मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति हुई है किन्तु निजातीय दो द्रव्य मिलकर सुधाहरिद्रावत् एकरूप नहीं परिणमे हैं। वहाँ तो वर्ण गुण दोनोंका एकरूप परिणमना कोई आपत्तिजनक नहीं है किन्तु यहाँपर एक चेतन और अन्य अचेतन द्रव्य हैं। इनका एकरूप परिणमना न्याय प्रतिकूल है। पुद्गलके निमित्तसे प्राप्त होकर आत्मा रागादिकरूप परिणम जाता है। फिर भी रागादिक भाव औदयिक हैं। अतः बन्धजनक हैं, आत्माको दुःखजनक हैं, अतः हेय है। परन्तु शरीरका परिणमन आत्मासे भिन्न है, अतः न वह हेय हैं और न वह उपादेय है। इसहीसे समयसारमें श्री महर्षि कुन्दकुन्दाचार्यने निर्जराधिकारमें लिखा है—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥

अर्थ—यह शरीर छिद जावो अथवा भिद जावो अथवा ले जावो अथवा नाश हो जावो, जैसे तैसे हो जावो तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है।

इसीसे सम्यग्दृष्टिके पर द्रव्यके नाना प्रकारके परिणमन होते हुए भी हर्ष विषाद नहीं होता। अतः आपको भी इस समय शरीरकी क्षीण अवस्था होते हुए कोई भी विकल्प न कर तटस्थ ही रहना हितकर है।

चरणानुयोगमें जो पर द्रव्योंको शुभाशुभमें निमित्तकी अपेक्षा हेयोपादेयकी व्यवस्था की है, वह अल्पप्रज्ञके अर्थ है। आप तो विज्ञ हैं। अध्यवसानको ही बन्धका जनक समझ उसीके त्यागकी भावना करना और निरन्तर ऐसा विचार करना कि

ज्ञानदर्शनात्मक जो आत्मा है वही उपादेय है। शेष जो बाह्य पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं।

आपके शरीरकी अवस्था प्रतिदिन क्षीण होरही है, इसका ह्रास होना स्वाभाविक है। इसके ह्रास और वृद्धिसे हमारा कोई घात नहीं ज्ञाताद्रष्टा स्वयं आते हैं। अथवा मान लीजिये कि शरीरके शैथिल्यसे सद् अवयवभूत इन्द्रियादिक भी शिथिल हो जाती हैं तथा द्रव्येन्द्रियके विकृत भावसे भावेन्द्रिय स्वकीय कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती हैं किन्तु मोहनीय उपशमजन्य सम्य बचकी इससे क्या विराधना हुई। मनुष्य शयन करता है उस काल जाग्रत अवस्थाके सदृश ज्ञान नहीं रहता किन्तु जो सम्य दर्शन गुण संसारका अन्तक है उसका आंशिक भी घात नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्थामें भी सम्यग्दर्शन माना है जहाँ केवल तैजस कार्माण शरीर हैं। उत्तरकालीन शरीरकी पूर्णता भी नहीं। तथा आहारादि वर्गणाके अभावमें भी सम्यग्दर्शनका सद्भाव रहता है। अत आप इस बातकी रञ्चमात्र आकुलता न करें कि हमारा शरीर क्षीण होरहा है, यद्यपि शरीर पर द्रव्य है उसके सम्बन्धसे जो कोई कार्य होनेवाला है वह हो अथवा न हो परन्तु जो वस्तु आत्माहीसे सम्बन्धित है उसकी क्षति करनेवाला कोई नहीं, उसकी रक्षा है तो संसार तट समीप ही है। विशेष बात यह है कि करणानुयोगकी पद्धतिसे समाधिके अर्थ बाह्य संयोग अच्छे होना विधेय है किन्तु परमार्थ दृष्टिसे निज प्रयत्न सम श्रद्धान ही कार्यकर है। आप जानते हैं कि कितने ही प्रबल ज्ञानियोंका समागम रहे किन्तु समाधिकर्ताको उनके उपदेश श्रवणकर विचार तो स्वयं ही करना पड़ेगा। जो मैं पर हूँ, रागा दिक शून्य हूँ, यह जो सामग्री देख रहा हूँ पर जन्य है, हेय है उपादेय निज ही है। परमात्माके गुणगानसे परमात्मा द्वारा

परमात्मपदकी प्राप्ति नहीं किन्तु परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलनेसे ही उस पदका लाभ निश्चित है अतः सर्व प्रकारके झंझटोंको छोड़कर अब तो केवल वीतराग निर्दिष्ट पथ पर ही आभ्यन्तर परिणामसे आरूढ़ हो जाना। बाह्य त्याग भी वहीं तक मर्यादा है जहाँतक निज भावमें बाधा न पहुँचे। अपने परिणामोंके परिणमनको देखकर ही त्याग करना क्योंकि जैन सिद्धान्तमें सत्य पथ मूर्छा त्यागवालेके ही होता है अतः जो जन्मभर मोक्ष-मार्गका अध्ययन किया उसके फलका समय है इसे सावधानतया उपयोगमें लाना। यदि कोई महानुभाव अन्तमें दिगम्बर पदकी सम्मति देवें तब अपनी आभ्यन्तर विचारधारासे कार्य लेना। वास्तवमें अन्तरङ्ग बुद्धिपूर्वक मूर्छा न हो तभी उस पदके पात्र बनना। इसका भी खेद न करना कि हम शक्तिहीन हो गये अन्यथा अच्छी तरहसे यह कार्य सम्पन्न करते। हीन शक्ति शरीरकी दुर्बलता है। आभ्यन्तर श्रद्धामें दुर्बलता न हो। अब निरन्तर यही भावना रखना।

'एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥'

अर्थ—एक मेरा शाश्वत आत्मा ज्ञान-दर्शनलक्षणमयी है शेष जो बाहिरी भाव हैं वे मेरे नहीं हैं, सर्व संयोगी भाव हैं॥

अब जहाँ तक बने स्वयं आप समाधान पूर्वक अन्यको समाधिका उपदेश करना कि समाधिस्थ आत्मा अनन्त शक्ति शाली है तब यह कौनसा विशिष्ट कार्य है। वह तो उन शत्रुओंको चूर्णकर देता है जो अनन्त संसारके कारण हैं।

जिनागमकी नौका पर चढ़ चलिये—

इस संसार समुद्रमें गोते खानेवाले जीवोंको केवल जिना-

गम ही नौका है। उसका जिन भव्य प्राणियोंने आश्रय लिया है वे अवश्य एक दिन पार होंगे। परन्तु क्या करें निरन्तर इसी चिन्तामें रहते हैं कि कब ऐसा शुभ समय आवे जो वास्तवमें हम इसके पात्र हों अभी हम इसके पात्र नहीं हुए, अन्यथा तुच्छ-सा तुच्छ वार्तामें नाना कल्पनायें करते हुए दुखी न होते।

रागादिकको दूर कीजिये—

हमारा और आपका मुख्य कर्तव्य रागादिकके दूर करनेका ही निरन्तर रहना चाहिये, क्योंकि आगमज्ञान और श्रद्धाके बिना संयतत्व भावके मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं, अतः सब प्रयत्नका यही सार होना चाहिये जो रागादिक भावोंका अस्तित्व आत्मामें न रहे। ज्ञान वस्तुका परिचय करा देता है अर्थात् अज्ञान निवृत्ति ज्ञानका फल है किन्तु ज्ञानका फल उपेक्षा नहीं,उपेक्षा फल चारित्र का है। ज्ञानमें आरोपसे यह फल कहा जाता है। जन्मभर मोक्ष मार्ग विषयक ज्ञान सम्पादन किया अब एकबार उपयोगमें लाकर उसका आस्वाद लो। आपकल चरणानुयोगका अभिप्राय लोगोंने पर वस्तुके त्याग और ग्रहणमें ही समझ रखा है सो नहीं। चरणानुयोगका मुख्य प्रयोजन तो स्वकीय रागादिकके भेदनेका है परन्तु वह पर वस्तुके सम्बन्धसे होते हैं अर्थात् पर वस्तु उसका नोकर्म होती है, अतः उसको त्याग करते हैं। सबसे ममत्व हटाने की चेष्टा करो यही पार होनेकी नौका है। जब परमें ममत्व भाव घटेगा तब स्वयमेव निराश्रय अहंबुद्धि घट जावेगी, क्योंकि ममत्व और अहङ्कारका अविनाभावी सम्बन्ध है एकके बिना अन्य नहीं रहता। सर्व त्याग कर दिया परन्तु कुछ भी शान्तिका अंश न पाया। उपवासादिक करके शान्ति न मिली, परकी निन्दा और आत्मप्रशंसासे भी आनन्दका अङ्कुर न उगा, भोजनादिकी

प्रक्रियासे भी लेश शान्तिको न पाया। अत यही निश्चय किया कि रागादिक गये बिना शान्तिकी अनुभूति नहीं अत सर्व व्यापार उन्हीके निवारणमें लगा देना ही शान्तिका उपाय है। वाग्जालके लिखनेसे कुछ भी सार नहीं।

वास्तवमें आत्माके शत्रु तो राग, द्वेष और मोह हैं। जो इसे निरन्तर इस दुःखमय ससारमें भ्रमण करा रहे हैं। अत आवश्यकता इसकी है कि जो राग द्वेषके आधीन न होकर स्वात्मोत्थ परमानन्दकी ओर ही हमारा प्रयत्न सतत रहना ही श्रेयस्कर है। औदयिक रागादि होनेका इसका कुछ भी रज नहीं करना चाहिये। रागादिकोंका होना रुचिकर नहीं होना चाहिये। बडे बडे ज्ञानी जनोंके राग होता है। परन्तु उस रागमें रञ्जनाके अभावमें आगे उसकी परिपाटी रोधका आत्माका अनायास अवसर मिल जाता है। इस प्रकार औदयिक रागादिकोंकी सन्तानका अपचय होते होते एक दिन समूलतलसे उसका अभाव हो जाता है और तब आत्मा स्वच्छ स्वरूप होकर इन ससार की वासनाओं का पात्र नहीं होता। मैं आपको क्या लिखू? यही मेरी सम्मति है—जो अब विशेष विकल्पोंका त्यागकर निम्न उपायसे राग द्वेषका आशयम अभाव हो वही आपका व मेरा कर्तव्य है, क्योंकि पर्यायका अवसान है। यद्यपि पर्यायका अवसान तो होगा ही किन्तु फिर भी सम्बोधनके लिये कहा जाता है तथा मूढाको वास्तविक पदार्थका परिचय न होनेसे बड़ा आश्चर्य मालूम पडता है।

विचारसे देखिये तब आश्चर्यका स्थान नहीं। भौतिक पदार्थोंकी परिणति देखकर बहुतसे जन मुग्ध हो जाते हैं। भला जब पदार्थ मात्र अनन्त शक्तियोंके पुञ्ज है तब क्या पुद्गलमें यह बात न हो, यह कहाँका न्याय है। आजकल विज्ञानके प्रभावकी

देख लोगोंकी श्रद्धा पुद्गल द्रव्यमें ही जाग्रत हो गई है। भला यह तो विचारिये, उसका उपयोग किसने किया? जिसने किया उसको न मानना यही तो जड़भाव है।

बिना रागादिकके कार्मण वर्गणा क्या कर्मादि रूप परिणमनको समर्थ हो सकती है? तब यों कहिये। अपनी अनन्तशक्तिके विकासमें बाधक आपही मोहकर्म द्वारा हो रहे हैं। फिर भी हम ऐसे अन्धे हैं जो मोहकी ही महिमा आलाप रहे हैं। मोहमें बलवत्ता देनेवाली शक्तिमान वस्तुकी ओर दृष्टि प्रसार कर देखो तो धन्य उस अचिन्त्य प्रभाववाले पदार्थको कि जिसकी वक्र दृष्टिसे यह जगत् अनादिसे बन रहा है। और जहाँ उसने वक्र दृष्टिको सकोचकर एक समय मात्र सुदृष्टिका अवलम्बन किया कि इस संसारका अस्तित्व ही नहीं रहता। सो ही समयसारमें कहा है—

> कषायकलिरेकतः शान्तिरस्त्येकतो।
> भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः॥
> जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः।
> स्वभावमहिमाऽऽत्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः॥

अर्थ—एक तरफसे कषाय कालिमा स्पर्श करती है और एक तरफसे शान्ति स्पर्श करती है। एक तरफ संसारका आघात है और एक तरफ मुक्ति है। एक तरफ तीनों लोक प्रकाशमान हैं और एक तरफ चेतन आत्मा प्रकाश कर रहा है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आत्माकी स्वभाव महिमा अद्भुतसे अद्भुत विजयको प्राप्त होती है। इत्यादि अनेक पद्यमय भावोंसे यही अन्तिम कलश प्रतिभाका विषय होता है जो आत्म द्रव्य ही क

विचित्र महिमा है। चाहे नाना दुःखाकीर्ण जगतमें नाना वेष धारणकर नटरूप बहुरूपिया बने और चाहे स्वनिर्मित सम्पूर्ण लीला-को सम्वरण करके गगनवत् पारमार्थिक निर्मल स्वभावको धारण कर निश्चल तिष्ठे। यही कारण है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं, यदि वेदान्ती एकान्त दुराग्रहको छोड़ देवें तब जो कुछ कथन है अक्षरशः सत्य भासमान होने लगे। एकान्तदृष्टि ही अन्धदृष्टि है। आप भी अल्प परिश्रमसे कुछ इस ओर आइये। भला यह जो पञ्च स्थावर और त्रसका समुदाय जगत् दृश्य हो रहा है, क्या है? क्या ब्रह्मका विकार नहीं? अथवा स्वमतकी ओर कुछ दृष्टिका प्रसार कीजिये। तब निमित्त कथनकी मुख्यतासे ये जो रागादिक परिणाम हो रहे हैं, क्या उन्हें पौद्गलिक नहीं कहा है? अथवा इन्हें छोड़िये। जहाँ अवधिज्ञानका विषय निरूपण किया है, वहाँ क्षयोपशम भावको भी अवधिज्ञानका विषय कहा है। अर्थात्–पुद्गल द्रव्यके सम्बन्धसे जायमान होनेसे क्षायोपशमिक भाव भी कथञ्चित् रूपी है। केवलज्ञान भाव अवधिज्ञानका विषय नहीं, क्योंकि उसमें रूपी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ औदयिक भाववत् क्षायोपशमिक भाव भी कथञ्चित् पुद्गलके सम्बन्धसे जायमान होनेसे मूर्तिमान है न कि रूप-रसादिमत्ता इनमें है। तद्वत् अशुद्धताके सम्बन्धसे जायमान होनेसे यह भौतिक जगत भी कथञ्चित् ब्रह्मका विकार है। कथञ्चित्का यह अर्थ है कि जीवके रागादिक भावोंके ही निमित्तको पाकर पुद्गल द्रव्य एकेन्द्रियादि रूप परिणमनको प्राप्त है। अतः यह जो मनुष्यादि पर्याय हैं वे दो असमान जातीय द्रव्यके सम्बन्धसे निष्पन्न हैं। न केवल जीवकी है और न केवल पुद्गलकी है। किन्तु जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जायमान हैं। तथा यह जो रागादि परिणाम हैं

मो न तो केवल जीवके ही हैं और न केवल पुद्गलके हैं किन्तु उपादानकी अपेक्षा तो जीवके हैं और निमित्त कारणकी अपेक्षा पुद्गलके हैं। और द्रव्य दृष्टिकर देखें तो न पुद्गलके हैं और न जीवके हैं, शुद्ध द्रव्यके कथनमें पर्यायकी मुख्यता नहीं रहती। अत यह गौण होजाते है। जैसे पुत्र पर्याय स्त्री पुरुष दोनोंके द्वारा सम्पन्न होती है। अस्तु इससे यह निष्कर्ष निकला यह जो पर्याय है वह केवल जीवकी नहीं किन्तु पौद्गलिक मोहके उदयमें आत्माके चारित्र गुणमें विकार होता है, अत हमें यह न समझना चाहिये कि हमारी इसमें क्या क्षति है? क्षति तो यह हुई जो आत्माकी वास्तविक परिणति थी वह विकृत भावको प्राप्त हो गई। यही तो क्षति है। परमार्थसे क्षतिका यह आशय है कि आत्मामें रागादिक दोष हो जाते हैं वह न होवें। तब जो उन दोषोंके निमित्तसे यह जीव किसी पदार्थमें अनुकूलता और किसीमें प्रतिकूलताकी कल्पना करता था और उनके परिणमन द्वारा हर्ष विषादकर वास्तविक निराकुलता (सुख) के अभावमें आकुलित रहता था। शान्तिके आस्वादकी कणिकाको भी नहीं पाता था। अब उन रागादिक दोषोंके असद्भावमें आत्मगुण चारित्रकी स्थिति अकम्प और निर्मल हो जाती है। उसके निर्मल निमित्तको अवलम्बनकर आत्माका चेतना नामक गुण है वह स्वयमेव दृश्य और ज्ञय पदार्थोंको तद्रूप हो द्रष्टा और ज्ञाता शक्तिशाली होकर आगामी अनन्त काल स्वाभाविक परिणमनशाली आकाशादिवत् अकम्प रहता है। इसीका नाम भाव मुक्ति है। अब आत्मामें मोह निमित्तक जो कलुषता थी वह सर्वथा निर्मूल हो गई किन्तु अभी जो योग निमित्तक परिस्पन्दन है वह प्रदेश प्रकम्पनको करता ही रहता है। तथा तन्निमित्तक ईर्यापथास्रव भी साता वेदनीयका हुआ करता है। यद्यपि इसमें आत्माके स्वाभाविक

भानकी क्षति नहीं। फिर भी निरपवर्त्य आयुके सद्भावमें यावत् आयुके निषेक हैं तावत् भव स्थितिको मेटनेको कोई भी क्षम नहीं। जब अन्तर्मुहूर्त आयुका अवसान रहता है। तथा शेष जो नामादिक कर्मकी स्थिति अधिक रहती है, उस कालमें तृतीय शुक्लध्यानके प्रसादसे दण्डकपाटादि द्वारा शेष कर्मोंकी स्थितिको आयु समकर चतुर्दश गुणस्थानका आरोहणकर अयोग नामको प्राप्त करता हुआ लघु पञ्चाक्षरके उच्चारणके काल समगुणस्थानका काल पूर्णकर चतुर्थ ध्यानके प्रसादसे शेष प्रकृतियोंका नाशकर परम यथाख्यात चारित्रका लाभ करता हुआ, एक समयम द्रव्य मुक्ति व्यपदेशनाको लाभकर, मुक्ति साम्राज्य लक्ष्मीका भोक्ता होता हुआ लोक शिखरमें विराजमान होकर तीर्थङ्कर प्रभुके ज्ञानका विषय होकर हमारे कल्याणमें सहायक होता है।

परपदार्थसे मूर्च्छा छोडिये—

श्रेयोमार्गकी सन्निकटता जहाँ जहाँ होती है वह वस्तु पूज्य है, अत हम और आपको बाह्य वस्तुजातमें मूर्च्छाकी कृशता कर आत्मतत्त्वका स्पर्श करना चाहिये। शास्त्राभ्यासका प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन तक ही नहीं है, साथहीमें पर पदार्थोंसे उपेक्षा होनी चाहिये। आगमज्ञानकी प्राप्ति और है किन्तु उसकी उपयोगिताका फल और है। मिश्रीकी प्राप्ति और स्वादमें महान् अन्तर है। यदि स्वादका अनुभव न हुआ तब मिश्री पदार्थका मिलना केवल अन्धेकी लालटेनके सदृश है, अत अब यावान् पुरुषार्थ है वह इसीमें कटिबद्ध होकर लगा देना ही श्रेयस्कर है। जो आगम ज्ञानके साथ २ उपेक्षा रूप स्वादका लाभ हो जावे।

विषाद इस बातका है जो वास्तविक आत्मतत्त्वका घातक है

उसकी उपक्षीणता नहीं होती। उसके अर्थ निरन्तर प्रयास है। बाह्य पदार्थका छोडना कोई कठिन नहीं। किन्तु यह नियम नहीं कि अध्यवसानके कारण छूटकर भी अध्यवसानकी उत्पत्ति अन्तस्तलमें नहीं होगी। उस वासनाके विरुद्ध शस्त्र चलाकर उसका निपात करना यद्यपि उपाय निर्दिष्ट किया है, परन्तु फिर भी वह क्या है? केवल शब्दोंकी सुन्दरताको छोडकर गम्य नहीं। दृष्टान्त तो स्पष्ट है, अग्नि जन्य उष्णता जो जलमें है उसकी भिन्नता तो दृष्टि विषय है। यहाँ तो क्रोधसे जो हमारी प्रवृत्ति है वह यावत् क्रोध न जावे तब तक कैसे व्यक्त हो। ऊपरसे क्रोध न करना हमारा साधक नहीं। आशयमें वह न रहे यही तो कठिन बात है। रहा उपाय तत्त्वज्ञान, सो तो हम आप सर्व जानते ही हैं किन्तु फिर भी कुछ गूढ रहस्य है जो महानुभावोंके समागमकी अपेक्षा रखता है, यदि वह न मिले तब आत्मा ही आत्मा है, उसकी सेवा करना ही उत्तम है। उसकी सेवा क्या है "ज्ञाता दृष्टा" और जो कुछ अतिरिक्त है वह विकृत जानना।

परतन्त्रताके बन्धन तोडिये—

वचन चतुरतासे किसीको मोहित कर लेना पाण्डित्यका परिचायक नहीं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

'किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स॥'

अर्थ—समताके बिना वननिवास और कायक्लेश तथा नाना उपवास तथा अध्ययन मौन आदि कोई उपयोगी नहीं। अतः इन बाह्य साधनोंका मोह व्यर्थ ही है। दीनता और स्वार्थमें

परतन्त्रता ही मोक्षमार्गकी घातक है। जहाँ तक हो इस पराधीनताके भावका उच्छेद करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। हे आत्मन्! तूने यह मानव पर्यायको पाकर भी निजतत्त्वकी ओर लक्ष्य नहीं दिया। केवल इन बाह्य पञ्चेन्द्रिय विषयोंकी प्रवृत्तिमें ही सन्तोष मानकर अपने स्वरूपका अपहरण करके भी लज्जित न हुआ।

इंद्रियजन्य अभिलाषाकी अनुत्पत्ति ही चारित्र है। मोक्षमार्गमें संवर तत्त्व ही मुख्य है। निर्जरा तत्त्वकी महिमा इसके बिना स्याद्वादशून्य आगम अथवा जीवनशून्य शरीर अथवा नेत्रहीन मुखकी तरह है। अतः जिन जीवोंको मान रुचता है उनका यही मुख्य ध्येय होना चाहिये कि जो अभिलाषाओंके उत्पादक चरणानुयोगकी पद्धति प्रतिपादित साधनाका और लक्ष्य स्थिर कर निरन्तर स्वात्माराम सुखास्वादनके अभिलाषी होकर रागादि शत्रुओंकी प्रबल सेनाका विध्वंस करनेमें भगीरथ प्रयत्न कर जन्म सार्थक किया जावे किन्तु व्यर्थ न जाव इसमें यत्नपर होना चाहिये। कहाँ तक प्रयत्न करना उचित है? जहाँ तक पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति न हो।

> 'भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
> यावत्तावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥'

अर्थ—यह भेद विज्ञान अखण्डधारासे भावो जब तक कि पर द्रव्यसे रहित होकर ज्ञान ज्ञानमें (अपने स्वरूपमें) न ठहर जाय। क्योंकि सिद्धिका मूलमन्त्र भेद विज्ञान ही है। यही श्री आत्मतत्त्वरसास्वादी अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

> 'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
> तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥'

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बंधे हैं वे भेद विज्ञानके न होनेसे ही बन्धको प्राप्त हुए हैं।

रामबाण औषधिका सेवन कीजिये—

अतः अब इस पराधीनताके अधोमार्गकी प्राप्तिके प्रयत्नमें तत्पर न रहकर उसके स्वावलम्बनकी ओर दृष्टि ही इस जर्जरदशाके मेटनेमें उपयोगिनी रामबाण मुख्य औषधि है। तद्यथा—

> 'इतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्,
> यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
> विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्,
> स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित् ॥'

अर्थ—इस तरफ कुछ नहीं है और दूसरी तरफ भी कुछ नहीं है तथा जहाँ जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ वहाँ भी कुछ नहीं है। विचार करके देखता हूँ तो यह संसार भी कुछ नहीं है। स्वकीय आत्मज्ञानसे बढ़कर कोई नहीं है।

इसका भाव विचार स्वावलम्बनका शरण ही संसार बन्धनके मोचनका मुख्य उपाय है। मेरी तो यह श्रद्धा है जो सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और चारित्रका मूल है।

मिथ्यात्वकी अनुत्पत्तिका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है। और अज्ञानकी अनुत्पत्तिका नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागादिककी अनुत्पत्ति यथाख्यात चारित्र और योगानुत्पत्ति ही परम यथाख्यात चारित्र है। अतः सबका ही दर्शनज्ञानचारित्राराधनाके व्यपदेशको

प्राप्त करता है तथा इसीका नाम तप है, क्योंकि इच्छानिरोधका नाम ही तप है।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि इच्छाका न होना ही तप है। अत तप आराधना भी यही है। इस प्रकार सबर ही चार आराधना है, अत जहाँ परसे श्रेयोमार्गकी आशाका त्याग है वहाँ श्रेयोमार्ग है।

प्रभु बननेका पुरुषार्थ कीजिये—

हमें आवश्यकता इस बातकी है कि प्रभुके उपदेशके अनुकूल प्रभुकी पूर्वावस्थावत् आचरण द्वारा प्रभु इव प्रभुताके पात्र हो जावें। यद्यपि अध्यवसानभाव परनिमित्तक हैं। यथा—

'न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्त
तस्मिन् निमित्त परसग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्॥'

अर्थ—आत्मा, आत्मा सम्बन्धी रागादिककी उत्पत्तिमें स्वय कदाचित् निमित्तताको प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् आत्मा स्वकीय रागादिकके उत्पन्न होनेमें अपने आप निमित्त कारण नहीं है किन्तु उनके होनेमें पर वस्तु ही निमित्त है। जैसे अर्ककान्त मणि स्वयं अग्निरूप नहीं परिणमता है किन्तु सूर्य किरण उस परिणमनमें कारण है। तथापि परमार्थ तत्त्वकी गवेषणामें वे निमित्त क्या बलात्कार अध्यवसान भावके उत्पादक हो जाते हैं? नहीं, किन्तु हम स्वय अध्यवसान द्वारा उन्हें विषय करते हैं। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है तब पुरुषार्थ कर उस ससार जनक भावोंके नाशका उद्यम करना ही हम लोगोंको इष्ट होना चाहिये। चरणानुयोगकी पद्धतिमें निमित्तकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है। और अध्यात्म शास्त्रमें पुरुषार्थकी मुख्यता और उपादानकी

मुख्यतासे व्याख्यान पद्धति है। और प्राय हमें इसी परिपाटीका अनुसरण करना ही विशेष फलप्रद होगा। शरीरकी क्षीणता यद्यपि तत्त्वज्ञानमें बाह्य दृष्टिसे कुछ बाधक है तथापि सम्यग्ज्ञानियोंकी प्रवृत्तिमें उतना बाधक नहीं हो सकती। यदि वेदनाकी अनुभूतिमें विपरीतताकी कणिका न हो तब मेरी सम्मतिमें हमारी ज्ञान चेतनाको कोई क्षति नहीं है।

पढ़ने और लिखने और वाक् चातुर्यमें मोक्ष मार्ग नहीं। मोक्षमार्गका अंकुर तो अन्त करणसे निज पदार्थमें ही उत्पन्न होता है। उस यह परजन्य मन, वचन, काय क्या जानें। यह तो पुद्गल द्रव्यके विलास हैं। जहाँ पर उन पुद्गलकी पर्यायोंने ही नाना प्रकारके नाटक दिखाकर हम ज्ञाता दृष्टाको इस ससार चक्रका पात्र बना रक्खा है। अत अब दीपसे तमोराशिको भेद कर और चन्द्रसे परपदार्थ जन्य आतपको शमन कर सुधा समुद्रमें अवगाहन कर वास्तविक सच्चिदानन्द होनेकी योग्यताके पात्र बनिये। वह पात्रता आपमें है। केवल साहस करनेका विलम्ब है। अब इस अनादि ससार जननी कायरताको दग्ध करनेसे ही कार्य सिद्धि होगी। निरन्तर चिन्ता करनेसे क्या लाभ? लाभ तो आभ्यन्तर विशुद्धिसे है। विशुद्धिका प्रयोजन भेदज्ञान है।

शास्त्र-स्वाध्याय कीजिये—

भेदज्ञानका कारण निरन्तर अध्यात्म ग्रन्थोंकी चिन्तना है। अत इस दशामें ग्रन्थाध्ययन उपयोगी होगा। उपयोग सरल रीतिसे इसमें सलग्न हो जाता है। क्षपक्षीण कायमें विशेष परिश्रम करना स्वास्थ्यका बाधक होता है, अत आप सानन्द निराकुलता पूर्वक धर्मध्यानमें अपना समय यापन कीजिये। शरीरकी दशा

तो अब क्षीण मन्मुख हो रही है। जो दशा आपकी है वह प्राय सबकी है। परन्तु कोई भीतरसे दुःखी है तो कोई बाहरसे दुःखी है। आपको शारीरिक व्याधि है जो वास्तवमें असाति कर्म असातावेदनीय है यह आत्मगुण घातक नहीं। आभ्यन्तर व्याधि मोहजन्य होता है। जो कि आत्मगुण घातक है।

स्वाध्याय करिये। और विशेष त्यागके विकल्पमें न पड़िये। केवल क्षमादिक परिणामोंके द्वारा ही वास्तविक आत्माका हित होता है। काय कोई वस्तु नहीं। यह आप ही स्वयं कृश हो रही है। उसका क्या विकल्प। भोजन स्वयमेव न्यून हो गया है। जो कारण बाधक है उसे आप बुद्धि पूर्वक स्वयं त्याग रहे हैं। मेरी तो यही भावना है—"प्रभु पार्श्वनाथ स्वरूप परमात्माके ध्यानसे आपकी आत्माको इस बन्धनके नाशमें अपूर्व सामर्थ्य मिले।"

कल्याणके मूल मन्त्रको मत भूलिये—

स्वतन्त्र भाव ही आत्म कल्याणका मूल मन्त्र है। क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टिसे तो सदा शुद्ध ज्ञातादृष्टा स्वभाववाला है। कर्म कलङ्कसे ही मलीन हो रहा है। सो उसके पृथक् करनेकी जो विधि है उस पर आप आरूढ़ हैं। बाह्य क्रियाकी त्रुटि आत्म परिणामकी बाधक नहीं और न मानना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टि जो निन्दा तथा गर्हा करता है, वह अशुद्धोपयोगकी है न कि मन, वचन, कायके व्यापारकी।

देहकी दशा जैसी शास्त्रोंमें प्रतिपादित है तदनुरूप ही है, परन्तु इसमें हमारा क्या घात हुआ? यह हमारी बुद्धिगोचर नहीं हुआ। घटके घातसे दीपकका घात नहीं होता। पदार्थोंका परिचायक ज्ञान है। अत ज्ञानमें ऐसी अवस्था शरीरकी प्रतिभासित होती है एतावत् क्या ज्ञान तद्रूप हो गया।

'पूर्णाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयम् ।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादपि ॥
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो ।
रागद्वेषमयी भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥'

अर्थ—पूर्ण अद्वितीय नहीं च्युत है शुद्ध बोधकी महिमा जिसकी ऐसा जो बोद्धा है वह कभी भी बोध्य पदार्थके निमित्तसे प्रकाश्य (घटादि) पदार्थसे प्रदीपकी तरह किसी भी प्रकारकी विक्रियाको नहीं प्राप्त होता है। इस मर्यादा विषयक बोधसे जिसकी बुद्धि वन्ध्या है वे अज्ञानी हैं। वे ही रागद्वेषादिकके पात्र होते हैं और स्वाभाविक जो उदासीनता है उसे त्याग देते हैं। आप विज्ञ हैं, कभी भी इस असत्य भावको आलम्बन न दें।

मृत्युसे मत डरिये—

अनेकानेक मर चुके तथा मरते हैं और मरेंगे। इससे क्या आया। एक दिन हमारी भी पर्याय चली जावेगी। इसमें कौन सी आश्चर्यकी घटना है। इसका तो आपसे विज्ञ पुरुषोंको विचार कोटिसे पृथक् रखना ही श्रेयस्कर है।

वेदनासे भयभीत मत होइये—

जो वेदना असाताके उदय आदि कारण कूट होने पर उत्पन्न हुई और हमारे ज्ञानमें आयी वह क्या वस्तु है? परमार्थसे विचारा जाय तो यह एक तरहसे सुख गुणमें विकृति हुई वह हमारे ध्यानमें आयी। उसे हम नहीं चाहते। इसमें कौन सी विपरीतता हुई? विपरीतता तो तब होती है जब हम उसे निज मान लेते। विकारज परिणतिको पृथक् करना अप्रशस्त नहीं,

अप्रशस्तता तो यदि हम उसीका निरन्तर चिन्तवन करते रहें और निजतत्त्वको विस्मरण हो जावें तब है।

अत जितनी भी अनिष्ट सामग्री मिले, मिलने दो। उसके प्रति आदर भावसे व्यवहार कर ऋण मोचन पुरुषकी तरह आनन्दसे साधुकी तरह प्रवृत्ति करना चाहिये। निदानको छोड़ कर आर्तत्रय षष्ठ गुणस्थान तक होते हैं। थोड़े समय तक अर्जित कर्म आया, फल देकर चला गया। अच्छा हुआ, आकर हलका कर गया। रोगका निकलना ही अच्छा है। मेरी सम्मतिमें निकलना रहनेकी अपेक्षा प्रशस्त है। इसी प्रकार आपकी असाता यदि शरीरकी जीर्ण शीर्ण अवस्था द्वारा निकल रही है तब आपको बहुत ही आनन्द मानना चाहिये। अन्यथा यदि यह अभी न निकलती तब क्या स्वर्गमे निकलती? मेरी दृष्टिमें केवल असाता ही नहीं निकल रही, साथ ही मोहकी अरति आदि प्रकृतियाँ भी निकल रही हैं। क्योंकि आप इस असाताको सुख पूर्वक भोग रहे हैं। शान्ति पूर्वक कर्मोंके रसको भोगना आगामी दु खकर नहीं।

जितने लिखनेवाले और कथन करनेवाले तथा कथन कर बाह्य चरणानुयोगके अनुकूल प्रवृत्ति करनेवाले तथा आपके वाक्यों पर श्रद्धालु व्यक्ति हुए हैं, अथवा हैं तथा होंगे, क्या सर्व ही मोक्षमार्गी हैं? मेरी तो श्रद्धा नहीं। अन्यथा श्री कुन्दकुन्द स्वामीने लिखा है। हे प्रभो! 'हमारे शत्रुको भी द्रव्यलिंग न हो' इस वाक्यकी चरितार्थता न होती तो काहेको लिखते। अत परकी प्रवृति देख रञ्चमात्र भी विकल्पका आश्रय न देना ही हमारे लिये हितकर है। आपके उपर कुछ भी आपत्ति नहीं, जो आत्महित करनेवाले हैं वह शिर पर आग लगाने पर तथा सर्वांङ्ग अग्निमय आभूषण धारण कराने पर तथा यन्त्रादि द्वारा उपद्रित

होनेपर मार्दवसमीके पात्र होते हैं। मुझे तो आपकी क्षमता और श्रद्धा ज्ञानका साथ देख कर इतनी प्रसन्नता होती है कि हम क्यों ? यह अवसर मयरो है। आपकी केवल श्रद्धा ही नहीं किन्तु आचरण भी अन्यथा नहीं। क्या मुनिका जब तीव्र व्याधिका उदय होता है, तब बाह्य चरणानुयोग आचरणके अभावमें क्या उनके छठवां गुणस्थान चला जाता है? यदि ऐसा है तब उसे समाधिमरणके समय 'हे मुने!' इत्यादि सम्बोधन करके जो उपदेश दिया है वह किस प्रकार संगत होगा। पीड़ा आदिमें चित्त चपल रहता है इसका क्या यह आशय है कि पीड़ाका बारम्बार स्मरण हो जाता है। हां जाओ, स्मरण ज्ञान है और जिसकी धारणा होती है उसका बाह्य निमित्त मिलने पर स्मरण होना अनिवार्य है। किन्तु साथमें यह भाव तो रहता है कि यह चपलता सम्यक् नहीं। परन्तु मेरी समझसे इस पर भी गम्भीर दृष्टि दीजिये। चपलता तो कुछ बाधक नहीं। साथमें उसके अरतिका उदय और असाताकी उदीरणासे दुःखानुभव हो जाता है। उसे पृथक् करनेकी भावना रहती है। इसीसे इसको महर्षियोंने आर्तध्यानकी कोटिमें गणना की है। क्या इस भावके होनेसे पंचम गुणस्थान मिट जाता है? यदि इस ध्यानके होने पर देशव्रतके विरुद्ध भावका उदय श्रद्धामें न हो तब मुझे तो दृढ़तम विश्वास है कि गुणस्थानकी कोई भी क्षति नहीं। तरतमता ही होती है वह भी उसी गुणस्थानमें। ये विचारे जिन्होंने कुछ नहीं जाना कहाँ जायेंगे, क्या करें इत्यादि विकल्पोंके पात्र होते हैं—कहीं जाओ हमें इसकी मीमांसासे क्या लाभ? हम विचारें हम भावसे कहाँ जायेंगे इस पर ही विचार करना चाहिये।

आपका सच्चिदानन्द जैसा आपकी निर्मल दृष्टिने निर्णीत किया है द्रव्यदृष्टिसे वैसा ही है। परन्तु द्रव्य तो भोग्य नहीं,

भोग्य तो पर्याय है, अतः उनके तात्त्विक स्वरूपको जो बाधक हैं उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा करना ही हमारा पुरुषार्थ है।

चोरको सजा देखकर साधुको भय होना मेरे ध्यानमें नहीं आता। अत मिथ्यात्वादि क्रिया संयुक्त प्राणियोंका पतन देख हमें भय होनेकी कोई भी बात नहीं। हमारे तो जब सम्यग्‌रत्नत्रयकी तलवार हाथमें आगई है और यह यद्यपि वर्तमानमें भोथरी धारवाली है परन्तु है तो असि। कर्मबन्धनको धीरे धीरे छेदेगी, परन्तु छेदेगी ही। बड़े आनन्दसे जीवनोत्सर्ग करना। अंशमात्र भी आकुलता अंतरंगमें न लाना। प्रभुने अच्छा ही देखा है। अन्यथा उसके मार्ग पर हम लोग न आते। समाधिमरणके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव क्या पर निमित्त ही हैं? नहीं।

जहाँ अपने परिणामोंमें शान्ति आई वहीं सभी सामग्री है। उपद्रवहारिणी कल्याण पथानुसारिणी जो आपकी दृढ़ श्रद्धा है वही कर्मशत्रुदाहिनी जो अयनशीला तीक्ष्ण असिधारा है। उसे सम्हालिये समाधिमरण की महिमा अपने हो द्वारा होती है।

सत्य दान दीजिये—

मरण समय लोग दान करते हैं। यह भाव तो ठीक ही है परन्तु सत्य दान तो लोभका त्याग है और उसको मैं चारित्र का अंश मानता हूं। मूर्च्छाकी निवृत्ति ही चारित्र है। हमको द्रव्य त्यागमें पुण्यबन्धकी ओर दृष्टि न देनी चाहिये किन्तु इस द्रव्यमें ममत्वनिवृत्ति द्वारा शुद्धोपयोगका वर्धक दान समझना चाहिये। वास्तविक तत्त्व ही निवृत्तिरूप है। जहाँ उभय पदार्थ का बंध है वही ससार है। और जहाँ दोनों वस्तु स्वकीय २ गुणपर्यायोंमें परिणमन करते हैं वही निवृत्ति है वहीं सिद्धान्त है। कहा भी है—

'सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिस्सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥'

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदार चरित्रवाले मोक्षार्थियोंको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्म रहित) चैतन्य स्वरूप परम ज्योतिवाला सदैव हूँ। तथा ये जो भिन्न लक्षणवाले नाना प्रकारके भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सम्पूर्ण परद्रव्य हैं।

इस श्लोकका भाव इतना सुन्दर और रुचिकर है जो हृदय में आते ही संसारका आतप कहाँ जाता है पता नहीं लगता। सल्लेखनाके ऊपर ही दृष्टि दीजिये—

आपके स्वास्थ्यमें आभ्यन्तर तो क्षति है नहीं, जो है सो बाह्य है। उसे आप प्रायः वेदन नहीं करते यही सराहनीय है। धन्य है आपको—जो इस रुग्णावस्थामें भी सावधान हैं। होना ही श्रेयस्कर है। शरीरकी अवस्था अपस्मार वेगवत् वर्धमान हीयमान होनेसे अध्रुव और शीतदाह ज्वरावेश द्वारा अनित्य है। ज्ञानी जनको ऐसा जानना ही मोक्षमार्गका साधक है। वह ऐसा समय आवेगा जो इसमें वेदनाका अवसर ही न आवे। आशा है एक दिन आवेगा। जब आप निश्चल वृत्तिके पात्र होवेंगे। अब अन्य कार्योंसे गौण भाव धारणकर सल्लेखनाके ऊपर ही दृष्टि दीजिये।

अब यह जो शरीर पर है शायद इससे अल्प ही कालमें आपकी पवित्र भावनापूर्ण आत्माका सम्बन्ध छूटकर वैक्रियक शरीरसे सबंध हो जावे। मुझे यह दृढ श्रद्धान है कि आपकी

असावधानी शरीरमें होगी न कि आत्मचिंतनमें। असातोदयमें यद्यपि मोहके सद्भावसे विकलताकी सम्भावना है। तथापि आशिक भी प्रबल मोहके अभावमें यह आत्मचिंतनका बाधक नहीं हो सकती। मेरी तो दृढ़ श्रद्धा है कि आप अवश्य इसी पथ पर हागे। और अन्ततक दृढ़तम परिणामो द्वारा इन क्षुद्र बाधाओंकी ओर ध्यान भी न देंगे। यही अवसर ससार लतिकाके घातका है।

देखिये जिन असातादि कर्मोंकी उदीरणाके अर्थ महर्षी लोग उग्रोग्रतप धारण करते करते शरीरको इतना कृश बना देते हैं, जो पूर्व लावण्यका अनुमान भी नहीं होता। परन्तु आत्म दिव्य शक्तिसे भूषित ही रहते हैं। आपका धन्य भाग्य है जो बिना ही निर्ग्रंथपद धारण किये कर्मोंका ऐसा लाघव हो रहा है जो स्वयमेव उदयम आकर पृथक् हो रहे हैं।

आपके ऊपरसे भार पृथक् हो रहा है फिर आपके सुखकी अनुभूति तो आप ही जाने। शान्तिका मूल कारण न साता है और न असाता, किन्तु साम्यभाव है। जो कि इस समय आपके हो रहे हैं। अब केवल स्वात्मानुभव ही रसायन परमौषधि है। कोई कोई तो क्रम क्रमसे अन्नादिका त्याग कर समाधिमरण का यत्न करते हैं। आपके पुण्योदयसे स्वयमेव वह छूट गया। वही न छूटा साथ साथ असातोदय द्वारा दुःखजनक सामग्रीका भी अभाव हो रहा है।

अत हे भाई! आप रचमात्र क्लेश न करना, वस्तु पूर्व अर्जित है। यदि वह रस देकर स्वयमेव आत्माको लघु बना देती है तो इससे विशेष और आनन्दका क्या अवसर होगा?

(पूज्य बाबा भागीरथजी वर्णी, दीपचन्दजी वर्णी और ब्र० मौजीलालजी सागरको लिखे गये पत्रों से)

वर्णी प्रवचन

एक

ज्ञानार्णव—

ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्यने प्रारम्भमे परमात्माको नमस्कार किया है। कहते हैं कि ज्ञानकी जो लक्ष्मी है उसके साथ आत्माका तादात्म्य सम्बन्ध है और आत्मा निराकुल ज्ञानमें प्रवृत्ति करता है। अनन्त सुखके धारी परमात्माको नमस्कार है।

यह जीव विषय सेवन आदिमें आनन्दकी प्रतिच्छाया देखता है इसलिये उन्हें प्राप्त करनेका प्रयास करता है। ज्ञानकी प्राप्ति अज्ञानसे उत्पन्न दुःखकी निवृत्तिके लिये है। महाव्रतका आचरण भी आनन्दके लिये है। यदि आनन्द प्राप्त करना चाहते हो तो दुःखको दूर करनेका उपाय उसके मुख्य कारण राग और द्वेषको दूर करना है और इनका मूल कारण मोह है। उसे मिटानेसे आप ही आप सुख प्राप्त हो जाता है।

मोहरूपी अग्निको नाश करनेकी यदि इच्छा है तो साम्यभावका अवलम्बन करो। यदि संयम धारण करना चाहते हो तो मोहका त्याग कर दो, आप ही आप संयम हो जायेगा। यदि संसारके दुःखोंसे छूटने या मुक्ति पानेकी प्रबल इच्छा है तो पांच इन्द्रियोंके विषयोंको जो विषके समान हैं उन्हें छोड़ो। राग रूपी वृक्षोंका जो बगीचा है उसे यदि छेदना चाहते हो तो साम्यभावका अवलम्बन करो। साम्यभावमें न राग होता है न द्वेष। सब पदार्थोंको समान मानो। धनी गरीब आदमीकी अपेक्षा मत करो। जैसे भिक्षाको निकले हुए मुनि गरीब व धनीके घर-

की अपेक्षा नहीं करते इसी प्रकार साम्यभाववाला प्राणी न राग करता है और न द्वेष ही। राग द्वेषका अभाव ही साम्यभाव है।

भाव दो प्रकारके होते हैं (१) चैतन्य (जीव) (२) अचैतन्य (जड़)। वैसे तो पदार्थ एक ही रूप हैं पर हमने उसके दो टुकड़े कर दिये हैं। जो हमारे विचारोंके रुचिके अनुकूल पदार्थ हुए उन्हें हम इष्ट पदार्थ कहने लगते हैं और इसके प्रतिकूल पदार्थोंको अनिष्टके नामसे पुकारते हैं। वैसे तो पदार्थ न तो इष्ट है और अनिष्ट।

एक कथानक है कि एक गाँवमें दो भाई रहते थे। उनमें बड़ा घनिष्ट प्रेम था। वे एक दूसरेको अत्यन्त प्रेम करते थे। उनके एक एक लड़का था। एक दिन एक भाई बाजारसे दो सतरे लाया। एक बड़ा था और एक कुछ छोटा। जब वह घर आ रहा था तो रास्तेमें दोनों लड़के मिले। दाहिनी तरफ उसका लड़का और बायीं तरफ भाईका लड़का था परन्तु अपने लड़केकी तरफ वाले हाथमें छोटा सतरा था इसलिये उसने पलट करके बड़ा सतरा अपने लड़केको और छोटा सतरा भाईके लड़केको दिया। यह दृश्य उसका भाई देख रहा था। उसने आकर कहा—कि अब हमारा तुम्हारा नहीं चल सकता, तुम अलग रहने लगो।

इसके कहनेका यह मतलब है कि यदि उसके साम्यभाव होता तो यह नौबत न आती।

मुक्तिका स्वयंवर हो रहा है। यदि तुम उसे वरण करना चाहते हो तो मनका दुख देनेवाले जो राग द्वेष हैं उन्हें साम्य भावसे छोड़कर स्वयंवरमें चले आओ।

अगर परमात्माके स्वरूपको देखना चाहते हो तो समवशरण, तीर्थक्षेत्र, मंदिर, चैत्यालय आदि कहीं भी जानेकी जरूरत नहीं परन्तु उसके स्वरूपको अपने ही आत्मामें देख सकते हो।

साम्यरूपी सूर्यकी किरणोंसे राग द्वेष रूपी अंधकारको दूर कर दो तो घर बैठे ही अपनेमें ही परमात्माको देख सकते हो।

क्षमा देखना चाहते हो तो घंटों पूजन, व्याख्यान, शास्त्र, व्रत आदिमें जो समय लगाते हो वह समय क्रोध को जीतनेमें लगाओ। यदि क्रोधको दूर नहीं कर सकते तो क्षमा नहीं मिल सकती। मैदा देखनेके लिये गेहूँके ऊपरका ही छिलका निकाल कर देखना पड़ेगा यह न तो जलमें है और न चक्कीमें। किसीकी सपत्ति उसीके पास रहती है दूसरेके पास नहीं होती। न तो दिगम्बर भाई मन्दिरमें भगवान देख सकते हैं और न तारण भाई शास्त्रोंमें। परमात्मा तो आत्मामें ही है। जरा इस ओर दृष्टि करनेकी जरूरत है।

मिली हुई चीजको दूर करनेका रास्ता जरूर होता है, आत्मा व कर्म मिले हुए हैं। इनको पृथक् पृथक् करनेका उपाय है। जहाँ तक साम्यभाव रहे वहाँ तक तो आत्माकी सीमा है, उसके आगे जहाँ साम्यभाव नहीं रहा और रागद्वेष आदि हुए वहीं समझो कि तुम्हारी आत्मा नहीं। जो चतुर ग्वालन होती हैं वे दहीको मथकर घी निकाल लेती हैं। जब छाछ शेष रहती है और जिसमें फिर मक्खन निकलनेकी शक्ति नहीं रहती तब उसे छोड़ देती हैं। हरएक पदार्थमें बड़ी शक्ति विद्यमान है। चतुर रसोइया परनेमें रखी हुई वस्तुके रूप, रग, स्वाद व स्पर्शको देख कर ही उसके पूर्ण पकनेकी स्थितिका स्पष्ट बता सकते हैं। ज्ञानमें अचिन्त्य शक्ति मौजूद है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि हृदयकी निर्मलता और साम्य, भावमें भी बहुत शक्ति है। इसी साम्यभावसे जीव कर्मको अलग कर सकता है।

अन्य पदार्थ दूसरेका न तो कुछ बिगाड़ कर सकता है और न बना सकता है। दीपक प्रकाशमान होकर घटकी स्थितिको बता देता है। घट दीपकके कार्यमें बाधक नहीं हो सकता है। जैसे चुम्बकमें दूरकी वस्तु खिंची हुई चली आती है उसी प्रकार दीपक किसीके पास नहीं जाता पर प्रकाशमें वस्तुस्थितिका ज्ञान करा देता है। घटकी उपस्थिति व अनुपस्थितिमें दीपकका कार्य होता है। दीपक घटमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि वस्तुका स्वभाव परसे उत्पन्न नहीं होता और न परको उत्पन्न ही करता है। इसी प्रकार आत्माका ज्ञान स्वभाव है यह हमें दुःख सुखका ज्ञान करा देता है। ज्ञानसे हम जान जाते हैं कि यह दुःख है और यह लाभ है। सुधार और बिगाड़ तो पदार्थमें कुछ हुआ नहीं। हम हैं जो ज्ञानसे जाने हुए सुख और दुःखकी ओर दृष्टिपात करते हैं पर जिससे 'हम' यह बोध हुआ वह जो ज्ञान है उसकी तरफ हम दृष्टिपात नहीं करते। साम्यभावकी उत्पत्ति सब दुःखोंको नष्ट कर देती है। सुख लेना चाहते हो तो दुःख के मूल कारणको अभी मिटा दो, अभी इसी समय तुम्हें सुखका अनुभव होगा। शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे जो कर्मका बंध होता है वह तो पराधीन है जब उदयमें आवेगा तब फल देगा। दे या न दे, कभी कर्मो कर्मो की उदीरणा हो जाती है और वे फल नहीं दे पाते। पुण्यका लाभ स्वतंत्र नहीं। पर साम्यभावका फल तो अभी इसी समय मिल जाता है। किसान बीज बोता है तो समय पर उसे फल मिलता है। यदि उपयुक्त साधन पूर्ण न हो पाये तो कहो फल भी न मिले। पर साम्यभावमें यह बात नहीं होती उसका फल नहीं मिट सकता।

साम्यरूपी वायुसे जिसने अपना आत्मा पवित्र कर लिया है तथा जिसने मोह मिटा दिया है तथा जिसने राग व द्वेष जीते

भइया! जब हम पढ़ते थे तो ठाकुरदास जी को हम बहुत श्रद्धा की दृष्टिसे देखते थे। उनके सामने अधिक बातचीत नहीं किया करते थे। एक दिन हमारे साथी हजारी ने हमसे कहा कि भाग पियो। हमने पूछा कि भागमें क्या रखा है। कहने लगा कि भाग पीनेसे साक्षात् महादेवके दर्शन होते हैं। तो मैंने पूछा कि क्या हमारे भगवान आदिनाथ भी हमें दिख सकते हैं? उसने कहा—हाँ। तो हमने थोड़ी सी भाग पी ली। सोचा पहिली बार थोड़ी सा पीकर भगवान आदिनाथके थोड़ेसे ही दर्शन करने को मिल जावेंगे। भइया! उसका नशा चढ़ आया और पण्डितजीके पास पढ़ने को गये। तो पुस्तकके अन्दर बहुत बड़े बड़े दिखाई देने लगे। तो मैंने पण्डितजीसे कहा कि आज पढ़नेको जी नहीं चाहता। मेरी इच्छा है कि मैं आज सोऊँ। पण्डितजीने कुछ कहा नहीं तो मैंने कहा कि सुनते नहीं जी! मैंने कहा कि आज सोनेको जी चाहता है। पण्डितजी समझ गये कि किसीने इसे भाग पिला दी है। उन्होंने मुझे लिटा दिया और अपनी धर्मपत्नीसे कहा कि इसे दही और खटाई खिला दो ताकि इसका नशा उतर जावे। मैंने कहा कि रात को मैं नहीं खाता, मेरा नियम है। तो पण्डितजीने कहा कि जब भाग खाई थी तब नियम कहाँ चला गया था! मैंने उत्तर दिया कि एक नियम टूट गया दूसरा क्यों तोड़ूँ? तो भइया! संस्कार भी बड़े प्रबल होते हैं। हमें अपने जैनधर्मके संस्कार नहीं मिटाना चाहिये। यदि संस्कार रहे आवें तो हमारा कल्याण हो जावे।

आत्मा तो मिथ्यादर्शन आदि भावोंसे दूसरे मार्ग पर आ जाता है। आत्मामें जैसा दाग लग जावेगा वैसा ही वह हो जावेगा। देखिये मंत्र को साधनेवाला व्यक्ति दूरसे मंत्रके द्वारा ही अपनी शक्तिको प्रदर्शित कर देता है। बिच्छू, बर आदिके

नहर शान्त हो जाते हैं। पानी पीनेसे तृषा शान्त हो जाती है। व्याख्यानदाता हजारों आदमियोंको अपनी वाणी द्वारा मोहित कर लेता है। पदार्थोंमें अचिन्त्य शक्ति है। मिथ्यादर्शन आत्माकी शक्तिको विकृतिमें परिणत कर देता है। पुद्गल द्रव्यकी शक्ति आत्माकी शक्तिको चौपट कर रही है। पदार्थकी शक्ति विलक्षण है। साम्यभावमें यह शक्ति है कि यह संसारको काट देवे। हमें संसार सागरसे पार लगा देवे। मोहमें शक्ति अधिक है। चारित्रमोहसे मुनि भी अन्यकी प्रशंसितयोंका मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिखने लगता है।

हम पढ़ते हैं कि जिस समय लव कुशके समक्ष नारद मुनि आये और उन्होंने लव और कुशको राम लक्ष्मण सरीखे होनेका आशीर्वाद दिया तथा उनको सारी कथा सुनायी तब दोनोंने ही उनसे अपनी माताका बदला लेनेके लिये युद्धकी ठान ली। सो मोह ही सब कराता है। माताके मोहने लव-कुशको युद्धके लिये बाध्य कर दिया। मोहकी शल्यने यह स्पष्ट करा दिया। मोहकी महिमा विचित्र है।

भइया! जिस समय राम व रावणका युद्ध हुआ तो रावणका चक्र लक्ष्मणके हाथमें आ गया तो रामने कहा—मुझे तुम्हारा चक्र नहीं चाहिये तुम तो मेरी सीता लौटा दो पर अभिमानी रावणने कुछ ध्यान नहीं दिया।

और जिस समय सीताको रावण उठा ले गया तो रामने मोहमें पागल हो करके वृक्षोंसे सीताका पता पूँछा। बताइये तो इतने बड़े महापुरुष और मोहने उनकी कैसी विचित्र दशा की?

और फिर जब रामचन्द्रजीने मुनि अवस्थाको धारण किया तो सीताके जीवने नाना प्रकारके रूप धारण करके कई प्रकारके

च्योंने बैठकर निर्णय किया कि जिसकी स्त्री मंदिरमें ऐसे जेवरको धारण करके आवे जिससे छम छम आवाज हो उसके २५) जुर्माना किये जावे। सगुनचंदजीने ही यह प्रस्ताव रक्खा था। दैवयोगसे जब यह निर्णय हुआ था उस समय सगुनचंदजीकी स्त्री मंदिरजीमें चली आई थीं। दूसरे दिन वह ही छम छम करती हुई मन्दिरमें आई। सगुनचन्द्रजीने तुरन्त ही २५) मगाकर जुर्मानाके दिये। लोगोंने बहुत समझाया कि अज्ञानमें ऐसा अपराध हुआ है पर उन्होंने एक भी न सुनी। कहने का तात्पर्य यह है कि नियम पालनेवाला ही नियम चला सकता है।

शास्त्रोंको रचनेवाले तो बड़े बड़े योगी पुरुष हुए हैं। उनके वचनोंको शिरोधार्य करके हम सब साम्यभावी हो सकते हैं। कोई कठिन बात नहीं है। योगीके समागमसे क्या नहीं हो सकता। योगीसे तो इन्द्र भी सतुष्ट हो जाते हैं। शेर और गाय अपने बैरको भूल जाते हैं। मनुष्योंकी बात तो जाने दीजिये पशु भी प्रभावित हो जाते है। जहाँ योगी पहुच जाते हैं वहाँ बैर, भय क्रोध सब ही नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रमाकी शीतल किरणें आतप को दूर कर देती हैं। सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है।

जिस मुनिका मोह क्षीण हो गया है उसके प्रभावसे हिरिणी सिंहनीके बच्चेको दूध पिलाने लगती है। गाय व्याघ्रके बच्चेके साथ खेलने लगती है। बिल्ली हसके बच्चोंके साथ क्रीडा करने लगती है। मयूर सर्पके बच्चोंको खिलाने लगती है। आजन्मसे जो बैरी होते हैं वे भी अपना बैर भूल जाते हैं।

जयपुरके राजाके यहाँ दीवान अमरचंदजी थे। एक समय राजा इन्हें शिकार खेलनेके लिये जगल लिवा ले गये। जगलमें हिरनोंका समूह जो राजाने देखा तो उन्होंने बन्दूकका निशाना उनकी ओर किया। तो अमरचन्द्रजीने उनकी बन्दूक पकड़ ली।

और कहा कि तुम तो इस राज्यके [illegible] हो इनको [illegible] सकते हो ? तो उत्तरमें राजाने कहा—हमारा काम [illegible] चलाना है । तो फिर अमरचन्द्रजीने पुकार कर हिरनोंसे कहा—कि अय हिरनो खड़े रहो ! तुम्हारा राजा ही तुम्हें [illegible] तुला हुआ है । जब रक्षक भक्षक हो गया तो तुम [illegible] ? तुम सब खड़े हो जाओ मार लेने दो [illegible] मारते हैं । भइया, ऐसा असर हुआ [illegible] कि [illegible] हो गये । फिर राजाको मालूम नहीं हुआ कि [illegible] सा निर्मल परिणामी जीव यदि हिरनोंको [illegible] आश्चर्यकी क्या बात है !

एक समय इन्हीं अमरचन्द्रजीको [illegible] बना लिया गया । और जब इनके पास [illegible] स्वीकृति मांगी गई तो इन्होंने [illegible] स्वीकृति दी । परन्तु ८ दिन बाद तो [illegible] इसकी रिपोर्ट की गई, तो अमरचन्द्रजी [illegible] तरफ मिलानेको गये । उन्होंने सिंहसे [illegible] यदि मांस खाना है तो मुझे खा डालो । [illegible] क्या हुआ भइया ! शेरने [illegible] आश्चर्यमें आये । सो इससे मालूम पड़ता है [illegible] णाम निर्मल हो जाते हैं [illegible] है ।

एक मनुष्य मुनिकी पूजा [illegible] उनके कण्ठमें सर्प डालता है तो [illegible] हैं, न वे किसीसे राग करते हैं [illegible] साम्यके बगीचामें प्रवेश कर सकते हैं । [illegible] रहते हो—कौन बड़ी बात है ।

भइया ! बाईजी व यहाँ [illegible]

खराब कर देता था। कभी दूध खराब कर दे कभी दही खराब कर दे। तो बाईजीने एक दिन चूहेसे कहा—कि तुम रोज कोई न कोई वस्तु खराब कर देते हो, जिससे कभी मुझे और कभी मेरे लड़केको उस वस्तुसे वंचित रहना पड़ता है। इतने बड़े सागरमें क्या तुम्हें हमारा ही घर मिला जो हमें ही नुकसान पहुँचाते हो? इस पर वह दूसरे दिनसे नहीं आया। क्या हो गया सो कर्मशास्त्रके विद्वान जानें हम तो कुछ बता नहीं सकते।

तो करे क्या, परिणामोंकी शक्ति तो अपरम्पार है। थोड़ा सा चित्त ही इस तरफ देना है। साम्यभावी क्या मोक्ष नहीं जा सकता? क्या भगवानने ही मोक्ष जानेका ठेका ले लिया है? यह तो मोक्षमार्ग है। भगवान तो मोक्ष गये तथा हम सबको भी वहां जानेका रास्ता बता गये। साम्यभाववाला जो जीव होता है वह न तो किसीसे राग करता है और न किसी से द्वेष करता है। वन हो या नगर हो शत्रु हो या मित्र हो। वह इन सबको जान करके भी किसीसे राग द्वेष नहीं करता। ज्ञान से पदार्थोंको जान लेना थोड़ा ही अपराध है। ज्ञान तो अपना काम करेगा ही। ज्ञान तो वस्तु स्थितिको प्रदर्शित कर देता है। यह हमारी गलती है कि हम उसमें मोहके द्वारा राग द्वेष करने लगते हैं—यही हमारा अपराध है।

व्यवहारसे विचार करो तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय पृथक् पृथक हैं और निश्चयसे सब एक ही हैं। मोहकी कल्पना मिट जावे तो संसार मिट जावे।

अभिप्राय एक न होनेसे ही झगड़े होते हैं। यदि एक ही अभिप्राय हो जावे तो काम बनते कुछ देर न लगे। देखो, यदि तुम लोग चाहो तो आश्रम और विद्यालय एक हो जावे। अभी दृष्टि उस तरफ गई नहीं है। जहां २०० विद्यार्थी पढ़ते हैं वहां ५००

रागादिक दोनोंके होता है, एक जीवका होता है और पुद्गलका अलग होता है। परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे दर्जी ने अङ्गार बनाया तो अङ्गारकी क्रिया अङ्गारमें ही हुई, दर्जीके हाथकी क्रिया हाथमें हुई। वह अङ्गारमें नहीं गई। इस प्रकार रागादिक दोनोंमें नहीं होते वरन सिर्फ जीवमें ही राग-द्वेष हुआ करते हैं। परन्तु ये औपाधिक हैं यह बात जब जीव जान लेता है, छोड़ देता है। रागादिकका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। व्यवहारसे देखो तो जीव और कर्ममें बन्ध पर्याय हो रही है, भिन्नता नहीं हो सकती। परन्तु यदि निश्चयनय की दृष्टिसे देखो तो जीव और पुद्गल पृथक् पृथक् हैं।

द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विचार करो तो जीव अबद्ध है। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा देखो तो जीव बद्ध है। जो ऐसा जान लेता है वही मोक्षगामी होता है। भगवानने दो नय कहे हैं। व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा रागी-द्वेषी है, मोही है और निश्चयनयकी दृष्टिमें देखो तो आत्मा अखण्ड है, अचल है, अभेद्य है, स्वसंवेद्य है। निश्चयका जाननेवाला केवलज्ञानी है। वह तीनों लोकोंके पदार्थोंको ज्ञानमें देख रहा है पर हम मतिज्ञान श्रुतज्ञान से थोड़ा बहुत इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उसमें मोह न लाना ही बुद्धिमानी है। ज्ञान तो सतत होता ही रहेगा वह हटने वाली वस्तु नहीं है। समयसारमें अखिल नयोंका पक्ष मिट जाता है। नय कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

विकल्प शांत होनेका नाम ही समयसार है। इसकी प्राप्ति प्रथम तो श्रुतज्ञानसे व शास्त्रसे आत्माका ज्ञान करनेसे होती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इन्द्रिय या अनिन्द्रियसे मतिज्ञानके द्वारा पदार्थोंका निश्चय करना पड़ता है। वह बुद्धि हम पर पदार्थों

बने रहे। फल हुआ कि सर्वार्थसिद्धि गये और एक भवमें मोक्ष भी चले जावेंगे।

जो योगी होता है वह जगत्को उन्मत्तके रूप में देखता है। पागल तो उसे कहते हैं जो अन्यथा बोले। हम सब पराई चीजोंको अपनी मान रहे हैं। अब बताइये हम पागल हुए या नहीं।

यदि इन्द्र व गुरु वाचस्पति भी आ जावें और साम्यभावके गुणोंका वर्णन करें तो हजारों सागरोंकी आयु बीत जाये तो भी उसके गुण समाप्त नहीं हो। दुष्प्रज्ञाके बलसे वस्तु तत्त्वका विलाप कर दिया है। यह प्रज्ञा हरएक घरमें वर्तमान है। मोक्षमार्गमें लगनेवाले जीव बहुत कम हैं।

राग द्वेषको जीतकर व समताभाव धारण कर जो सुख दुख मे सम आचरण करे वही सच्चा योगी है।

राग द्वेषको मिटानेकी कोशिश करो। एक तरफ चित्त लग जावे यदि सब तरफसे चित्त हट जावे तो।

समयसार

जीवकी पर्याय जीवमें हुआ करती है और पुद्गलकी पर्याय पुद्गलमें हुआ करती है। जीवका आश्रय पाकर पुद्गल द्रव्यमें व्याप्य व्यापकभावसे परिणमन होता रहता है। पुद्गल और जीव दोनों ही परिणमनशील हैं। यदि हम एकको भी परिणमनशील न मानें तो संसारका अभाव हो जावे।

जीव पुद्गलको कर्मरूपसे परिणमा देता है। यदि पुद्गल में कर्मरूप होनेकी ताकत नहीं होती तो उसे कौन कर्मरूप परिणमा सकता था। निमित्त पाकर जीव और पुद्गल दोनोंमें परिणमन होता रहता है। यह परिणमन जुदा जुदा रहता है। जीवमें रागादिक होनेका कारण पुद्गल विपाक है। शंका है कि

रागादिक दोनोंके होता है, एक जीवका होता है और पुद्गलका अलग होता है। परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे दर्जी ने अद्धार बनाया तो अद्धारकी क्रिया अद्धारमें ही हुई, दर्जीके हाथकी क्रिया हाथमें हुई। वह अद्धारमें नहीं गई। इस प्रकार रागादिक दोनोंमें नहीं होते वरन सिर्फ जीवमें ही राग-द्वेष हुआ करते हैं। परन्तु ये औपाधिक हैं यह बात जब जीव जान लेता है, छोड़ देता है। रागादिकका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। व्यवहारसे देखो तो जीव और कर्ममें बन्ध पर्याय हो रही है, विभिन्नता नहीं हो सकती। परन्तु यदि निश्चयनय की दृष्टिसे देखो तो जीव और पुद्गल पृथक् पृथक् हैं।

द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विचार करो तो जीव अबद्ध है। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा देखा तो जीव बद्ध है। जो ऐसा जान लेता है वही मोक्षगामी होता है। भगवानने दो नय कहे हैं। व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा रागी-द्वेषी है, मोही है और निश्चयनयकी दृष्टिसे देखो तो आत्मा अबद्ध है, अचल है, अभेद्य है, स्वसंवेद्य है। निश्चयका जाननेवाला केवलज्ञानी है। यह तीनों लोकोंके पदार्थोंको ज्ञानमें देख रहा है पर हम मतिज्ञान श्रुतज्ञान से थोड़ा बहुत इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उसमें मोह न लाना ही बुद्धिमानी है। ज्ञान तो सतत होना ही रहेगा यह हटने-वाली वस्तु नहीं है। समयसारमें अखिल नयोंका पक्ष मिट जाता है। नय कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

विकल्प शांत होनेका नाम ही समयसार है। इसकी प्राप्ति प्रथम तो श्रुतज्ञानमें व शास्त्रसे आत्माका ज्ञान करनेसे होती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इन्द्रिय या अनिन्द्रियसे मतिज्ञानके द्वारा पदार्थोंका निश्चय करना पड़ता है। वह बुद्धि हम पर पदार्थों

स्वामी कहते हैं कि स्वर्ग लोक तो पचेन्द्रियके विषयोंका घर है। चक्रवर्तीको इतनी सम्पत्ति और ऐश्वर्य मिला पर इसमें आत्म ज्ञानकी कौन-सी वृद्धि हो गई सो बताइये? साता वेदनीय कर्मों ने इस जीवको सुख ही तो दिया और इससे तीव्र कषाय ही आ गई और बताइये क्या हो गया? सो तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो ज्ञात होगा कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं।

हम राग करते हैं और दूसरोंसे कराते हैं। शास्त्र सुननेका फल तो एक ही है कि हम राग-द्वेष करना छोड़ें। हमको छोड़ जो कोई भी यहां बैठेगा या बड़े भगवान के पास भी चले जाओ तो वह भी राग-द्वेष छोड़नेका उपदेश देंगे। तुम्हें विवेकरूपी माणिक्य मिला है लेकिन तब भी माणिक्यको छोड़कर तुम बिना विचार किये ही रमणीय विषयोंमें तल्लीन हो रहे हो।

स्वर्गकी प्राप्ति परिणामोंसे होती है न कि द्रव्यसे। एक गरीब आदमी है और वह मोटे चावल चढाता है और उसके परिणाम एक चित्त होकर भगवानके स्वरूपमें तल्लीन हो रहे हैं। तथा एक धनिक आदमी हीरा माणिक्य ले भगवानकी पूजन कर रहा है पर उसके परिणाम घरकी ओर लगे हुए हैं तो इसकी अपेक्षा उस गरीब आदमीको फल अच्छा मिलेगा। इससे मालूम पड़ता है कि भावकी कीमत होती है। मेंढक तो सिर्फ कमलका फूल मुहमें दबाकर पूजनकी महत्ती वाछा लेकर जा रहा था और उसका रास्तेमें ही देहान्त हो गया तब भी शुभ परिणाम होनेसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति हो गई—तो इसमें कौन सी आश्चर्यकी बात हो गई? संसारमें ऐसे ऐसे काम प्रारम्भ हो गये हैं जिससे सब चौपट हो गया है। सुखकी प्राप्ति सम्यक्चारित्रसे होती है। सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे होता है तथा सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है। आगम श्रुतिसे होता है। गणधर देव आगम बनाते

हैं। श्रुति आप्त भगवानसे होती है। आप्त भगवान राग द्वेष रहित होते हैं। ऐसे त्याग रागादिकको समझकर उन्हें छोड़ो। जिसका तुम पूजते हो सो क्या तुम उसके शरीरकी पूजन करते हो या उसके गुणोंमें अनुराग रखते हो। बताइये तो आप भगवानसे बच्चा मागते हो धन मागते हो। क्या उनके पास तुम्हें देनेको रखा है?

वीतराग विज्ञान ही सच्ची बात कह सकता है। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि झूठ बोला जावेगा तो या तो अज्ञानताके कारण या राग-द्वेषके कारण, परन्तु आप्त भगवानमें दोनों चीजें वर्तमान नहीं हैं।

राग-द्वेष न होनेसे ज्ञान कर्मोंकी निर्जरा करा देता है। नेत्रने वस्तुओंका ज्ञान करा दिया, रागद्वेष नहीं होना चाहिये—चलो छुट्टी पाई। कषाय करना बुरा है। आचार्योंने वर्णन किया है कि ये पुत्र मित्र घर धन सम्पति हैं वे सब नरकको ले जानेवाले हैं और उन्होंने यही नरकके दुखोंका वर्णन कर दिया। तो इनसे तो अनिष्ट बुद्धि करवा दी तथा स्वर्गोंके सुखोंका निरूपण किया सो उसमें लाभ बुद्धि उत्पन्न करा दी। भगवानने भी जीवको लोभ उत्पन्न करा दिया, व्यवहार है करें क्या।

बड़े बड़े आचार्य उपदेश देते हैं कि किसीसे बोलना नहीं चाहिये, क्योंकि जिससे हम बोलते हैं वह आत्मा नहीं और जो आत्मा है वह बोलता नहीं। परन्तु वे स्वयं ही बोलते हैं। सो क्या करें मोहका उदय आया उसे तो भुगतना ही पड़ेगा।

बोधरूपी जो रत्न मिला है अगर उसे छोड़ दोगे तो जिस प्रकार समुद्रमें रत्न फेंक देनेसे वह फिरसे प्राप्त नहीं हो सकता उसी प्रकार बोध भी फिरसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अन्तमें निचोड़ करके दिखलाते हैं कि समागममें सब वस्तुएँ

प्राप्त होना सुगम है। राज्य मिल जावे, धन सम्पत्ति मिल जावे, मनके अनुकूल स्त्री पुत्र मिल जावे। एक बोधि ही दुर्लभ है जो बार बार नहीं मिलता।

यदि ज्ञान न हो तो पण्डितोसे सुन लो और अपना कल्याण कर लो, अरे ! यदि लड्डू बनाने नहीं जानते तो उसे खाने तो जानते हो ? भेदज्ञान पैदा करलो—चलो छुट्टी पाई।

भिखमंगोंमें भी मांगनेकी कला होती है। वे इस तरीकेसे मांगते हैं कि हमारे मनमें गुदगुदी पैदा हो जाती है और हम उसे भिक्षा दिये बगैर चैन प्राप्त नहीं करते।

एक समयकी बात है कि हमारे घरके पाससे एक भिखारी आया करता था। वह भइया ! इस तरीकेसे मांगे कि हमें कुछ न कुछ देना ही पड़ता था। एक दिन वह मांगनेको आया। मैंने कुछ उसे दिया। तथा उसे रोककर पूछा—'क्यों भाई, तुम्हारा पेट तो भूखा दिखता नहीं और तुम इस तरहसे क्यों गिडगिडा रहे थे।' वह कहने लगा कि 'यदि हम तरहसे न गिड़गिडाय तो हमें कौन देगा ?' फिर मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई ? तुम्हारे पास कितना पैसा है।' उसने कहा '५०) हैं।' मैंने कहा 'ठीक बताओ'। 'वह कहने लगा '२००) हैं, दो स्त्रियाँ हैं। आरामसे सारा जीमें रहते हैं। आठ दिनको खाना रखा हुआ है। आनंद करते हैं। लेकिन एक बात है कि तुम लोगोंमें विवेक बिल्कुल नहीं।' मैंने पूछा—'क्यों भाई ! क्या बात है। हमने तो तुम्हें खानेको दिया और हमसे ही ऐसा कहते हो ? उसने उत्तरमें कहा—कि 'यदि तुम न देते तो हमें दूसरी जगह मिल जाता। लेकिन कभी कभी जो लगड़ा इस तरफ मांगता है और उसे तुम कुछ न कुछ या बाईजी भी दे दिया करती हैं। परन्तु तुम्हें

क्या मालूम उसके पास २०००) रुपया नगद है। तुम्हें तो पात्र अपात्र कुछ विवेक नहीं है।'

भइया, सच्ची बात पूँछो तो हममें विवेक बिल्कुल नहीं है। अरे हमने कमाया और हम ही उसका उपभोग न कर सके—यह हमारी नादानी है। हम तो मांगते हैं मोराजी पाठशालाके लिये, आश्रमके लिये। हम तो कोई कुछ देता नहीं, तुम्हारा हम तो १) रुपया भी नहीं लेते। अब देना हो तो दो—नहीं देना हो तो तुम्हारी इच्छा।

समयसार

अब यहाँ पुण्य पापके अधिकारका वर्णन है। सच्ची बात पूछो तो भइया ! पाप और पुण्य दोनों ही त्याग हैं। आत्मा तो अगदपिंड है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि पुण्य और पाप दोनों ही बुरे त्याग हैं। न शुभ अच्छा है और न अशुभ बुरा है। ये तो दोनों ही बेड़िया हैं। चाहे सोनेकी हों या लोहे की। परतन्त्रता तो दोनोंमें है। स्वाधीनता किसीमें भी नहीं।

तब क्या करना चाहिये सो बताते हैं कि कुशीलका स्वादा स्वभाव है उससे न तो राग करना चाहिय और न द्वेष ही करना चाहिये। यदि हमने उसमें राग या द्वेष किया तो हमारी स्वाधीनता नष्ट हो जावेगी। लौकिक दृष्टान्त यह है कि यदि कोई स्त्री खोटी है तो उससे न तो राग ही करना चाहिये और न द्वेष ही करना चाहिये। कर्म प्रकृति जब तक है तब तक तो अपने उदय से चारा गतियोंमें भ्रमण करावेगा ही। कर्म तो उपद्रव ही करते हैं। उनमें न तो हम राग करना चाहिये और न द्वेष करना चाहिये। जहाँ हमने ऐसा किया वहींसे निर्जरा और संवर जो मोक्षके कारण हैं शुरू हो जाते हैं।

भइया, मोह है बुरी चीज। रामचन्द्रजी ६ माह तक अपने भाईको गोदमें लेकर मोहमें यहाँ वहाँ पागलसे होकर फिरते रहे और जब उनका मोह गल गया तो सीताजीके जीवने कितने उपद्रव किये, पर फिर क्या था? अन्तमें केवलज्ञान हुआ और मोक्ष गये।

यहाँ इतने आदमी वृद्ध हैं फिर भी वे ससार की चिन्ता करते हैं मोह करते हैं। यह लड़का मेरा है यह पोता मेरा है—इसीमें अपना अमूल्य समय बरबाद करते रहते हैं। वे ही बतावें, इतने दिन तो रहे घरके जंजालमें। मिला क्या उनका सुख सो बतावे। आकुलतामें सुख तो मिल ही नहीं सकता। जरा वे इस ओर दृष्टि करें, थोड़ा यह भी करके देख लेवें। इसमें सुख मिलता कि नहीं। यदि न करें तो बताइये हम क्या करें? हमारा काम तो कहनेका है सो कह दिया। मानो या न मानो आपकी मर्जी। लेकिन इतनी बात जरूर है कि मनुष्य जन्म की सार्थकता धर्मको धारण करनेमें है।

(सागर १।४।५२)

चार

समयसार

यहाँ सवरका वर्णन किया गया है। सवर याने कर्मोंके आनेका रुक जाना है। कर्मोंका न आना ही सवर है।

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं"

इसमें यह भावना की जाती है कि ससारमें किसीको दुख ही न हो। इसी प्रकार कर्मोंका आना होवे ही नहीं। मोक्षका मार्ग

सवर ही है। निर्जरा तो हमेशा होती ही रहती है। पर संवर होना कठिन है। यदि संवर पूर्वक निर्जरा हो तो समझना चाहिये कि समारका अन्त निकट ही है। सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति का जब उदय होता है तब ही संवर होता है। आत्माका ज्ञान पर द्रव्यसे भिन्न है ऐसा निर्णय कर सम्यग्ज्ञान करनेकी आवश्यकता है। इससे हमें सच्ची शांति और सच्चा सुख मिलेगा।

बनारसमें पुराने समयकी बात है। एक बड़ा भारी मल्ल आया, उसने बनारसके सारे मल्लोंको हरा दिया तो राजाको बड़ी निराशा हुई और वह लिखने लगा कि अमुक व्यक्तिने बनारसके सारे मल्लोंको पराजित कर दिया। वहीं एक ६ वर्षीय बालक बैठा था। उसने कहा—'महाराज एक विनन्ती है कहो तो अर्ज करूँ'। राजाने कहनेके लिये कहा। उसने जवाब दिया कि 'आप ऐसा मत लिखिये कि उसने सारे मल्लोंको पराजित कर दिया। उसको यह लिख देना चाहिये कि उसने अमुक अमुक मल्लको पराजित कर दिया। राजाने कहा—'ऐसा कौन है जो इसे हरा सके ?'

बालकने कहा -'महाराजजी। क्या तुम्हीं मल्लोंने सारे मल्लोंका ठेका ले लिया है ? मैं चाहता हूँ इसे हरा दूँ।' पहले तो राजाने उस बालकको समझा लेकिन जब उसकी हठ देखी तो राजा ने स्वीकृति दे दी। ५ दिनके बाद कुश्ती हुई। १ घंटे तक वह लड़का यहां वहाँ कूदता रहा था उसने समयमें उस मल्लको उसने खूब थका दिया। अन्तमें मल्लने उस लड़केको पकड़ लिया और कहा कि बताओ 'कहाँ पटकूँ ?' वह इस विचारमें ही था कि लड़केने उसे पटक दिया और उसपर विजय प्राप्त की। कहनेका तात्पर्य यह है कि संवर करनेका ठेका थोड़े ही किसीने लिखा

लिया है। जिस चाहेका हो जावे। चाहे वह गरीब हो, चाहे धनवान हो। चाहे कमजोर हो चाहे बलवान् हो। चाहे किसी भी गतिका हो। जैनियों ने थोड़े ही जैन धर्मका ठेका ले लिया है? वह तो जीवमात्रका धर्म है।

सम्यग्दर्शन सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके हो सकता है। मिथ्यात्व संसारका कारण है। जब सम्यग्दर्शन हो गया संसार रुक गया, चलो छुट्टी पाया।

क्रोधादि जो चार कषायें हैं उन्हें हम अपना मानते हैं। लोभमें राग करते हैं, द्वेष करते हैं। कुन्दकुन्दस्वामीने आत्माका लक्षण उपयोग बतलाया है। चैतन्य आत्माका लक्षण है और वह हर अवस्थामें मौजूद रहता है। आत्माका लक्षण क्रोध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि क्रोध आत्माका लक्षण होता तो उसे हर अवस्थामें मौजूद रहना चाहिये, पर वह रहता नहीं है। इससे मालूम पड़ता है कि क्रोध आत्माका लक्षण नहीं है। क्रोध पृथक् है, उपयोग पृथक् है। क्रोधमें क्रोध ही होता है उपयोग नहीं होता और जो उपयोग होता है उसमें क्रोध नहीं होता। दोनों एक दूसरेके प्रतिकूल हैं परन्तु उपयोग आत्माकी वस्तु है और क्रोध कर्मका औदयिक भाव है जबतक कर्मोदय है उसकी सत्ता है। जब उसका उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जावे तब क्रोध दूर हो जाता है। लेकिन उपयोग न तो कर्मके उदयसे होता है और न क्षय क्षयोपशमसे। वह तो आत्माका अभिन्न लक्षण है।

जब कर्म और कषाय तुम्हारी नहीं है तो फिर उन्हें अपना मानकर क्या उपद्रव कर रहे हो? यदि हमारी वस्तु हो तो मानना चाहिये अन्यथा काहेको पागल बने हुए हो। देखिये दर्पणके सामने कोई वस्तु आती है तो वह उसमें ज्योंकी त्यों प्रतिबिम्बित हो जाती है। यदि उस प्रतिबिम्बको दर्पणका प्रतिबिम्ब माने तो

वस्तुके हटाये जाने पर उस प्रतिबिम्बको उस दर्पणमें रहना चाहिये, पर वह उसमें नहीं रहती इसलिये मालूम पड़ता है कि वह प्रतिबिम्ब दर्पणका नहीं है। इसी प्रकार क्रोधादि जो कषाय हैं वे भी कर्मके उदयसे होते हैं वे आत्माका लक्षण नहीं हैं। एक चीज दूसरे की नहीं हो सकती है। एककी सत्ता दूसरेकी सत्तामें नहीं हो सकती। ज्ञानमें क्रोधपना नहीं है। क्रोधमें ज्ञानपना नहीं है। इस वास्ते ये भिन्न हैं। भेदज्ञान हो जानेसे जब शुद्धात्माका अनुभव जीव करने लगता है तब रागद्वेषका सवर हो जाता है। हम पर पदार्थोंको अपनी चीज समझकर संसारमें रुल रहे हैं। आत्मामें अनन्त गुण हैं ये भी पृथक् पृथक् माने जाते हैं तब फिर दूसरी चीजें हमारी कैसे हो सकती हैं। सम्यग्दृष्टिको कैसा ही विपत्ति आ जावे तो भी वे आकुलताको प्राप्त नहीं करते। जब भेदज्ञान हो गया और मनमें यह निश्चय हो गया कि मैं ज्ञान दर्शनका पिंड हूँ। स्वर्णको कितनी ही तेज अग्निमें जला दो परन्तु वह अग्निमें भी सोना रहेगा उसी प्रकार प्रचंड विपाक कर्मका उदय होने पर यह ज्ञानमें विकृति नहीं ला सकता। हजार कारण कलाप जुट जावें परन्तु स्वभाव कभी नहीं मिट सकता। यदि वस्तुका स्वभाव मिट जावे तो वस्तु ही मिट जावे। हजार विरुद्ध कारण जुटें तो भी हमें घबड़ाना नहीं चाहिये। समझना चाहिये कर्मका विपाक आया सो ऐसा देखना पड़ा और सहना पड़ा। देखिये जब मोहनीय कर्मका उदय रहने बड़े महापुरुष आया जो इसी भवसे मोक्ष जानेवाला था, अपने भाईके प्रेममें पागल हो गया और ६ माहतक उसकी मृतकायाको लिये यहाँ वहाँ भटकता रहा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हम पढ़ते थे और बाईजी वहीं थीं। एक दिन एक बंगाली विद्वान आया। हमने कहा कि बाईजी

क्या कर रही हो ? बाईजीने कहा—कि 'भइया ! रोटी बना रही हूँ। मेरा बच्चा पढ़नेको गया है उसे खिलाऊँगी और मैं खाऊँगी।' वह इतना सुनकर चला गया। पासकी कोठरीमें वह अकेला ही ठहरा था, फिर भी वह कहने लगा कि 'तूँ भी रोटी बना अपने बच्चेको खिला—देख ये भूखे हैं। बना जल्दी रोटी बना।' बाइजीने सोचा कि इसके साथ तो कोई औरत है नहीं यह किससे रोटी बनानेके लिये कह रहा है। उन्होंने पूछा कि 'क्यों जी ? किससे रोटी बनानेका कह रहे हो ?' उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं अपनी स्त्रीकी फोटोसे कह रहा हूँ।' बाईजीने कहा कि 'मूर्ख तू इतना भी नहीं जानता कि कभी अजीव भी रोटी बनाता है।' 'सो तो मैं भी जानता हूँ'—उसने कहा।

तो कहनेका तात्पर्य यह है कि हम समझते हैं कि ऐसा करना बुरा है तो भी हम उसे धकाये चले जाते हैं। यह कल्याणकारी बात नहीं।

सम्यग्दृष्टि यह समझते हैं कि जितने ये पुत्र पौत्रिक हैं वे सब अन्य हैं। आत्मज्ञान नहीं होनेसे हम सब पागल होरहे हैं। प्रचण्ड कर्मका उदय हो तो हमें भुगतना पड़ेगा। सम्यग्दृष्टि जीव प्रचण्ड कर्मके उदय होनेपर न द्वेष करता है और न राग करता है।

शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेका कारण भेदज्ञान है। पन्नालालजी बहुत लोभी द्रोही आदमी थे पर ज्ञानवान थे सो उन्होंने अन्त में मुनि अवस्था प्राप्त करली थी। ज्ञान कभी न कभी कामसें आ ही जाता है।

काम तो सब करना ही पड़ता है पर अभिप्राय वही रहता है। निर्मल भाववालेके ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव होता है। रागद्वेषकी सत्ताका निरोध होजाता है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो जाती है।

योग दो प्रकारके होते हैं (१) शुभयोग (२) अशुभयोग। यदि दोनो ही मिट जावें तो मोक्ष हो जावे। योग जबतक है तबतक शुभ और अशुभ योगके मूल कारण रागद्वेष हैं। इसमें वर्तमान जो आत्मा है उसको दृढ़तर भेदविज्ञान है अतः उससे आत्माको आत्माके द्वारा आत्मासे रोके।

भइया! घोड़ेकी लगामको पकड़कर दूसरी दिशा बदलनेके लिये पहले लगाम खींचनी पड़ती है। उसे फिर दूसरी ओर मोड़ना पड़ता है। इसीप्रकार पर पदार्थोंकी तरफसे मनको रोककर फिर शुद्धज्ञान दर्शनकी ओर मुड़ना चाहिये। जो मनुष्य समस्त कषायोंसे निर्मुक्त होकर आत्मामें तल्लीन होते हैं उनके कर्मका बन्धन नहीं होता है।

कषाय रुक जावे तो योग अपने आप रुक जावे। कषाय नष्ट हो जाती है परन्तु योग वर्तमान रहता है तो भी उसमें कर्माभावकी शक्ति नहीं रहती। योग तो मिथ्यादृष्टिके रहता है और सम्यग्दृष्टिके भी रहता है। परन्तु कषाय सहित योग होनेसे मिथ्यादृष्टि कषाय रहित होकर केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं। पर उसके रहनेसे जगके कल्याणार्थ उपदेश देते फिरते हैं।

आदिनाथ भगवानके दो स्त्रियाँ थीं और १०० लड़के थे। परन्तु जब तपस्याके हेतु घरसे बाहर निकल पड़े और केवलज्ञान होगया तो इसके उपरान्त दुनिया भरका परिग्रह रचा गया। समवशरणकी रचना की गई पर मोह न होनेसे उतनी वस्तुयें कुछ न बिगाड़ सकीं।

कर्मके अभावसे युक्त यह आत्मा स्व आत्मामें ही विचरण करता है। आत्मा पर पदार्थसे भिन्न है। चैतन्य चमत्कार युक्त आत्मा सब पर पदार्थोंको त्याग देता है तो वह शीघ्र ही कर्म नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करता है।

यदि मिथ्यात्व होगा तो कर्म होगा और इसके विपरीत यदि सम्यग्दर्शन होगा तो न कर्म होगा न राग होगा और न संसार ही होगा।

भेदविज्ञानकी तबतक साधना करो जबतक कि ज्ञान ज्ञानरूप न हो जावे। जो सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानके द्वारा ही और जो असिद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावके कारण। शुद्ध आत्माकी उपलब्धि करके संवर होता है तथा भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है।

भेदविज्ञानसे राग-समुद्र शान्त हो जाता है यदि हे भव्य जीवो! तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो भेदविज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो।

भाइयो! कल्याणका जो मार्ग आचार्योंने बताया है, उस मार्गका आप अवलम्बन करते नहीं हो। विभूतिकी विडम्बनाको प्राप्त कर रहे हो। आप स्वयं तो समझते नहीं दूसरेको समझाते फिरते हो।

अगर आध्यात्मिक विद्या न पढी जावे तो आत्माकी सच्ची शान्ति व सुख प्राप्त नहीं हो सकता। विद्यासे चमत्कार देख लो। साइन्सने ऐसे चमत्कार कर दिये जिन्हें हम मानते हैं, समझते हैं, पर क्या जनता सुखके मार्गपर है? मुझे तो मालूम है कि जैसे परिग्रहकी वृद्धि होती है वैसे ही आकुलता बढ जाती है। और जहाँ आकुलता रहती है वहाँ सुख हो ही नहीं सकता। आत्माका कल्याण आध्यात्मिक विद्यासे ही हो सकता है। यदि हम आज अपनेको देखने लगें तो हमें संसार दिखने लगे। अपना हित करो संसारका हित हो जावेगा। पर हम ऐसा करते नहीं हैं। हमारी तो ऐसी प्रकृति होगयी है कि हमें बिना दूसरेकी

आलोचना किये चैन नहीं पड़ता। समस्त प्राणियोंमें ममता भाव धारण करो समताभाव सम्पूर्ण आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण है।

राज्य तो वह कहलाता है जिसमें धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ अविरोध रूपसे चल रहे हों।

धर्म उसे कहते हैं जिससे स्वर्ग व मोक्षकी प्राप्ति हो। इसके विरुद्ध जो फल देवे वह अधर्म कहलाता है।

अरे हाय रे हाय! जैनोंकी बड़ी दुर्दशा है। क्या करें सब जातिवाले बड़ी बुरी निगाहसे देखते हैं—ऐसा हम कहते हैं परन्तु हम तो दावेके साथ कहते हैं कि यदि आप अपने धर्मकी आज्ञाका पालन करो। बुरी दृष्टिसे देखना तो दूर रहा सारा संसार तुम्हारे पैरोंपर गिरेगा तुम्हारी पूजा करेगा।

भाई! उसीका प्रभाव पड़ता है जो नियम कर लेता है। हमारा मोह तो क्षीण नहीं हुआ। हमारा आप पर कैसे प्रभाव पड़े? और आप कैसे मोह छोड़ें।

यदि हम किसी भी नियमपर अमल करने लगें तो हम दूसरेको अमल करनेके लिये कह सकते हैं अन्यथा नहीं।

इसके बाद १२ भावनाओंका वर्णन इसमें है। कहते हैं कि हे भव्य! भावशुद्धिके लिये भावनाओंका चिंतन करो। हम और आप रातदिन मोह कर रहे हैं। हम अपने बच्चोंको पढ़ाते हैं—

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एकदिन अपनी अपनी बार॥

६-६ वर्षके बच्चोंको तो पढ़ाते हैं पर जो हमको पढ़ना चाहिये सो हम पढ़ते नहीं। हम ख्याल नहीं करते और अपनेमें बच्चोंको चिपटाये रहते हैं। द्वादशानुप्रेक्षा मुक्ति मन्दिरकी सीढ़ी है।

सबसे पहले अनित्य भावनाका वर्णन किया गया है। हम इन्द्रियोंके सुखोंमें लीन हैं। विचार किया जावे तो संसारमें जितने सम्बन्ध हैं वे सब विपत्तियाँ ही हैं और सबकी सब नीरस हैं उनमें कोई रस नहीं।

एक समय एक साधुके पास एक बच्चा पढ़ता था वह बहुत ही भक्ति किया करता था और रोज आया करता था। कुछ कालके उपरान्त उसकी सगाई हुई और वह २४ रोज पढ़ने न आ पाया तथा जिस दिन वह वहाँ गया तो साधुने पूँछा क्यों भाई कहाँ गये थे?' उत्तर दिया—'महाराज आपकी सगाई थी।' साधुने कहा-'बेटा, हमारेसे गया।'

थोड़े दिनों बाद उसकी शादी हुई। सो १०-५ दिन फिर साधुके यहाँ नहीं गया। जिसदिन वह साधुके पास पहुंचा तो साधुने पुनः पूंछा !—'क्यों बच्चे कहाँ गये थे।'

उसने कहा—'महाराज आपकी शादी थी।'

महाराजने कहा—अपने माता पितासे गया।

कुछ दिनों बाद उसके बच्चा हुआ तो साधु ने कहा—'अब तू अपनेसे ही गया।'

फिर अपने शरीरको छोड़कर अपने बच्चोंकी चिन्ता होने लगती है। अपना कल्याण करो! कहाँ के लड़के कहाँ के बच्चे?

शरीर रोगोंका मंदिर है। जरा यौवनका घर है। जीवनका मरण होता ही है। जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मौतको प्राप्त होगा। जो पदार्थ पुण्योदयसे आते हैं ये पाप होनेसे विलयमान हो जाते हैं। एक घंटेमें २५०००) का लाभ हो जावे या घाटा पड़ जावे। तत्त्वदृष्टिसे विचार करो ये न पहले तुम्हारे थे और न अब भी तुम्हारे हैं। यदि ऐसा निश्चय हो जावे तो न दुख हो और न सुख।

जिस समय रावण मरने लगा तो रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—कि 'रावण सबसे बड़ा नीतिज्ञ है जावो कुछ शिक्षा ले आवो।' लक्ष्मण गये और रावणके सिरहाने बैठकर पूछने लगे परन्तु रावणने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

लक्ष्मण लौट आये। रामचन्द्रजीने फिरसे कहा कि जाकर उसके पैरोंके पास बैठकर पूछना। लक्ष्मण गया और उसने पूछा तो रावणने उत्तरमें कहा—

'करले सो काम, भजले सो राम।'

स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि मरनेके पूर्व मैंने विचार किया था कि मैं नरकसे लेकर स्वर्गतक सीढ़ी बना दूँगा तथा समुद्रके पानीको मीठा कर दूँगा। पर जो काम हो जावे सो ही काम है।

(सागर २।४।५२)

पांच

ज्ञानार्णव

ऋण चुकानेके दो रास्ते हैं। एक तो ऋण लेवे नहीं और प्राचीन कर्ज चुका देवे। इसी प्रकार संवर कर्मोंके आनेको रोक देता है। प्राचीन कर्म रहे सो खिर जावेंगे।

शीतकाल था। मैं और मेरे कुछ अन्य सहपाठी रुई भरानेके लिये बाजारमें गये। बनारसकी वार्ता है यह। सो सबके लिये तो भरनेके लिये नौजवान मिल गये परन्तु मेरे हिस्सेमें एक बूढ़ा आदमी पड़ा। मैंने कहा—'अरे तुम नहीं भर सकते बूढ़े आदमी हो। हमारे सब साथी चले जावेंगे। हम तो तुमसे नहीं भरवाते।'

उसने उत्तर दिया—'अरे घबड़ाते क्यों हो? उन सबसे अच्छा और जल्दी तुम्हें दे दूँगा तुम चिन्ता न करो।' सबने तो एक बारमें सब रुई धुनक डाली, पर बूढ़ेने तो एक एक छटाक करके धुनकी। अन्तमें सबसे पहले बस बूढ़ेने वह रुई धुनकी और वह रुई सबसे अच्छी धुनकी गई। उसने मुझसे कहा—'कुछ समझे कि नहीं या पूरे मूर्ख ही हो।' मैंने कहा—'मैं सब समझ गया 'तुम अपनी एक-एक छटाक धुनक करके काम करनेकी चिन्ता कम करते गये और उन्होंने पूरी ही धुनकी और फिरसे पूरी ही धुनकी। इससे उनको पूरेकी ही चिन्ता रही।'

इसी प्रकार जब हम कर्मोंका संवर कर लेते हैं तो एक चिन्तासे निर्वृत हो जाते हैं फिर हमें सिर्फ निर्जरा ही करना पड़ती है सो वह भी हम कर लेंगे।

रागादिकको रोककर जिसने ज्ञानकी धुरी धारण करके संवर कर दिया वह अब प्राचीन कर्मोंका नाश करनेके लिये निर्जरा करनेके लिए उद्यत होता है।

संवर कहाँसे होता है इसको बताते हैं। वीतरागी चेतन व अचेतन दोनोंका उपभोग नहीं करता है। उपभोगका अर्थ है—रुच जाना। जैसे तुमने किसी पदार्थको खाया तो तुम्हें जिह्वासे उस पदार्थका स्वाद आया। तुमको रुच गया सो तुम उसमें राग करने लगे। मुनिने भी उस पदार्थको खाया और जिह्वा इन्द्रियसे उसके रसास्वादनका ज्ञानोपार्जन किया परन्तु उन्होंने उसमें राग बुद्धि नहीं की। वह समझते हैं कि सिर्फ शरीरकी स्थितिके लिये उन्हें ऐसा करना पड़ा। क्योंकि कहा है—

"शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

मन्दिरमें हम भी जाते हैं, ...

सबसे अधिक समय लगाता है लेकिन भक्त हम ही कहलाते हैं, माली नहीं। परिणामोंकी अपेक्षासे यह व्यवहार होता है। यदि हमें धर्म रुच गया तो समझना चाहिये कि हमारा कल्याण हो गया।

बन्धका कारण राग-द्वेषकी परिणति है। पदार्थके उपभोगमें दो बातें होती हैं। जब सातावेदनीयका उदय होता है तो पदार्थ रुचिकर प्रतीत होनेसे सुखानुभव होने लगता है। कभी कभी वे ही पदार्थ असातावेदनीयके उदयसे अरुचिकर प्रतीत होनेसे दुखानुभव होने लगता है।

ज्ञानमें तो सुख दुख दोनों हो आवेंगे। परन्तु चूँकि उपयोग बन्धका कारण नहीं, बन्धका कारण मोह है। जहाँ उपयोगके समय मोहका सहयोग मिला वहीं पर नवीन कर्मका बन्ध हो जाता है।

असातावेदनीयके उदयमें यदि किसीको दुख हुआ। यदि अब यह अपने सक्लेश परिणाम करेगा तो उसे नवीन कर्मबन्ध होगा और यदि समता धारण की तो उसे संवर होगा।

दीपचन्दजी सुनाया करते थे कि मारवाड़में एक बुढ़िया थी। उसके ७ लड़के थे। वे बहुत ही सुन्दर और आज्ञाकारी थे। आयुपूर्ण होनेसे बड़े लड़केका स्वर्गवास हो गया। उस बुढ़ियाने बहुत ही विलाप किया। दिन रात रोती रहती थी। लड़कोंने बहुत समझाया कि हम तुम्हारी सेवा करेंगे, और यदि तुमने विलाप करना नहीं छोड़ा तो अवश्य हम सब भी मर जावेंगे। दैवात् सब मर गये।

आचार्योंने तो यह निरूपण किया है कि कर्मके उदयसे होनेवाले पर पदार्थोंका उपभोग करलो, पर उनमें न तो विषाद ही लाओ और न उनमें सुख ही मनाओ। बन्धका कारण कषाय

है। बन्धके जो अनुभाग और स्थितिभेद किये गये हैं कषाय पर निर्भर है। तीव्र कषायमे तीव्र अनुभाग एव स्थिति कर्म बन्ध होगा।

अभी किसीको यदि कोई विषैला जीव जन्तु काट खावे तो मन्त्रमे ऐसी ताकत है कि वह उसे दूर कर देता है। इसी प्रकार ज्ञान भी एक ऐसा मन्त्र है जिससे मोह राग और द्वेषरूपी कर्म क्षणमे ही नष्ट कर दिया जाता है। कई वस्तुएँ ऐसी देखनेको हमे मिलती हैं या हमें भुगतना पड़ती हैं जिन्हें हम नहीं जानते लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपयोग करते समय आत्माका सन्तुलन ही खो दिया जावे।

धर्मका फल तो मीठा रहता है पर धर्मकी रक्षा करना बड़ा कठोर है। देखिये तो आज सुबह खाया फिर अपना पेट खाली हो जाता है। क्या विचित्र लीला है? रोज रोज यहाँ आनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अरे! एकदिन समझ लो और अपने कल्याणमे लग जाओ।

जो तुम इतरको द्रष्टा मानते हो उसको छोड़ अपनेको ही द्रष्टा समझो। तू न तो शरीर है और न किसी जातिवाला है। तू ही ज्ञाता है, तू ही द्रष्टा है। भूल छोड़ दो आज कल्याण हो जावे।

ज्ञान और वैराग्यकी ताकत ये दो चीजें ही तुम्हारा कल्याण कर देंगी। कोई मनुष्य मद्यपान कर लेता है और वह पागल हो जाता है। ऐसे समय यदि दवाई खा ली जावे तो नशा दूर हो जावे, चलो छुट्टी पाई।

सम्यग्दृष्टिके तीव्र विरागी भाव होनेसे ज्ञानीको नवीन कर्म बन्ध नहीं होता। प्रमादी भी नहीं होना चाहिये। भीतर हृदयका अभिप्राय ठीक रखो। भइया, अध्यापक लड़केको मारता है तो

लड़का कहता है—'अच्छा मारा'। उसका मस्तक कहता है—'अच्छा मारा' क्योंकि उस अध्यापकका अभिप्राय उस लड़केको पढ़ानेका है।

सम्यग्दृष्टिको भी सब भुगतना पड़ता है। मोहसे मुनि अपने पास पिछी रखते हैं। वहाँ जीवोंका घात न हो जावे—यह मोह रहता है।

जब मोह नष्ट हो जाता है तो कोई बुराई पैदा नहीं होती। देखो तो हम नित्य प्रति पुद्गलकी पर्यायोंको बुरी अवस्थामें ला रहे हैं। सुन्दर २ पदार्थ मल मूत्र और अन्य पर्यायोंमें बदल रहे हैं। यह सब तुम्हारे ही दोषोंका परिणाम है। जब परिहारविशुद्धि हो जाती है तो शरीर ऐसा हो जाता है कि भोजन भी करते हैं तो भी मलमूत्रका परिणमन नहीं होता है। इससे ज्ञात होता है कि शरीरमें मोह न होनेसे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही विषय सेवन कर रहे हैं पर एकको फल प्राप्त नहीं होता और एकको होता है। ज्ञान वैभव एवं विरागताका बल है। सेवन करते हुए भी असेवक है, क्योंकि वे उदासीन हैं तथा पदार्थके स्वरूपको जानते हैं।

अन्तरंग आसक्ति न होनेसे सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता और मिथ्यादृष्टि न सेवन करते हुए भी बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान व चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्मा में स्थित होता हुआ रागसे विरक्त होता है। सामान्य व विशेष प्रकारसे कर्मका उदय होता है और हमें सुख व दुख देनेवाली विविध प्रकारकी सामग्री प्राप्त होती है। पर सम्यग्दृष्टि यह समझता है कि मैं यह नहीं हूँ मैं तो ज्ञाता और दृष्टा हूँ। किसी वस्तुके बिछोहमें या भगवानकी मूर्तिके खण्डन होने पर हम दुखी होते हैं। तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो हमें वस्तुसे कोई भी

प्राप्त नहीं होता बरन हम अपने मोहसे ही दुखी होते हैं। मोहका बड़ा बाहिजात ठाट है। यदि मोह मिट जावे तो सब मिट जावे, आत्माका असली आनन्द प्राप्त होने लगे। हमारा ज्ञान है उसमें तो सब पदार्थ भलकेंगे, इसमें मोह क्यों करते हो। मोहसे उस पदार्थको अपना मान लेते हो—यही तो गलती है। यदि यह गलती सुधर जावे तो कल्याण होनेमें कोई विलम्ब नहीं।

वर्तमान कालमें जल गर्म है पर उसका स्वभाव गर्म नहीं है वह तो स्वभावतः शीतल है। पर अग्निके संयोगसे गर्म हो गया है। गर्मीको मिटानेका प्रयत्न किया जावे और वह दूर हो जावे तो जलका जो स्वभाव शीतलता है वह प्रगट हो जावेगा।

आत्मामें जो औदयिक परिणाम हैं उनको सहते हुए राग द्वेषको मिटानेकी कोशिश करो।

ये रागद्वेष तो ठीक हैं क्षायोपशमिक ज्ञान भी तुम्हारा रहनेवाला नहीं है।

भइया! यह बात तो जरूर है कि हम मोह वगैरह को दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, क्योंकि ये बुरे हैं। इनसे आकुलता प्राप्त होती है। पर हम ज्ञान को मिटाने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि इससे हमें दुख नहीं होता। दुख देनेवाली असली चीज तो मोह है। ज्ञानमें जो चीज आवे सो आवे, उससे हमारा कोई बिगाड़ होनेवाला नहीं है पर उसमें रागद्वेष नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि राग-द्वेषका त्याग करता है। वह समझता है कि राग-द्वेष हमारा नहीं है वह तो कर्मोदयसे हुआ है। हम तो इससे बिल्कुल पृथक् हैं। यह तो मिटनेवाली चीज है इसे मिटाना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टिके नियमसे सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्माको जानता हुआ औदयिकभाव को छोड़ता है। मन्दिरमें बैठकर भी हमने यदि अपना राग नहीं

छोड़ा तो सब व्यर्थ है। हम अरिहंतका नाम लेते हैं पर जरा उसके अर्थ पर तो विचार कीजिये।

'अ' का अर्थ होता है अरि याने मोहनीय कर्म। 'र' का अर्थ होता है रज याने अज्ञान, अदर्शन व अंतराय। 'हंत' का अर्थ मारनेवाला। जिसने मोहनीय ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय इन ४ घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है वे ही अरिहंत कहलाते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोणसे हम उनका पूजन करते हैं लेकिन् उनके गुणोंको प्राप्त करनेका हम प्रयत्न नहीं करते—यही हमारी कमजोरी एवं मूर्खता है।

मनुष्य जब राग, द्वेष, मोह छोड़ देता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है। उन्हें छोड़नेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, जब उनको वह पर पदार्थ समझने लगता है तब उनमें हेय बुद्धि तो हो ही जाती है।

राग, द्वेष, मोह और कषाय ये छोड़ने योग्य हैं। सामान्य व विशेष भावोंसे पृथक् होकर केवलज्ञान व वैराग्यको ही अपना स्वभाव मानना सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है।

सम्यग्दृष्टिको मकान तो मिल गया। अब तो उसके कूड़े कचड़ेको झाड़कर साफ करनेकी आवश्यकता है।

जो मोहाग्नि है वही तो कूड़ा कचड़ा है।

सम्यग्दृष्टिने, जो कर्म व कषाय उसे डुबो रहे थे, उन सबको दूर कर दिया है। जिस तेज अग्निसे वनको भस्म कर दिया वह तो शेष कूड़ा करकटको शीघ्र ही नष्ट कर देगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही अज्ञान, राग, द्वेष और मोहको नष्ट कर सकता है।

जो लेशमात्र भी राग-द्वेषको माने वह अपनी आत्माको नहीं जान सकता है। जो आत्माको नहीं जानता वह जीव अजीवको

नहीं जान सकता और जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त कर सकता है ?

जबसे यह संसार है हम हरएक पदार्थमें पागल हो जाते हैं और उसे अपना मान बैठे हैं। एक पर्यायमें आये तो दूसरी पर्यायको भूल जाते हैं। यथार्थमें ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं अपनी नहीं हैं। ये तो पुद्गल परिणमन है। समयको कोई रोक नहीं सकता। हम तुम तो ठीक ही हैं तीर्थंकर पद तक तो रुका नहीं। यदि तुम्हारा ही पद है तो रख लो उसे अपने पास बन जाने। लेकिन रहता नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि ये शरीर धन ऐश्वर्य आदि हमारे नहीं हैं। हमारा तो जो स्थायी भाव ज्ञान है वही है।

भईया, एक बुढिया थी उसके ३ लड़के थे सो एक दिन एक पड़ोसीने विचार किया कि किसीका निमंत्रण किया जावे। उसने बुढ़ियासे आकर कहा—कि छोटे लड़केका नेवता किये जाता हूँ। बुढियाने उत्तर दिया कि भाई किसी का भी नेवता कर जावो हमें कोई उज्र नहीं पर इतना अवश्य है कि तीनों ही ३-३ सेरका खानेवाले हैं। इसी प्रकार चाहे किसी भी भावनाका चिन्तन करो बात एक ही है।

भाव बहुतसे पैदा होते हैं। शांत परिणाम कभी होते हैं और कभी क्रोध रूप परिणाम हो जाते हैं। परन्तु ये स्थिर परिणाम नहीं हैं। इससे यह आत्माका स्वभाव नहीं हो सकता। मोह, कषाय, राग, द्वेष आत्मामें होवें परन्तु ये हैं अस्थायी ही। ये हमेशा टिकनेवाले नहीं हैं। ज्ञानभाव ऐसा है जो आत्मामें नित्य है—अव्यभिचारी है।

ज्ञानमें कोई विपत्ति नहीं है, मोह नहीं हो तो कोई उपद्रव नहीं हो सकता। जहाँ दो वस्तुएँ होती हैं वहीं तो झगड़ा पैदा

जाती है। यदि शुद्ध दाल ही बनाई जावे तो उसमें कोई उपद्रव नहीं और यदि उसमें नमक मसाला डाला जावे तो कभी तीखा और कभी खारा ऐसी विशेषताएँ हो जाती हैं।

चिन्ताका विकल्प सब बिगाड़ करते हैं। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जिस मनुष्यके जितनी कम चिन्ता होगी वह उतना ही सुखी होगा।

बुढ़ियाका एक लड़का था। वह उसे खूब खिलाया करती थी। उस लड़केको कोई चिन्ता नहीं थी। वह आरामसे रहता था और खेला करता था। वह शरीरका काफी मजबूत था। उसके घरके सामनेसे राजाका हाथी निकला करता था। जब कभी वह लड़का हाथीकी साकल पर लात रख देता था, हाथीकी यह मजाल न थी कि वह आगे बढ़ सके। हाथीको चिन्ता हुई कि हमसे बलवान आदमी यहाँ मौजूद है और वह कमजोर होने लगा। यह देखकर राजाने उसके कमजोर होनेका कारण ज्ञात किया और उस लड़केको राजदरबारमें बुलाया।

उससे कहा—'हमारे यहाँ नौकरी करोगे ?'

उसने उत्तर दिया—'हमें क्या करना है नौकरीका, हम तो आरामसे रहते हैं। हमें तुम्हारी नौकरीकी आवश्यकता नहीं।'

राजाने कहा—'अच्छा इतना काम करना कि तुम्हारे घरके पास जो मंदिर है उसमें एक दीपक रख देना। हम तुम्हें ५००) माहवार देंगे। ये लेते जाओ रुपये।'

लड़केने सोचा कि इतने रुपये मिल रहे हैं और थोड़ा सा ही तो काम है। उसने रुपये ले लिये और बड़ी खुशीके साथ घर आया।

जब वह लड़कोंके साथ खेल रहा था तो उसके मनमें यह चिन्ता पैदा हो गई कि दीपक जलाना है। दूसरे दिन जब उसने

हाथीकी जंजीर पर अपना पैर रखा तो हाथी उसे खींच ले गया।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जब चिन्ता हो जाती है तो शरीर का बल अपने आप कम हो जाता है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो चिन्ताको छोड़कर आत्मामें लीन रहो। अपनी समालोचना करो तो कल्याण हो जावे। उसकी तरफ अभी अपनी दृष्टि नहीं गई। दुनियाका यदि भला चाहते हो तो पहले अपना भला करो।

मोक्षका साक्षात् उपाय ज्ञान है। जिस प्रकार बादलोंमें सूर्य छिपा रहता है तब प्रकाश नहीं रहता पर जैसे जैसे वह घनपटल से दूर होता है वैसे ही ज्ञानके उदयसे आत्माका अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। कर्म पटलसे यह आत्मा आच्छादित है। जैसे जैसे कर्मपटल दूर होंगे वैसे वैसे आत्माका विकास होगा। कर्म-पटल दूर करनेके लिये हमें ज्ञानको हासिल करना चाहिये।

अनन्त पर्यायोंको यदि नहीं जानते हो तो कोई नुकसान नहीं। भेदज्ञान हो जावे तो सन्तोष करो—इससे अधिक समय शरणमें क्या मिलेगा? हम अपने शरीरको कष्ट दें—तप करें, महातप करें और यदि ज्ञान नहीं हो तो हमारा कल्याण नहीं होगा। सतत ज्ञानका अभ्यास करो—इतना ही इसका तात्पर्य है।

समयसार—

संसार स्थिर नहीं है। न भाग्य किसीका साथी होता है। जिसको सुबह राज्याभिषेक होना था, क्या मालूम था कि उसे सुबह जंगलको जाना पड़ेगा।

एक लड़कीकी शादी हुई। सो भाँवरके समय लड़की सो गई। उसकी माताने आकर उसे जगाया। जागकर उसने

अपनी मातासे कहा कि मैंने स्वप्नमें देखा है कि मैं विधवा हो गई हूँ। माताने उत्तर दिया कि इस अवसर पर ऐसे अशुभ विचार नहीं करना चाहिये। भाँवरको जब लड़का आया तब उस समय उसका सिरदर्द करने लगा, परन्तु समय चूक रहा था इसलिये लोगोंने उसकी भाँवर पड़वा दी। सुबह उसका देहान्त हो गया। क्या होना था, क्या हो गया। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठती हैं उसी प्रकार कर्मके उदयसे हमारी पर्यायें बदलती रहती हैं। इन पर्यायोंको हमें अपना नहीं समझना चाहिये।

आयुको कोई रोकनेवाला नहीं, जब किसीकी मौत आ जाती है फिर उसे बचानेमें कोई समर्थ नहीं। परन्तु हम इतना तो कर सकते हैं कि आयु ही न मिले।

यौवन और धन स्वप्नके सदृश है। जब नींद खुले तब ही सारा मजा किरकिरा हो जाता है। इसी प्रकार जबतक शुभ कर्मका उदय है तबतक यह सुख है। नहीं तो एक क्षणमें विलय जाता है।

द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ स्थिर हैं। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ अस्थिर हैं। इसलिये पर्यायमें जो चीज प्राप्त हुई है उसका अभिमान करना व्यर्थ है।

(सागर ३। ७। ५२)

छह

समयसार

यदि मोक्षकी इच्छा है तो ज्ञान गुण प्राप्त करो। यदि जीव ज्ञानसे रहित है और वह बहुत-सी क्रियाएँ भी करे तो भी उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्षमें जीव विषयसे विरक्त हो

जाता है। यदि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आनन्दका अनुभव हो तो समझना चाहिये कि संसार है और यदि आनन्द नहीं आवे तो मोक्ष है। बस इतना ही विज्ञान है। यदि मोक्ष-प्राप्तिकी आकांक्षा है तो विज्ञान प्राप्त करो। ऐसा कौन मूढ है जो यह नहीं समझता कि ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं, इससे विरक्त होना ही मोक्षका कारण है। हम इन विषयोंमें ऐसे फसे हुए हैं कि न तो माता पिताको समझते हैं और न धर्मका आचरण करते हैं। ये तो सब ठीक ही है, हम स्वयंको भी नहीं गिनते।

बनारसमें जब हम पढ़ते थे, उस समय पारसके नाटक सर्व प्रिय थे। वहाँ 'हजीरे हिसर' नाटक आया। हमारे शास्त्रीजी ने कहा—'नाटक देखने चलो, अच्छा नाटक आया है।'

हमने कहा—'शास्त्रीजी, आपने तो पुस्तकोंके सिवाय कुछ देखा नहीं, आपको क्योंकर इच्छा हुई? और फिर वहाँ हम ≈) ।) के टिकट पर जा नहीं सकते। वहाँ तो बीड़ी फीड़ी पीते हैं। हमें वह धुआँ बहुत बुरा लगता है। हम तो २) रुपयाके टिकट पर चलेंगे पर हमारे पास तो पैसा है नहीं।'

शास्त्रीजीने उत्तर दिया—'चलो, तुम्हें हम ऊँचे टिकट पर ले चलेंगे और टिकटके पैसे हम दे देंगे।'

हम देखनेको गये। वहीं हमारे पास एक आदमी बैठा हुआ था। उसने एक कागज पर कुछ लिखा और सामने जहाँ रानी अपना पार्ट कर रही थी उसके पास फैंक दिया। रानी का पार्ट एक स्त्री ही कर रही थी। उसने उस कागजको उठाया और उसे पढ़ा। फिर उस कागजके कई टुकड़े कर पैरोंसे मसल दिया।

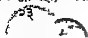
जब मनुष्यने यह देखा तो उसने छुरा निकाला और अपनी आत्महत्या करली। उसने कुछ विषय सम्बन्धी ही बात लिखी

त्ागी। और उसकी अवहेलना देखकर अपने प्राणान्त कर लिये। ससारके दुखके कारण इन्हीं विषयोंकी आसक्ति है।

विषयमे जो रस है, वही ससार है। विरस ही मोक्ष है। यहीं देख लो, दूर जाने की आवश्यकता नहीं। अभी, इसी समय साक्ष देखने को मिल जावे।

मनुष्य सब क्रियाओंको कर डाले, महातप भी सहन कर ले, लेकिन ज्ञान यदि न होवे तो तीन कालमें भी मोक्ष नहीं हो सकता है। सारे अन्धे मिल जावें और कितना ही प्रयत्न करें तो भी वे निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुच सकते हैं। सहज थोथरी कलासे मोक्ष सुलभ है। ज्ञानमें रत हो जावो, सन्तोष करो, आत्मा ज्ञानके बराबर है। ज्ञान ही आत्मा है। देखिये अग्निमें उष्णता रहती है, जिस समय उष्णता नहीं उस समय अग्नि ही नहीं रहती। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। आत्मामें सन्तोष करो। सागरमें कई प्रकार की लहरें आती रहती हैं। सारा विश्व का ज्ञानमे आता है। तू दीनकी तरह उनके पीछे दौडता फिरता है। जिस दिन तू उसे छोड देगा तेरे पाछे वे दौडते फिरेंगे। इसलिये हमेशा आत्मामे रत रहो। इतना ही कल्याण मार्ग है, इसलिये ज्ञान मात्रमे सन्तोष करो। ऐसा कौनसी चीज है जो ज्ञानमें न आती हो? दुख भी ज्ञानमे आता है। सुख भी ज्ञानमे आता है। ज्ञान तो पीछा छोडता नहीं और तुम ज्ञान को जानते नहीं।

पानी गर्म हो गया। ज्ञानसे हम जान लेते हैं कि यह अग्निके सयोगसे इस पर्याय को प्राप्त हो गया है। यथार्थ में इसका स्वभाव शीतलपना है। यह क्रोध है—यह भी ज्ञान बताता है इसलिये ज्ञानमें सतोष करो और इसीका अनुभवन करो। इसीमे तृप्त रहो, इससे आगे कोई चीज नहीं। यदि तुम आत्मामें



रत हो जाओ, उसीमें सन्तोष करो तथा उसीमें तल्लीन हो जाओ तो तुम्हें सुख मिलेगा। और वह सुख न तो किसीसे पूछना पड़ेगा और न कोई बता सकेगा। वह तो आत्मा की वस्तु है और आत्मामें ही अनुभवन की जाती है।

जब आँखमें मोतियाबिन्दु पड़ जाता है तो आँखसे दिखना बन्द हो जाता है। परन्तु जब इसे निकाल कर फेंक दिया जाता है तो आँखसे अपने आप दिखाई देने लगता है। किसीसे पूछना नहीं पड़ता कि हमें दिखाई देता है—या नहीं।

एक नवीन बहूके गर्भ रहा तो उसने अपनी सासुसे कहा—कि 'जब बच्चा पैदा होने लगे तब हमें जगा देना।'

सासुने कहा—'तुम्हें जगानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी तुम स्वयं जग जाओगी।'

इसी प्रकार यदि तुम कषाय को छोड़ दो तो तुम्हें सुख या आनन्द होगा वह तुम्हें किसीसे पूछना न पड़ेगा।

ज्ञानी जीव परपदार्थ को ग्रहण नहीं करता। क्या करें, समय ही ऐसा आगया है। लोग इसको ढोंग समझते हैं। प्राचीन कालमें हजारों मनुष्य घरसे विरक्त हो जाते थे, वनमें निवास करते थे, वहीं पर लड़कोंको पढ़ाया करते थे। पर तु हम सब ही विषय भोग चाहते हैं, यदि दुखी न हों तो क्या हों? बीसों कथाएँ हमें बिना मूल्य शिक्षाएँ मिलती हैं, पर आजकल तो संस्कृत भाषा भी बिना रुपये खर्च किये नहीं मिलती! सच्ची शिक्षा तो वह है जो दुख को दूर करे और सुखको उपजावे। यदि किसी को १०००) माहवार मिलते हैं तो उसे १००) खर्च करने चाहिये और ६००) शिक्षादानमें देना चाहिये। वर्तमान समयमें तो शिक्षासे रोटी कमानेकी इच्छा की जाती है, कल्याण कैसे हो?

धनका तो दान हो सकता है पर कषाय का तो त्याग ही

करना पडेगा। ज्ञानी विचार करता है जो जिसका 'स्व' है वही उसका धन है और उसका वह स्वामी है। आत्मा का परिग्रह आत्मा और ज्ञान का परिग्रह ज्ञान है। ज्ञान ज्ञेय नहीं हो सकता और ज्ञेय ज्ञान नहीं हो सकता। पर पदार्थ हमारे नहीं है—ऐसा समझकर वह पर पदार्थों को ग्रहण नहीं करता है। जैसा मैं हूँ वैसे ही भगवान् हैं। भगवानने पर पदार्थ छोड़ दिये हैं और हमने पर पदार्थ ग्रहण किये हैं, इसलिये हम सेवक करनेवाले कहलाते हैं और हम सेवक भी बने हुए हैं। मालिक बनना हो तो अभी बन जावो, जो भगवानके चरणमें सिर रगड़ना पड़ता है यह छूट जावे, सिर्फ पर पदार्थोंका त्याग कर दो। हम क्यों हमेशा हलके बने रहें ?

यदि-पर पदार्थ को हम ग्रहण करें तो वह हमारा 'स्व' होगया, और हम इसके स्वामी हो गये तो हम अजीव हो जावेंगे। तो क्यों अपने आप अजीव बनते फिरते हो ? तुम तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो, ज्ञान ही तुम्हारा है। तुम ज्ञानके स्वामी हो। अतएव तुम्हें पर द्रव्य को ग्रहण नहीं करना चाहिये।

एक समयका कथानक है कि क्षत्रिय और—वैश्य में लड़ाई हुई। क्षत्रियको वैश्यने हरा दिया और उसकी छातीपर आगया। उसी समय क्षत्रियने पूछा—'तुम कौन हो ?'

वैश्यने उत्तर दिया—'मैं तो वैश्य हूँ।'

क्षत्रियने ऐसा सुनते ही साहस पूर्वक उसे नीचे कर लिया। इसी प्रकार जब हमें मालूम पड़ जाय कि कर्म कषाय तो पर पदार्थ हैं और वे हमें संसारमें नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं तभी हम उन्हें पराजित कर सकते हैं। लेकिन यदि हम समझें ही नहीं तो हमारी गलती है। नेता जो होते हैं या तीर्थंकर जो होगये हैं, वे हममें से ही हुए हैं। उनके नाम लेनेसे कोई लाभ

नहीं, उन सरीखे काम हमें करने चाहिये। यदि हम ऐसा करें तो हम भी नेता या तीर्थङ्कर बन सकते हैं। आज ही हमारा कल्याण हो जावे। हम आज ही बन जावें, थोडी इस ओर दृष्टि करने की आवश्यकता है।

हमारा यह निश्चय हो जावे कि ये सारे पदार्थ हमारे नहीं हैं, चाहे कुछ भी हो जावे हमारा तो एकमात्र टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान ही है। मनुष्य मोहके आधीन होकर विकल्प करते हैं कि अरे हम क्या करें—हमारे बच्चे हैं, यह गृहस्थी है, सभी बिगड जावेगी। पर ये तो सब पर पदार्थ हैं। इनकी तुम्हें क्यों चिन्ता है? पर पदार्थ तो हमारे 'स्व' नहीं हो सकते, न हम उनके स्वामी ही हो सकते हैं।

धर्म-अधर्म, खान-पान ये चार पदार्थ हैं। इनके सिवाय कोई पाँचवीं वस्तु नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव न तो धर्म को चाहता है और न अधर्म को पसन्द करता है।

परिग्रह नाम बाह्य वस्तुओं का नहीं है, अपितु अन्तरङ्गमें 'यह मेरी है' ऐसा भाव रखना ही परिग्रह है। राग द्वेष और मोह परिग्रह ही हैं—इनका त्याग किये बिना पर का त्याग नहीं होता।

हम अपनी इच्छासे जो भोग भोगते हैं उससे शरीरकी ही पुष्टि होती है। आत्मा पुष्ट नहीं होता।

धर्मसे हमें काम या अर्थकी सामग्री प्राप्त होती है। पर अर्थ तो अनर्थ की जड है और काम वैरी है अत इनका कारण धर्म भी त्यागने योग्य है।

ज्ञानी पुरुष जो है वह न तो धर्म को चाहेगा और न अधर्म को। इसी तरह उसके लिये खान-पान भी त्याज्य हैं पर कर्मोदय से उसे सब भुगतना पडता है।

अर्थसे कभी सतोष प्राप्त नहीं होता। चक्रवर्तीके तो लाखों

हजारों उपभोग्य वस्तुएँ होती हैं। लेकिन वे भी उन सबको छोड़ कर दैगम्बरी दीक्षा धारण कर जंगलकी ओर प्रस्थान कर जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सब चीजें सुख देनेवाली नहीं हैं।

इन पर पदार्थों को ज्ञानी जीव ग्रहण नहीं करता इसलिये वह अपरिग्रही होता है। परिग्रह से शून्य होता हुआ और पर पदार्थों के विकल्पों को छोड़ता हुआ तथा अत्यन्त निरालम्ब होता हुआ ऐसा जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है वह आत्माके सर्व ज्ञान गुण को प्राप्त करता है।

फिर ज्ञानीके भोग क्या होते हैं? पूर्व कर्मके उदयसे उसे भोगना पड़ता है। परन्तु वह इन्हें ऋण समझकर चुकाता है। इनमें न तो राग करता है, न द्वेष करता है।

टीकमगढ़में एक बड़ा भारी व्यापारी था। उसके व्यापारमें एक गरीब आदमी साझेदार था। एक समय दुर्भाग्यसे उसे व्यापारमें एक लाख रुपया का घाटा पड़ गया। गरीब आदमीने कहा कि हम तो ५० हजार चुकाने में असमर्थ हैं पर इतना जरूर कहते हैं कि तुम्हारा पूरा रुपया चुकादेंगे। उसने अपनी एक छोटीसी दुकान खोलली। साल भरमें उसे १२५) का लाभ हुआ। उसे वह उस सेठके पास जमा करने गया। सेठने कहा कि हम दुकानदारीमें कर्ज नहीं चुका सकता। एक बार और व्यापार करलो। उसने उत्तर दिया—'अरे हम नहीं करेंगे एक बार का ५० हजार तो पहले चुकालें फिर दूसरा व्यापार करेंगे'।

सेठने कहा—'अबकी बार ऐसा करो। यदि नुकसान हो तो हमारा और यदि लाभ हो तो आधा कर लेंगे।' व्यापार किया सो उसमें ३ लाखका लाभ हो गया। उस आदमीने अपना हिस्सा लेकर कर्ज को व्याज समेत लौटा दिया। उसकी नियत —

थी, उसमें किसी प्रकार का मैल नहीं था। इससे सब काम बन गया।

इसीप्रकार जब भी कर्मका उदय आवे शान्तिपूर्वक उसे सहन करना चाहिये। किसी प्रकारकी विकलता मनमें पैदा नहीं करनी चाहिये।

ज्ञानार्णव—

कोई हमारी रक्षा करनेवाला नहीं है। ऐ प्राणी! संसारमें ऐसा कोई जीव है जो मरनेवाला न हो? नहीं सभी मरणको प्राप्त होते हैं। यम रूपी सिंहका पैर जहाँ पड़ जाता है फिर उसकी कोई रक्षा करनेवाला नहीं है। संसारमें कोई शरण नहीं है। सुर हो या असुर हो तन्त्र हो या मन्त्र हो, मरनेवाले जीवको कोई भी नहीं बचा सकता।

मृत्युका नाश कोई कर नहीं सकता, लेकिन जन्मका नाश तो कर सकता है। जब जन्मका नाश हो जावेगा तो मृत्यु अपने आप नाश हो जावेगा। परन्तु सबसे बड़ा दुर्गुण हममें यह है कि हम अपनी कमजोरी बताते हैं। जो काम तीर्थंकरने किया उस कामके करनेकी शक्ति हममें है। हम दिनरात आकुलता उत्पन्न करते रहते हैं कि अरे हमारा यह नष्ट हो गया, अरे! हमारा तो सर्वनाश हो गया। इस बातकी ओर कोई भी विचार नहीं करता कि 'इस संसार रूपी वनमें अनन्तानन्त पुरुष विलायमान हो गये हैं। तीर्थंकर तो बचे नहीं फिर हमारी क्या शक्ति है?'

राजगृहीमें जहाँ भगवानने जन्म लिया वहाँ एक कुटिया भी नहीं दिखाई देती। हम प्रयत्न करते हैं कि हमारा स्मारक बन जावे। सूर्य तककी तो तीन दशायें होती हैं। हमारी क्या होगी— सो सोच लो।

बडे बडे देवादिक हैं वे तक तो यमसे किसीको बचा नहीं सकते। न तो देखा है और न सुना है कि किसीने यमको जीत लिया, नहीं तो उसीकी जाकर सेवा करते, पर ऐसा होता नहीं है।

जङ्गलमें भयङ्कर आग लगी हुई है और एक मनुष्य उसी जङ्गलमें एक वृक्ष पर बैठा देख रहा है और चिल्ला रहा है कि वहाँ आग लगी, वहाँ आग लगी। पर वह यह नहीं सोचता कि थोडी देर बाद यहाँ भी आग लगनेवाली है।

इसी प्रकार हम संसारी जीव हैं। कहते हैं कि वह मर गया वह मर गया, पर यह नहीं सोचते कि एक दिन हमें भी मरना है। यमराज तो साम्यभाव रखता है वह न तो वृद्ध देखता है और न बालक ही देखता है।

जगमें दो ही शरण हैं—एक तो व्यवहारमें पंच परमेष्ठी और दूसरा शुद्धोपयोग। यथार्थमें देखा जावे तो हमारा कल्याण हमारे शुद्धोपयोगने ही किया। भगवानने क्या किया? बुद्धिका तारतम्य नहीं होता है।

इस बुद्धिका ठेका तो किसीने ले नहीं लिया। स्त्री-पुरुष जो चाहे सो ज्ञानका आश्रय लेकर अपना कल्याण कर सकते हैं।

(सागर ४। ४। ५२)

सात

भैया! अफीमची अफीम छोडना चाहता है, पर वह आदत से मजबूर है, वह उसे छोड नहीं सकता। कर्मोदयसे प्राप्त प्रत्येक वस्तुका समागम जीवको करना पडता है। जिस वस्तुकी इच्छा हम करें वह प्राप्त नहीं हो सकती। सम्यग्दृष्टि अपने मनमें विचार

करता है कि इच्छित चीज मिले तो आकांक्षा करे पर मिले ही नहीं तो आकांक्षा काहे को करे ?

कर्मके उदय आनेपर संक्लेश परिणाम मत करो, कर्म तो उपकारी है। विकारभाव तो द्रव्यके निमित्तसे होते हैं। शरीर पर है इसे हम अपना बनानेका प्रयत्न करते हैं। हम कहते हैं कि यदि वह तुम्हारी चीज है तो उसे रख लो पर ऐसा नहीं है वह सर्वदा स्थित नहीं रह सकता। आत्मामें जो खास चीज उत्पन्न होती है वह है रागद्वेष। ये विकार परिणाम हैं, वे आजावें कोई बात नहीं। उन्हें निकल जाने दो। संक्लेश परिणाम मत करो। जहाँ आकुलता है वहाँ सुख नहीं हो सकता। अच्छे या बुरे काम की आकुलता दुःख देती है, उसे छोड़ो।

तीर्थंकरकी कर्मोदयसे ६ घड़ी दिव्यध्वनि खिरती है तो उसको छोड़नेमें समर्थ नहीं तब हमारी क्या सामर्थ्य है ? कर्म खिर जाने पर विकल्प मनमें मत लाओ। ज्ञानी जीवके कर्म होता है पर वह परिग्रहको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उसमें रागद्वेष नहीं है। अज्ञानावस्थामें आत्मा कर्त्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टि के कर्तृत्व नहीं रहता है पर कर्मके उदयसे काम करता है।

'हर्रा लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय।"

सो कैसे होवे सम्यग्दृष्टिके राग होता है न द्वेष।

ज्ञानी जीव स्वभावसे राग रहित होनेसे कर्ममें पड़ता हुआ भी परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। पर द्रव्यके ग्रहणका भाव मिट गया इसीलिये परिग्रह प्राप्त नहीं होता। ज्ञानीके हृदयमें यह बात आ जाती है कि पर पदार्थ मेरे नहीं हैं।

कीचड़में पड़ा लोहा कीचड़ युक्त हो जाता है। औदयिक को छोड़ सम्यग्दर्शनको प्राप्त करो, इसी तत्त्वको ही ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

एक समय मच्छड़ भगवानके पास अपनी फरियाद लेकर गये कि महाराज! हमें बड़ा कष्ट है। हवा हमें यहाँ वहाँ उड़ा देती है। भगवानने दोनोंको हाजिर होनेके लिये आदेश निकाला, मच्छड़ बहुत खुश थे। आज उनका निर्णय होनेवाला था, बड़ी प्रसन्नतासे वे भगवानके पास गये। थोड़ी देरमें हवा भी वहाँ आई सो मच्छड़ उड़ गये। अब निर्णय कैसे हो। मुकदमा खारिज कर दिया गया। इसी प्रकार क्रोध और क्षमाकी स्थिति है। लोग ऐसा कहते हैं कि क्रोध और क्षमा का बैर है पर वास्तविकता यह नहीं है। क्षमाके सद्भावमें क्रोधका अभाव सर्वमान्य है। जीव अचित्त सचित्त खाते हैं पर वे उस रूप परिणत नहीं हो जाते हैं। ज्ञान अज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव भोग भोगता है पर बंधका कारण नहीं। बंधका कारण तो भोगोंमें आसक्ति बताई गई है। अगर तुम आसक्ति-पूर्वक भोगोंको भोगोगे तो बँध जाओगे।

दो बहरे थे। दोनों गाडरें चरा रहे थे। एक आदमी अपनी गाडर दूसरेके जिम्मे करके खाना लेनेके लिये चला गया। वह लूली थी। वहाँसे वह वापिस आया सो उसने कहा हम खाना ले आये हैं आओ खालो। तो दूसरेने कहा—हमने तुम्हारा गाडर की टांग नहीं तोड़ी हम अच्छी नहीं कर सकते। दोनों एक दूसरे की बात समझनेमें असमर्थ थे इसलिये लड़ाई प्रारम्भ हो गई। इतनेमें वहाँ घोड़ावाला आया। दोनों ही उसके पास अपनी फरियाद लेकर दौड़े और अपनी अपनी बात सुनाई परन्तु वह भी बहरा था। उसने समझा ये लोग कहते हैं, कि यह घोड़ा इनका है। उसने उत्तर दिया—यह तो हमारी घोड़ीका बच्चा है हमें क्या चोरी लगाते हो? अब वे जमींदार साहबके पास पहुंचे। वह भी बहरा था। रातको उसकी और उसकी स्त्रीमें लड़ाई हुई थी। उसने

समझा कि ये हमारी लड़ाईके बारेमें कह रहे हैं, इससे उसने कहा—इसमें हमारी कोई गलती नहीं पटेलनने ही ज्यादती की है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि बहरे हैं, वे एक दूसरे की बात समझनेमें असमर्थ हैं। इनका बिल्कुल बनता नहीं। सम्यग्दृष्टि बन जाते तो सब काम बन जावें। सम्यग्दृष्टि किसी कर्मकी अभिलाषा नहीं करता। जिनकी अज्ञान चेतना मिट गई वह कर्मकी इच्छा काहेको करेगा?

(सागर ५।४।५२)

—

आठ

समयसार—

रागादिकसे बन्ध होता है। मुनिराजने विचार किया कि बन्धकी जड़ राग है। वे साम्यभाव करके राग छोड़ते हैं, ऐसे मुनिको नमस्कार है। जब कृतान्तवक्र सेनापति दिगम्बरी दीक्षा धारण करने लगा तो रामचन्द्रजीने कहा कि यह दीक्षा तो बहुत कठिन है तुम इसको कैसे सहन कर सकोगे? उसने उत्तरमें कहा कि जब तुमसे जिसका गहरा मोह था उसको छोड़ दिया तो हमें यह कोई कठिन नहीं मालूम पड़ती।

रागको जान करके हम प्रमादी बन गये हैं और जैसी चाहे क्रीड़ा करते रहते हैं। परन्तु ज्ञानके उदयमें ये सब नष्ट हो जाते हैं, रातको नाटक करते समय भले ही कोई काला आदमी अपने मुखमें पाउडर लगा ले और अंग्रेजोंका काम करे लेकिन जब सूर्यका प्रकाश दिनको होगा तब उसकी पोल खुल जावेगी।

ज्ञानीका मोचन आनन्द है, आकुलता नहीं। सहज अवस्था-में प्राप्त होता हुआ यह अनाकुल और निरापद हो जाता है।

धर्म सिद्धान्तके अनुसार ८ वर्षका बालक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है और केवलज्ञानी हो सकता है।

अज्ञानताके कारण हरिण गर्मीके दिनोंमें चमकती हुई धूलमें जलकी कल्पना करता है और यहाँ-वहाँ दौड़ता फिरता है पर उसे जल नहीं मिलता। अज्ञानताके कारण रस्सीको हम साँप समझ लेते हैं सो कोई नुकसानकी बात नहीं। पर हम इष्टानिष्टकी कल्पना कर लेते हैं—यही नुकसानकी बात है।

एक मनुष्य था, उसके एक लड़का था। एक समय उसने हाथीके पैरसे दबता हुआ अपना लड़का देखा। यथार्थमें वह उसका लड़का नहीं था, पर उसे ऐसा भान हुआ कि यह मेरा ही लड़का है। ऐसा सोचकर वह मूर्छित हो गया। वहाँ उसका मित्र आया और सारी बात समझकर वह वैद्य बुलाकर लाया और साथमें उसके लड़केको लिवा लाया और उसकी मूर्छा दूर की। तो अज्ञानमें उसे मूर्छा नहीं आई, पर मोह होनेसे ही उसे मूर्छा आ गई थी। यदि मोह न होता और उसका लड़का भी दब जाता तो भी मूर्छा होनेका कोई कारण न था। संसारमें सबको मोह ही सताता है। इसलिये हम मोहको ही छोड़ना चाहिये।

एक धनी पुरुष अपने माल सहित जहाजमें जा रहा था दुर्भाग्यसे उसका जहाज फट गया और सारा माल डूब गया। वह पुरुष एक लकड़ीके सहारे एक किनारे पर पहुचा। उसके पास खानेको तो कुछ नहीं था सो उसने सोचा कि चलो एक हुंडी लिखे देता हूँ और उसे शहरमें सकार लेता हूँ, सौ रुपया मिल

जावेगा जिसमें घर जानेका साधन बन जायगा। इसलिये उसने एक हुंडी लिखी और चूँकि कोई आदमी तो था नहीं इसलिये वह स्वयं ही हुंडी सिकारनेको गया पर उसे कोई पहचानता नहीं था, अतएव किसीने उसे पैसा नहीं दिया।

उसके नगरका एक तेलीवाला अपने बैल लेकर जा रहा था सो उसने रास्ते पर उसके यहाँ नौकरी कर ली और बर्तन वगैरह मलने लगा। जिस समय वह बर्तन मलता था उस समय उसके मनमें यही कल्पना थी कि मैं तो सेठ हूँ, जब नगरमें पहुँच जाऊँगा तब उसी प्रकार आनन्द उठाऊँगा।

इसी तरह हमारा तो विश्वास है कि हमें भेदज्ञान हो जावे तो हमें कितने ही उपद्रव आवें पर हम सोचते हैं कि हम तो मोक्ष जावेंगे। अरे और सब बातें छोड़ो सातवें नरकके भयानक कष्टोंका भी सामना करता हुआ वह नारकी जिसके सम्यग्दर्शन हो गया है यही विचार करता है कि हमें तो मोक्ष जाना है।

कोई पुरुष था सो उसने अपने शरीरमें तेलको लगाया फिर धूलमें जाकर कई प्रकारकी अस्त्र शस्त्रकी क्रीड़ाएँ कीं तो उसके शरीरमें धूल लग गई। पर धूल लगनेका कारण न तो उसकी शस्त्र क्रीड़ा है और न धूल ही। धूल लगनेका मुख्य कारण उसके शरीरमें जो तैल लगता है, वही है।

इसी प्रकार मोहसे लिपटा हुआ मनुष्य जो अचित्त सचित्तकी घात किया करता है उसे उससे ही बन्ध होता है। दूसरे सम्यग्दृष्टि मनुष्य जो रागद्वेष मोहसे रहित है उनके कर्म करने पर भी बन्ध नहीं होता। अतः सिद्ध है कि उपयोगमें जो राग-द्वेष मोह है वही बन्धका कारण है।

एक गाँवमें एक औरत रहती थी वह बहुत ही वृद्ध थी, परन्तु उसका स्वभाव लड़ाकू था उसे बिना लड़े चैन नहीं पड़ता था

निवश हो मुहल्लावालाने निश्चय किया कि यदि हम लोगोंकी पारी बाँध ली जावे तो उससे एक एक दिन लड लिया करेंगे।

एक दिन एक बुढियाकी बारी लडनेकी थी इसलिए वह जल्दी जल्दी काम करने लगी। उसके यहां एक नव विवाहिता बहू आई थी। उसने जल्दी काम करनेका कारण पूँछा। बुढियाने कहा कि—बस लडवूसे आज हमसे लडना है, वह आ रही होगी। उसने सासुसे कहा कि तुम घबडाओ मत उससे हम लड लेंगे। सासुने बहुत रोका पर वह नहीं मानी। इतनेमें वह लडवू आ गई। उसने आते ही कहा कि तैयार हो जाओ लडनेको। बहूने जबाब दिया अरी तुम भूखीसे क्या लडें, जा पहले अपना पेट भर आ। भूखे पेट नहीं लडा जाना है। कुछ उसका ऐसा रोब जमा कि वह भोजन करनेको लौट गई। वह फिरसे पहुँची। तब बहूने कहा कि दुर्मुखे! बता तुमसे कौनसी लडाई लडूं? दो महिनेवाली कि चार महिनेवाली कि छह महिनेवाली या कि बारह महिने वाली या जिन्दगी भरकी, कौनसी लडाई लडूं?

वह सोचकीसी रह गई। और उसने पूँछा कि यह कैसी लडाई है। अभी तक तो मैंने इस लडाईका नाम भी नहीं सुना। बहूने उत्तर दिया कि दो माहमें तो मक्का पैदा हो जाता है। चार माहमें धान पैदा हो जाती है। छह माहमें गेहूँ हो जाता है और साल भरमें अरहर पैदा होता है। यदि जिन्दगी भर लडना चाहती हो तो मेरी मौत बन जाओ सो जिन्दगी भर लडती रहना।

वह तो हार गई और हाथ जोडकर वापिस घरको चली गई।

उपयोगमें जो रागादिक हैं वेही बन्धके कारण हैं। जो मनुष्य तेलके निमित्तसे धूल रूपी बन्धको प्राप्त हुवा था यदि वह अपने तेलको बिल्कुल साफ करले और फिरसे वे ही सब व्यापार करे

तो उसे धूल नहीं लगेगी। इसी प्रकार यदि हमारे उपयोगमें से मोह निकल जावे तो हमारे लिये बन्ध न होगा।

सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिके समान मन काम करता हुवा बन्धको प्राप्त नहीं होता। इसका मूल कारण उसके रागका न होना ही है।

आदिनाथ वर्तमान कालके २४ तीर्थकरोंमें से प्रथम तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने लड़कोंको गोदमें खिलाया। विषय सेवन किया। चार गुणस्थानके बाद उनको बन्ध नहीं हुवा तो हमने क्या गलती की जो हम होगा?

कोरी अन्तमें कपड़ा बुनते समय डोरा छोड़ता है पर हम अपना सारा जीवन विषय भोगोंमें खर्च करना चाहें तो ?

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता पर यदि वह इच्छा करके काम करने लगे तो उसे भी बन्ध शुरू हो जावेगा। इसलिये मोह छोड़ना ही चाहिये।

'पर जीवको मैं मारता हूँ पर जीव मुझे मारते हैं।' यह अध्यवसान भाव जिसके होता है वह ही कर्म बन्धको प्राप्त करता है।

आयुका क्षय हो जाता है तो मरण हो जाता है। न तुम किसीको मार सकते हो, न किसीको जिला सकते हो। ये तो पर्यायें हैं जो नष्ट हो जाया करती हैं। यथार्थमें जीव तो मरता नहीं है।

अज्ञानी ही यह समझता है कि हमारी कृपासे ये प्राणी सुख पा रहे हैं, जी रहे हैं।

मैना सुन्दरीके पिताने जब पूछा कि तुम किसके भाग्यसे जीवित हो? तो सबने तो यही उत्तर दिया कि आपके भाग्यसे। लेकिन मैना सुन्दरीने कहा कि हम तो अपने भाग्यसे जीवित हैं। इसपर वे बहुत क्रोधित हुए और उसका एक कोढ़ीके साथ विवाह

कर दिया। मैना सुन्दरीका दृढ़ विश्वास था कि यह सब पापके उदयका निमित्त है। जब पुण्यका उदय होना होगा इष्टकारी वस्तुओंका समागम हो जायगा। सिद्धचक्रविधान किया। पापोंका क्षय हो गया पुण्यका उदय आ गया, तथा सब इष्टकारी वस्तुएं मिल गईं। श्रीपालका शरीर कंचन सरीखा सुन्दर हो गया।

हमारे ही आँखों देखी एक बात है। सुर्जामें एक मुसलमान था उसके एक लड़की थी। उसका निकाह एक मुसलमानके साथ पढ़ाया गया। दुर्भाग्यसे उसे कोढ़ हो गया। लड़कीके पिताने लड़कीको दूसरा निकाह पढ़ानेको बहुत समझाया पर जब वह तैयार न हुई तब उसके पिताने उसे अपने घरसे बाहर निकाल दिया। वह लड़की अपने पतिके साथ गाँवके बाहर रहने लगी और उसने हिंसा करना और मांस खाना छोड़ दिया। हिन्दुओंके यहाँसे वह भीख माँगकर लावे और अपने पतिकी सेवा करे। उसके अच्छे दिन आये जिससे उसका कोढ़ ठीक हो गया फिर कुछ धन्धा करके उसने दुकान की। आज वही ४० हजारका गृहस्थ है।

तो जब पापका उदय आता है तब दुःख देनेवाली सामग्री अपने आप उत्पन्न हो जाती है इसमें दूसरा कोई कर्तृत्व शक्ति नहीं रखता।

छह माह तक आदिनाथको आहार नहीं मिला, इसमें दुःखी होनेकी क्या आवश्यकता? समागम यही तो ठाठ है। आयुका उदय है तो जीता है और जब आयुकर्म समाप्त हो जावेगा तो कोई भी न बचा सकेगा।

धर्मानुरागके कारण मुनियोंने शास्त्रोंकी रचना की, मोह सब कुछ करवाता है और हम कहते हैं कि हम कर रहे हैं, यह तो हमारी भूल है।

एक समय हम यहाँसे बनारसको जा रहे थे। रास्ते में एक शिकारी मनुष्य मिला। कुछ चर्चा छिड गई तो मैंने उससे अहिंसाके बारेमें बातचीत छेडी पर वह उसे न रुची। मैंने उससे उस दिनके लिये शिकार छोडनेके लिये कहा पर उसने उसे स्वीकार नहीं किया। और वह चाँदकपुर स्टेशन पर उतर गया। जब हम बनारससे एक वर्ष बाद लौटे तो कटनी स्टेशन पर वही आदमी फिरसे मिल गया। उसने कहा कि अहिंसाकी चर्चा छेडो। मैंने कहा - कि तुम सुनते ही नहीं, मानते हो नही, तुम्हें नहीं सुनाते।

अन्तमे उसने अपनी सारी कथा सुनाई कि उस दिन हम यहाँ से जगलमे गये पर हमें शिकार नहीं मिला तो घर जाकर अपनी स्त्रीसे कबूतर मारनेको कहा पर उसने अस्वीकार कर दिया। फिर उसने बवरचीसे कहा उसने भी मना कर दिया। फिर उसकी हिम्मत नही पडी कि वह अपने हाथ से कबूतरको मार दे। इस प्रकार आज एक वर्ष व्यतीत हो गया, पर हमने शिकार नहीं किया। इसलिये आज शिकार न खेलनेकी प्रतिज्ञा लेता हूँ।

पाप छोड दें तो हमारा कल्याण हो जावे। पाच पाप छोड़ना चाहिये।

बाह्य वस्तु बधका कारण नहीं, जीवका उपयोग ही बधका कारण है।

यदि ऐसा है कि बाह्य वस्तुसे बध नही होता तो बाह्य वस्तुओको छोडनेका उपदेश क्या देते है?

अध्यवसाय भाव बिना पर पदार्थो के नहीं हो सकता। बाह्य वस्तुका आश्रय तो लेना ही पडता है।

पच समितिसे मुनि यदि चर्या करे तो उसे बध नहीं होता भले ही उससे किसी जीवका हनन हो जावे।

ज्ञानार्णव

भव रूपी जो मरुस्थल है इसमें नाना प्रकारके दुःख मौजूद हैं। आचार्योंका तात्पर्य यह है कि तुम अकेले ही हो, तुम्हारे कर्मोंके फलको तुम्हीं भुगतनेवाले हो।

दो आदमियोंमें अधिक मित्रता थी। उन्होंने यह निश्चय किया था कि हम साथ ही त्यागी होंगे। जब एक आदमीने दूसरेसे कहा कि चलो हम त्यागी होनेके लिये तैयार हैं इस पर उसने कहा कि थोड़ी सी कसर रह गई। इस प्रकार वह हर समय कह देता था। वह त्यागी मर कर स्वर्ग गया। परन्तु वह फिरसे उसके पास आया और उसने त्यागव्रत धारण करनेके लिये अपने मित्रसे कहा। उसने फिरसे वही उत्तर दिया कि अभी थोड़ी-सी कसर रह गई है।

देवने कहा—हम तुम्हारी कसर थोड़ी-सी देरमें निकाल देते हैं, तुम थोड़ा-सा काम करो। बीमार बन जाओ एक दिनके लिये।

देवके कथनानुसार वह बीमार पड़ गया। घरमें बड़ा तहलका मच गया। डाक्टर और वैद्य बुलाये जाने लगे। देव वैद्यका रूप धारण करके वहाँ आ गया। उसने उस कमरेसे सबको बाहर कर दिया और थोड़ासा दूध और एक सिगड़ीमे अग्नि मगाई। उस दूधको अग्नि पर तपानेको रख दिया।

इसके बाद उसने पूछा—तुम बताओ तुम्हारा सबसे प्रिय कौन है। उसने उत्तर दिया कि हमारी माता हम चाहती है।

तदनन्तर उसने माताको बुलाया। और कहा, माताजी

तुम्हारे लड़केकी तबीयत अभी ठीक हो सकती है, यदि तुम यह दवाई सहित दूध पी डालो। परन्तु इससे तुम्हारा स्वर्गवास अभी हो जावेगा।

माताने कहा—हमारे तो तीन लड़के और हैं यदि यह न रहेगा तो हमारी सेवा वो दूसरे कर लेंगे। इस प्रकार उसने पिता पत्नी आदि जो भी उसके प्रिय थे सबको बुलाया परन्तु उसके पीछे मरनेको कोई तैयार नहीं हुआ।

अब उसे ख्याल आ गया। मनुष्यकी कसर तो कभी पूरी नहीं हो सकती और यदि आज दृढ निश्चय कर लें तो फिर कोई कठिन बात नहीं।

अपने स्वरूपको न जान करके और पर पदार्थको ग्रहण करके हम यह सब कष्ट भुगत रहे हैं। हमारा साथ देनेवाला कोई नहीं है।

जब हमने एकत्वपने को प्राप्त कर लिया तो हमने ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। कोई भी हमारा भला बुरा करनेवाला नहीं है। हमें अपनेको ही देखना चाहिये। एक आदमी स्वर्ग जाता है और एक नरक में जाता है एक अकेला शोकादि करके कर्मबंध करता है और एक ज्ञानी पुरुष कर्मको नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। जो जैसा काम करेगा वही उसके फलको भुग तेगा। तुम्हारे हाथकी बात है जो इच्छा हो सो पर्याय धारण कर लो।

परमार्थसे विचार करो तो आत्मा एक है। यह कर्मके निमित्तसे ही बंधयुक्त हो रहा है, यह बंध मिटे तो मोक्ष हो जाय।

(सागर । ३।१।५२)

नौ

समयसार

अध्यवसान भाव जो होगा सो वस्तुको प्रतीत करके होगा। समारमें सिर्फ एक वस्तु है जिसे भोगा जा सकता है। वह है पुद्गल। पाँचों इन्द्रियोके विषय पुद्गल ही हैं। मैं किसीको सुख पहुचाता हूँ दुःख पहुचाता हूँ मारता हूँ जिलाता हूँ—ये सब आकाशके कुसुमके समान असत्य हैं। हम क्या करें हमारा भाई तो मानता नही, कुटुम्ब मानता नही, नही तो हम यह सब त्याग कर देते। अरे उन्हे मनानेसे कुछ न होगा। तुम स्वय मान जाओ तो सब काम बन जावेगा। देखो तो हम कैसी २ इच्छाऐं करते हैं, यदि वे इच्छाऐं पूरी हो जाती तो कोई बात नही थी पर वे इच्छाऐं तो पूरी होती नही हैं।

रागद्वेष मोह न होवे तो बध नही हो सकता। भले ही सब प्रकारके कर्म करना पड़ें। लोग कहते हैं कि हमारी मन बातें मानते हैं पर हम कहते हैं कि त्यागी हो जाओ तो इस बातको कोई नहीं मानता। हमारी क्या बात है हम तो छद्मस्थ हैं। सर्वज्ञ भगवानकी सब ही बात मानें—ऐसा तो कोई नियम नही है।

हम कहने लगते हैं कि यह कलियुग है इसम तो इतनी शक्ति नहीं रहती कि सम्यग्दर्शन धारण कर सकें। क्या हो गया यदि हम शरीरके छोटे हो गये। कोई सबसे छोटा पुरुष होगा तो क्या उसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा—ऐसा कोई नियम है? सही पचेन्द्रिय होना चाहिये। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी शक्ति सबमें है। मनुष्योंको तो ठीक—हाथी—कुत्ता बन्दर सब ही सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं।

कोई किसीका कुछ बिगाड़ नही सकता। जैसा तुम बनना

जाता है पर वचनयोग होनेसे जगत्‌के कल्याणके हेतु दिव्यध्वनि गिरती है।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति और कषाय जो हैं वे आत्मा-का बन्ध करनेवाले हैं। ये सब मिट जावें तो कल्याण हो जावे।

मैं इसकी हिंसा करता हूँ यह अध्यवसान भाव है। आत्मा का न कोई मारनेवाला है और न कोई जिलानेवाला है, आत्माके अन्दर ज्ञान गुण मौजूद है यह हमेशा इसके साथ रहता है।

रागादि जो क्रियायें हैं वे आत्मासे भिन्न हैं। इनका विशेष ज्ञान नहीं हुआ, इसलिये संसार है। पेडामें खोवा और शक्करका स्वाद अलग अलग है पर हम उसे एकरूप समझ रहे हैं।

जो बन्धके निमित्त हैं उन्हें जिन्होंने छोड़ दिया वे ही यति हैं। आनन्द आत्माकी वस्तु है यह तुम भी प्राप्त कर सकते हो। ज्ञानमें पर पदार्थ झलकते रहते हैं उनमें कोई आनन्द नहीं। आनन्दकी जड़ मोहका अभाव है। उसीको लानेका प्रयत्न करो।

जाननेमें क्या धरा है—हमने जान लिया। परन्तु उनमें राग द्वेष करना ही बिगाडका कारण है।

आचार्योंने सब तैयार कर रखा है—आपको खाना ही है। जो दौलतरामजीने कह दिया उससे आगे भगवान क्या कहेंगे?

'आतम के अहित विषय कषाय—
इनमें मेरी परिणति न जाय।'

तुम तो उससे मस नहीं होना चाहते, कल्याण कैसे होवे? मन्दिरके बाहर आते हो सो सब भूल आते हो।

आत्मा तो निश्चित है, पराश्रित तो अध्यवसान है। जरा इस तरफ दृष्टि करो। यदि अभिप्राय निर्मल नहीं और तप वगैरह करें तो संसारसे नहीं छूट सकते। मोक्षकी श्रद्धा नहीं होती

बाधकी ही श्रद्धा होती है। इसीसे वह उस ओर लगनेसे असमर्थ रहता है। मन्दिर में क्न शुभोपयोग नहीं होना चाहिये। दृष्टि रखो कि संसार कटे। तुम्हारी दृष्टिरो तो मोक्ष प्राप्तिकी ओर लगना चाहिये। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही पूजन करते हैं। राग दूसरी जगह न जावे इसलिये सम्यग्दृष्टि धर्मकार्यमें व्यतीत करता है। लौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये धर्म कार्य नहीं है।

कर्मोंका बन्ध तो कषायसे होता है। मन दुष्ट है ऐसा लोग कहते हैं। मन कोई बुरी चीज नहीं, कषाय बुरी चीज है। इन्द्रियाँ क्या बुरी हैं, यदि हैं तो उन्हें जीतनेका प्रयत्न करो। तुम कहते हो कि पुद्गल मिट जावे तो हमारा कल्याण हो जावे—यह झूठ है। वस्तुओंके नष्ट हो जानेसे कषाय थोड़े ही नष्ट हो जाता है?

कलका दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है, पवित्र है। महावीर स्वामीने अपना अन्धकार दूर कर दिया पर यह सब हम व्यवहारसे कहते हैं। यदि बड़े बनना चाहते हो तो अपना अन्धकार मिटा दो। दूसरोंके अन्धकार मिटानेसे महान कभी नहीं बन सकते।

(सागर ७।११।५१)

दस

'यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचित
सम भान्ति ध्रौव्यव्ययजनिलसन्तोऽन्तरहिता.।
जगत्साक्षी मार्गप्रकटनपरो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥'

आज महावीर स्वामीका जन्म दिन है। प्रात कालसे हा मेघ वर्षाके कारण सब प्राणियोंके हृदयमें शान्ति आ गई है। पडित लोग ही ता पत्थरमें देव बनाते हैं, कहो तो मेघका पढा दें। मनुष्योंको यदि ये ऋषि बना दें तो कोई बडी बात नहीं। महावीर स्वामीके जन्म समय पर नारकी भी कुछेक क्षणके लिये प्रसन्न हो जाते हैं, यदि हम ऐसे अवसरको प्राप्त करके वासनाका त्याग न कर सके, भाई भाईको सुखी व प्रसन्न न कर सके—तो हमारे जीवनको धिक्कार है।

मनुष्यको इस ससारमें नानाप्रकारके दुखोंको भुगतना पड़ता है। दुख दूर करनेके लिए मनुष्य विषयोंकी तृप्तिमें लगे रहते हैं। वर्णीजी तो कुछ नहीं, भगवानकी वाणी तो सब कुछ है। विषयोंके सेवनमें शान्ति तो कुछ मिलती नहीं—यह तो सब जानते हैं। और इन्हींके सेवनसे हमें ससारकी व्याधि घेरे रहती है इस बातको भी सब जानते हैं पर सुनते नहीं। अब कार्य कैसे हो। अनादि अनन्त आत्माके स्वरूपको न सुना और न पाया, इससे हम दुखी हो रहे हैं।

महावीर स्वामीने ससारसे छूट अपना कल्याण किया—हमारा क्या। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो अन्तरङ्गकी कलुषता छोड़ो और फिर महावीर स्वामीकी पूजन करो। उन्हींके शब्दोंको धारण करो, सब ही कल्याण होगा।

सागरका सस्कृत विद्यालय, महिलाश्रम और उदासीनाश्रम तीन सस्थाएँ ४००० जैन जन सख्यावाले स्थानमें हैं। एक मकान स्कूलका न बना सके इसके बिना शहरकी शोभा क्या? सागरमें महावीर स्वामीके जन्म दिवसको मनानेके लिए ५००० मनुष्य हैं। यदि एक एक आदमी सिर्फ आधी रोटीको बचावे तो सहजमे २५०० रोटी हो जावें जिससे ५०० लडके पढ सकते हैं। लेकिन

करें क्या उस ओर इनका ध्यान नहीं। ये तो अपने आपसके झगड़ामें पड़े रहते हैं। यदि हृदयके अन्दरकी कलुषता दूर न हुई तो फिर हमने किया ही क्या।

हमारी तो यह प्रार्थना है कि ये दोनों दूध पानीके समान मिल जावें। जब दूधमें से पानी जल जाता है तो देखिये कितना उफान दूधमें आता है। परन्तु जैसे ही उसमें पानीके छींटे दिये जाते हैं, वह अपने मित्रको पाकर शान्त हो जाता है। आप लोग भी भीतरकी कषाय निकालकर इसी तरह हो जावो।

महावीर स्वामीने तो ७२ वर्षकी अवस्थामें अपना कल्याण कर लिया था पर हम ८०-८० वर्षके बूढ़े हो गये तो भी आत्माके कल्याणकी ओर ध्यान ही नहीं देते।

हम तो यह कहते हैं कि अंग्रेजी पढ़नेमें उसका कोई दोष नहीं, मनुष्यका ही दोष है। यदि यह बात होती तो मास्टर टीकाराम क्यों ७४) में फूलमाला खरीदते।

ग्यारह

समयसार—

ज्ञानका जो पुञ्ज है वह स्फुरायमान है अर्थात् विकासको प्राप्त होता है। वह ज्ञान अचल, टङ्कोत्कीर्णके समान स्थिर है। आत्मामें बन्ध और मोक्षकी कल्पना सामान्यकी अपेक्षा नहीं की जाती परन्तु जब विशेषकी अपेक्षा पदार्थका निरूपण करना होता है उस समय बन्ध और मोक्ष दोनोंका समावेश करना पड़ता है।

जिस प्रकार स्वप्न झूठा होता है परन्तु उस झूठेपनसे यह निश्चय किया जाता है कि स्वप्नकी यह स्थिति है। इसी प्रकार जनधर्मके सिद्धान्तके अनुसार जो मिथ्याज्ञान होता है उससे सिद्ध

होता है कि आत्माके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो मिथ्यात्व परिणत है। यदि वह पर्याय मिट जावे तो शुद्ध टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान प्रगट हो जावे। यदि ज्ञानके सद्भावका ही निषेध किया जावे तो मिथ्याका आरोप किस प्रकार सिद्ध किया जा सकेगा?

कर्तृत्व या भोक्तृत्व जितने भी भाव हैं वे ज्ञानसे रहित हैं। ये अज्ञानावस्थामें ही होते हैं। आत्माका कर्तापना स्वभाव नहीं है, उसका स्वभाव तो ज्ञायक भावमें पूर्ण है। यह ज्ञान न तो कर्तापनमें परिवर्तित हो सकता है और न कर्तापन ज्ञानमें परिवर्तित हो सकता है। ज्ञान ज्ञान रहेगा और पदार्थ पदार्थ रहेगा। द्रव्य कभी परिवर्तनशील नहीं है पर पर्याय उसकी बदलती रहती है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है। जिसमें ये तीन पर्याय न हो सकें वह पदार्थ ही नहीं कहा जा सकता।

चेतना ३ प्रकारकी है। ज्ञान चेतना, कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। इसके सिवाय चौथा परिणमन कोई भी नहीं है।

अज्ञानचेतनामें आत्मामें कर्तापनका आभास होता है। क्रोध हो जाता है, पर वह आत्माकी चीज नहीं है क्योंकि यदि वह आत्माकी चीज होती तो वह आत्माके साथ रहती पर वह आत्माके साथ कभी रहती नहीं है। आत्माका ज्ञायकभाव है जो हमेशा उसके साथ रहता है।

तीन मनुष्य थे। वे बाजारको निकले। एक मनुष्य घट (सोनेका) खरीदना चाहता था। दूसरा आदमी सोनेका मुकुट खरीदना चाहता था और तीसरे आदमीकी इच्छा सोने खरीदनेकी थी।

एक स्वर्णकारके पास सोनेका घड़ा था। वह अधिक दिनसे बिका नहीं था, इसलिये वह उसे तोड़कर मुकुट बनानेका प्रयत्न

करने लगा। तीनों आदमी इसके पास अपनी २ इच्छित वस्तुएँ खरीदने आये। जो घटका अर्थी था उसे दुःख हुआ। जो मुकुटका अर्थी था उसे हर्ष हुआ तथा जो स्वर्णका अर्थी था वह न सुखी हुआ और न दुःखी हुआ।

पर्यायकी अपेक्षा वस्तु परिणमनशील है।

जीवके जितने परिणाम हैं वे जीवके ही होंगे। आत्मा न तो किसीसे उत्पन्न हुआ और न किसीको उत्पन्न करनेमें समर्थ है।

संसारी जीवकी जितनी पर्याय होती हैं वे कर्मोदयसे होती और जीव हमेशा ही रहता तथा उसका जो ज्ञानमय स्वभाव है वह भी उसके साथ हमेशा रहता। क्रोधी होना शान्त होना ये तो पर्यायें हैं आत्माके स्वभाव नहीं।

पुराने समयकी बात है कि एक स्त्री कुआमें जीवानी डालनेके लिये गई, तथा उसकी जीवानी उसकीसे जमीन पर गिर गई। इस पर उसे भारी दुःख हुआ और वह मुनिके पास प्रायश्चित्त लेनेके लिये गई। मुनिने कहा कि यदि तुम्हारे यहाँ असिधारा व्रतधारी युगल भोजन कर लेगा तो तुम्हारा पाप कट जावेगा। इस बातमें मुनिसे पूछा कि हम कैसे ज्ञात हो कि ये असिधारा व्रतधारी हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया कि तुम अपने चौकेमें एक नीला चदोवा बाँध लो, जब वह सफेद हो जावे तब समझना कि हमारे यहाँ असिधारा व्रतधारीका भोजन हुआ है।

उस दिनसे वह भोजन कराने लगी। कई मुनियोंको और अन्य मनुष्योंको उसने खाना खिलाया पर उसका चदोवा नीलाका नीला ही रहा आया। एक समय एक स्त्री पुरुष उसके घर जीमने आये और उनके जीमते ही वह चदोवा सफेद हो गया। तब उस स्त्रीने उन लोगोंसे असिधारा व्रतधारीका मतलब पूछा। तो

पुरुषने उत्तर दिया कि जब हम दोनोंकी शादी नहीं हुई थी उस समय आर्यिकासे मेरी स्त्रीने कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा ली थी तथा मैंने मुनिसे शुक्लपक्षमें ब्रह्मचर्यसे रहनेकी प्रतिज्ञा ले ली थी। अब हम दोनों निर्विकल्प होकर रहते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि परिणाम शुद्ध होनेमें किसी विशेष गुणकी आवश्यकता नहीं होती है। हममें से ही तो वे थे। तीर्थङ्कर भी हममें से ही हुए हैं। फिर हम अपनी कमजोरी क्या बताते हैं?

जीवका जो तादात्म्य भाव ज्ञान है वह जीवके साथ हमेशा रहता है। पर्याय दृष्टिसे आत्मा कभी तिर्यञ्चमें कभी देवमें और कभी मनुष्यमें जन्म लेकर उसके प्रतिरूप शरीरको धारण करता रहता है।

पुद्गल और आत्मा एक क्षेत्रावगाह हो रहे हैं। आत्माका जो स्वरूप ज्ञायक भाव था वह कर्मोदयसे रागद्वेष मोह युक्त हो रहा है। राग द्वेष कर्मोके कारण होते हैं। रागमें राग या द्वेष करनेसे फिर कर्म बन्ध होता है, कर्म बन्धसे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। जीवके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणित हो जाते हैं। पुद्गलके निमित्तसे आत्मामें रागद्वेष आदि उत्पन्न होते रहते हैं—ये सब मिट जावें तो संसार मिट जावे।

गयामें अवस्थी नामके एक आदमी थे। उनकी २५०००) सालानाकी आमदनी थी। परन्तु वे बिल्कुल भी दान नहीं करते थे। घर भरापूरा था। लड़का था बहू थी। कुछ लोगोंने कहा कि तुम्हें कुछ दान करना चाहिये। उसने पूछा कितना दान देवें। उन्होंने उत्तर दिया ५०००) दे दो। उसने ५०००) दान किया। दुर्भाग्यसे उसका सारा घर उजड़ गया। घरमें अब सिर्फ उसकी विधवा बहू रह गयी। उसने सब परोसियोंको बुलाया

और कहा कि हम अपनी सम्पत्तिका दान करना चाहते हैं। उन्होंने उत्तर दिया हमें इसमें कोई भी एतराज नहीं। आप जो करना चाहें करें। उसने अपनी सम्पत्तिका वसीयत कर दिया। १२ हजार गरीब विद्यार्थियोंकी फीसको दिये। इस प्रकारसे सारा धन दानमें दिया। पर अपने लिये व बहूके एक लाख रुपया और जेवर वगैरह कुछ बचा लिये।

इस दानके उद्घाटनके लिये लाट साहब पधारे हुए थे। वह बहू सभामें आगया। उसने कहा—'हमारा पति मर गया अब तो सारा परदा मिट गया। हमारे तो ब्रह्मचर्यका भाव है इसलिये मेरे तो सब भाई पिता हैं।' उस सभामें उसने लाट साहबसे कहा—'तुममें विवेक नहीं है। हम अब क्या जेवर पहनेंगे, हमें जेवरकी क्या आवश्यकता है और न हमें एक लाख रुपया ही चाहिये। ये साराका सारा दानमें देंगे। हम और हमारे ससुर साहब भगवानका भजन करेंगे।'

कहनेका तात्पर्य है कि इतनी बुद्धि उस बहूको कहाँसे आगई जो परदेमें रहनेवाली बेखटके सभामें आ जावे एवं विवेकपूर्ण भाषण दे। लाभ वगैरहका त्याग करे। आत्माका आनन्द आगया। लक्ष्य आकुलता मिटानेका होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि विषयमें आनन्द ले लेवे और हम तपमें भी आनन्द न ले पावें। कषायकी मन्दता और तीव्रताका फल है।

(भाग ११। ४। ५०)

बारह

संसारकी परिस्थिति इस समय अत्यन्त भयङ्कर और दयनाय हो रही है। परिग्रह पिशाचके आवेगमें मानवने दानवका आश्रय

ले लिया है। लाखों निरपराध व्यक्तियोंकी निर्मम हत्या हो रही है। करोडोंकी सम्पत्ति अग्निदेवके द्वारा भस्म हो चुकी। हजारों मकानोंको श्मशान बना दिया। कहते क्या हैं? ऐसा स्वराज्य आजतक संसारमें किसीने नहीं पाया जो बिना लड़ाई किये ही मिल गया। ऐसा इतिहासमें कोई भी दृष्टान्त नहीं है। परन्तु यह भी तो दृष्टान्त इतिहासमें नहीं मिलता कि राज्य मिलनेपर इतनी हत्याएँ निरपराधियोंकी हुई हों। इससे यही सिद्ध होता है कि आजकलके मनुष्योंके हृदयमें धार्मिक शिक्षाका बिलकुल अभाव है। यह आजके विज्ञानका फल है।

विलायतवालोंको लोग बड़ा विज्ञानी मानते हैं और उनकी बड़ी बड़ी कीर्तियाँ आलाप करते हैं। परन्तु उन्होंने एक अणुबमसे लाखों मनुष्य और करोड़ोंकी सम्पत्तिका स्वाहा कर दिया। जो जापान ५० वर्षमें सम्पन्न हुआ था वह एक दिनमें रसातल पहुंचा दिया गया। जापानकी लोग बड़ी प्रशंसा करते थे कि उसने थोड़े ही कालमें अपने देशको सम्पन्न बना लिया। परन्तु यदि उसकी अन्तरङ्ग व्यवस्था देखें तो पता चले। उसने ४ वर्षसे चीनको नाश कम कर दिया, लाखों मनुष्योंका स्वाहा कर दिया तथा जो देश काबूमें आया उसे छिन्नभिन्न बना दिया।

मैं तो इतिहास भूगोल जानता नहीं पर इतना अवश्य जानता हूँ कि आजकलकी शिक्षा केवल अर्थोपार्जनकी और काम विषयक है। इसलिये लोगोंके हृदयमें शिक्षित होनेपर भी वह राष्ट्रीयता नहीं आई जो आजके स्वतन्त्र नागरिकको आवश्यक है। राष्ट्रीयता जबतक पूर्णरूपसे नहीं आयगी स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओंसे प्रेम न होगा और न औद्योगिक धन्धोंको प्रोत्साहन मिलेगा। यन्त्रादि द्वारा लाखों मन कपास और लाखों थान कपड़ा मिलों द्वारा एक दिनमें बन जाता है। फल यह होता है

कि इने गिने धनाढ्योंको उससे लाभ पहुंचता है या लाखों मजदूरों को मजदूरी मिलती है परन्तु करोड़ों मनुष्य और हजारों दुकानदार आजीविकाके बिना मारे मारे फिरते हैं। इसी प्रकार यन्त्रों द्वारा एक दिनमें हजारों मन तैल तैयार हो जाता है। फल इसका यह हुआ जो इने गिने धनाढ्य और सहस्रों मजदूर मजदूरी पा जाते हैं परन्तु हजारों तेली हाथपर हाथ धरे रोते हैं। कोलुआ द्वारा जो तैल निकलता था वह स्वच्छ होता था तथा जो खली निकलती थी उसमें तैलका अंश रहनेसे गाय भैंसोंको खानेमें स्वाद आता था। वह पुष्टकर होता था। इसी प्रकार शक्कर आदिके मिलोंकी भी व्यवस्था समझिये। यह तो कुछ भी बात नहीं, यदि कपड़ेके मिलोंकी व्यवस्थाका जाननेवाला लिखता तो पता चलता कि उनमें हजारों मन चर्बी लगती है। यह चर्बी क्या वृक्षोंसे आती है? नहीं कसाईखानोंको पहले आर्डर दिये जाते हैं कि इतने मन चर्बी हमको भेजो। चमड़ा कितना लगता है इसका पारावार नहीं। इतनेपर भारतवासी चाहते हैं जो गो वध बन्द हो जावे।

पाठकगण! जरा मनको शान्तकर विचारो तो सही हम स्वयं इन बातोंसे घृणा नहीं करते! पतलेसे पतला जाड़ा चाहिये चाहे उसमें अण्डेका पालिश क्यों न हो। ग्रामोंमें चले जाइये पशुओंके चरनेको भूमि नहीं! मनुष्योंके आचरणके ऊपर दृष्टिपात कर यदि कोई लिखे तो पुराण बन जावे।

अच्छेसे अच्छे अपनेको माननेवाले होटलोंमें चायके प्याले चाटते देखे गये हैं। जिस प्यालामें मांस भक्षी चाय पीते हैं उसीसे निरामिषभोजी चाय पी रहे हैं। कोई कहे क्या करते हो? तो उत्तर मिलता है अजी छोड़ो इसी छुआछूतने भारतको गारत कर दिया। इसका मूल कारण यदि देखा जावे तब

शिक्षामें धर्म-शिक्षा और सच्ची राष्ट्रीयताका अभाव ही इसका कारण है। अतः यदि देशका कल्याण करनेकी सत्य भावना है तब एक तो प्रारम्भसे धार्मिक शिक्षा अनिवार्य करो और दूसरे यह प्रतिज्ञा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये कि हम स्वदेशी वस्त्रादिका ही उपयोग करेंगे।

शिक्षाका महत्त्व इतना है जो आत्मा इस लोकको तथा छोड़ो परलोकमें भी सुखका पात्र हो जाता है। शिक्षा उसे कहते हैं जिससे प्राणियोंको सुख हो। सभी मनुष्य दुखसे भयभीत रहते हैं और सुखको चाहते हैं अतः शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा प्राणियोंको सुख हो। जिस शिक्षासे प्राणियोंका विनाश हो वह काहकी शिक्षा? वह तो एक तरहका शस्त्र है। केवल धनार्जन करना शिक्षाका काम नहीं, धनार्जन तो व्यापारसे होता है।

भारतमें ऐसे ऐसे फर्म करोड़पतियोंके हैं जो उनके मालिक साधारण पढ़े लिखे हैं यह संसार महान् दुःखोंका भण्डार है इसमें शान्तिका लाभ बिना उत्तम शिक्षाके नहीं मिलता।

प्राचीन कालमें अपरिग्रही गुरु शिक्षा देते थे जिसके द्वारा संसारी मनुष्य सुमार्गमें प्रवृत्तिकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे तथा अन्तिम वयमें गृहस्थीका भार बालकोंके ऊपर छोड़ आप संसारसे विरक्त होकर मुक्ति पथके पात्र हो जाते थे। आजकल उस शिक्षाके अभावमें केवल धन सञ्चय करते करते परलोक चले

जाते हैं और वही संस्कार अपने उत्तराधिकारीमें छोड़ जाते हैं। अतः यदि समाज और देशका उत्थान आप लोगोंको इष्ट है तब पहले शिक्षाकी व्यवस्था ठीक करो।

(जैनप्रभात, वर्ष १ अङ्क १)

सूक्ति सुधा

१ पुनीत कार्यके लिये पुनीत मनकी आवश्यकता है। आवश्यक कार्य करनेमें अप्रमादी होकर निरन्तर सावधान रहो, केवल गल्पसे आत्महित नहीं होता।

(६ । ३ । ३८)

२ सामायिक (ध्यान) में चित्तवृत्तिकी स्थिरता अवश्य ही अपेक्षणीय है। इसका यह तात्पर्य है कि कषाय असंख्यात लोक प्रमाण है। उनकी प्रवृत्ति भी क्रोधादि रूपसे विभाजित है। अत जिससे क्रोध निकल जावे वह चेष्टा हितकारी है। जिस समय क्रोध आ जावे उस समय किसी दूसरे कार्यकी चिन्तामें लग जाओ। यदि यह न बने तब स्नान करनेकी चेष्टा करो। और शुद्ध वस्त्र पहिनकर आत्म तत्त्वका पोषक जो शास्त्र है उसका मनन करो तथा क्रोधको पुष्ट करनेवाली जो सामग्री है उसे हटा दो, या आप उससे पृथक् हो जाओ। यदि यह कोई उपाय न बने तब पद्मासन बैठकर ध्यानमें तल्लीन हो जाओ। यही न बने तब १०० से १ तक उल्टी संख्या (गिनती) गिनो।

(७ । ३ । ३९)

३ शारीरिक शक्तिका विकास भी कथञ्चित् आत्मगुणके विकासका साधक है।

(१९ । ३ । ३९)

४ व्यक्तिके नामके साथ 'श्रीयुत' शब्दका प्रयोग क्या किया जाता है ? इसलिये कि यह प्रत्येक व्यक्तिको सुख जनक और इष्ट है। यद्य देशमें मृत व्यक्तिके साथ 'श्री' शब्दका प्रयोग

नहीं करते। 'श्री' शब्दका अर्थ लक्ष्मी है, लक्ष्मीको धन कहते हैं, जैसे यह लक्ष्मीपति है, अर्थात् धनपति है, अर्थात् धनवाला है परन्तु धन जीवसे भिन्न पदार्थ है, उसका जीवके साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं, अत श्रीमानसे धनी मानना प्राय असङ्गत है।

(२५।१।१६)

५ वही जीव धन्य है जो आपत्ति-सम्पत्ति, दुःख सुख, निन्दा-प्रशसा, विषाद और हर्षमें सदा समभाव रखता है।

(१९।१।२९)

६ किसीकी मिथ्या प्रशसा करना अपनेको वञ्चित करना है।

(३०।५।२९)

७ बहुकथासे अपेक्षा अल्प कार्य करना लाभदायक है।

८ ससारके हितकी चेष्टा करना आकाशमें पुष्पोंकी प्राप्तिकी तरह विफल प्रयत्न करना है।

९. अन्यको उपदेश देकर सुधारनेकी अपेक्षा अपनेको सुधारना अच्छा है।

१० ससारमें अति बेईमानी और डकैती है। जितने बड़े-बड़े कार्य होते हैं उनमें मजदूरोंकी मजदूरी काटी जाती है। पक्ष भी जाती है!! सभी प्रकारसे गरीबोंको दबाकर उनकी शक्तिका ह्रास कर उन्हें निर्बल बनानेकी चेष्टा की जाती है!!! इस ससारी आत्मामें एक ऐसी प्रबल इच्छा रहती है कि ससार भरके प्राणी हमारे अधीन रहें और ससारका सम्पूर्ण विभव हमारे यहाँ आ जावे। ऐसा होना असम्भव है परन्तु आशाकी शान्ति नहीं होता! इसीसे आकुलित होकर सम्पूर्ण जगत् दुःख समुद्रमें निमग्न हो रहा है।

(११०।२१)

११ अपने धनका दान देकर परायी आशा करना मूर्खोंकी चेष्टा है। पराए सुन्दर सरस स्वादु भोजनकी अपेक्षा अपने घरका सादा, नीरस निस्वादु भोजन अच्छा है।

(२२ । ७ । ३९)

१२ केवल परमेश्वरके गुणगानसे कोई परमेश्वर नहीं होता, भोजनकी कथासे कोई तृप्त नहीं होता।

(२० । १ । ४०)

१३ आजकल ऊपरी वेषकी महिमा है। इसीको देखकर लोग ठगाये जाते हैं। परन्तु किसी वेषको देखकर उसका अन्त रङ्ग जाने बिना उससे ग्लानि करना भी मूर्खता है।

(२१ । १ । ४०)

१४ संसारके कार्य देखकर आश्चर्य करना उन्मत्तता है। अनन्त पदार्थ हैं, उनके अनन्त परिणमन हैं, अतः इसमें आश्चर्य ही क्या है? जिस पदार्थमें जो-जो शक्ति है कारण सामग्रीके सद्भाव तथा प्रतिबन्धकके अभावमें उसका कार्यरूप होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

(२२ । १ । ४०)

१५ आकुलताका मूल अज्ञान है, और अज्ञानका मूल मिथ्यादर्शन है। यह वह वस्तु है जो अनेक प्रकारसे अभिप्रायमें विकल्प उत्पन्न करता है। वास्तवमें यह पदार्थ अनिर्वचनीय है। इसके सद्भावमें जो जो अनर्थ होते हैं उन सबका मूल कारण यही है। इसकी महिमा अचिन्त्य है, संसारमें जितने मत हैं, इस ही का माहात्म्य है।

(२ । २ । ४०)

१६ कार्य करनेकी आन्तरिक इच्छा होनी चाहिये तभी वह उस ओर उद्योगशील हो सकता है। केवल लेख लिख देने,

भाषण दे डालने या विवाद प्रतियोगितामें भाग ले लेने मात्रसे शुद्ध नहीं होता।

(२।१।५०)

१७ सार तो यही होता है जहाँ है परन्तु उस सारके लिये असार वस्तुका भी आश्रय लेना पड़ता है। दहीमें घी है परन्तु निकालनेके लिये पानीका आश्रय लेना पड़ता है। फिर भी औंच लेनेकी आवश्यकता रहती है अन्यथा अन्तर्मुहूर्तबाद अभक्ष्य हो जानेका भय है।

(१०।१।५०)

१८ सङ्कोचका त्याग करो, या त्यागका राग करो।

(२१।२।५०)

१९ आजकलका समय अर्थकी लोलुपताका है। उसके लिये अनेक अनर्थ करते हुए भी मनुष्योंकी प्रवृत्ति शुभकी ओर या उस अर्थके त्याग करनेकी ओर नहीं होता। जिसमें अनेक प्रकारकी हिंसा होती है फिर भी हम उसका त्याग करते हैं।

(१।१।५०)

२० इस जगतमें जितने पाप होते हैं उन सबका मूल कारण मिथ्यादर्शन है। उसके उदयमें हम पर वस्तु और अपना विवेक नहीं कर सकते। और जब विवेक नहीं तब उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं। हिंसा भी परको ग्रहण करनेके लिये होती है क्योंकि जो मांसका भक्षण करता है वह जीव घात करता है बिना जीव घातके मांसकी उत्पत्ति नहीं होती।

(४।१।५०)

२१ चिन्ताज्वालाका आदि कारण सङ्कल्प है। सङ्कल्प मूलक ही विकल्प होता है। यह विकल्प ही अनुकूल पदार्थोंका संग्रह और प्रतिकूल पदार्थोंका प्रतिरोध करानेमें कारण है।

(२०।४।५०)

२२ परसे ममत्व करना अपनेको कारागारमें डालनेके सदृश है। जो पर वस्तुमें ममत्व करता है वह चोर कहलाता है, उसे राजदण्ड दिया जाता है, वह निन्दाका पात्र होता है। इसी तरह जो परको अपनी मानकर मूर्च्छा करता है वह रागादिक परिणामों द्वारा मोहादिक कर्मोंके कारागारमें डाल दिया जाता है।

(१०।४।४०)

२३ समाजमें बाह्य व्यवहारसे ही मनुष्य उत्तम मध्यम और अधम श्रेणीका पात्र होता है। अन्तरङ्गकी निर्मलता बाह्य क्रियाओंसे अनुमापित करना प्रायः असम्भव है।

(७।५।४०)

२४ 'परमेश्वरमें मन लगाओ' इसका तात्पर्य यह है कि परमेश्वर राग द्वेष आदि उपद्रवोंसे रहित जीव द्रव्यकी एक पर्याय है। उसको जाननेसे रागादिक कलङ्क होनेकी सम्भावना नहीं। परमेश्वरकी भक्ति करनेसे परमेश्वर शुद्ध आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो जाता क्योंकि ज्ञेय और ज्ञायकका तादात्म्य सम्पन्न नहीं। हाँ परमेश्वरकी उपासनासे यदि चित्तवृत्ति निर्मल हो जावे तब मोहके अभावसे आत्मा स्वयं परमेश्वर हो जाता है और उस कालमें 'सोऽहं' यह विकल्प भी मिट जाता है।

(१५।५।४०)

२५ मार्गका मिलना कठिन नहीं। साधु समागम, विद्वद्गोष्ठी, एवं शास्त्राध्ययन के द्वारा मार्गका ज्ञान होना सरल है परन्तु उसपर चलना ही अति कठिन है। भोजन कर लेना कोई कठिन बात नहीं, जितना कि उसका पचाना कठिन है। प्रायः मनुष्य ऊपरी बातोंके बनानेमें चतुर रहते हैं और वे अपनेको सर्वोत्तम सिद्ध करना चाहते हैं। न जाने इस लोकैषणासे मनुष्योंने अपने असली स्वरूपका घात करना क्यों पसन्द किया है?

(८।६।४०)

७६ व्रत करनेसे तात्पर्य चित्त शुद्धिका है। यदि वह न हुई तब कोई तत्त्व नहीं। जिस व्रतके लिये अन्नका सादा भोजन छोड़कर बहुमूल्य पदार्थ या फल संग्रहित किये जाय, ग्रहण किये जाय, वह व्रत नहीं, अव्रत है। धर्म नहीं, अधर्म है। जहां राग परिणाम है वहां धर्मकी गन्ध नहीं।

(१६।६।५०)

७७ जो काम जिस समय करना है उसे उसी समय करो। समयकी उपेक्षा आत्माके अकल्याणका मार्ग है। प्रातःकाल आत्माकी परिणति निर्मल रहती है, उसी समय जो शुद्ध आत्म-लाभ होनेके योग्य सुअवसर है उसे उपयोगमें लाओ।

(१२।७।५०)

७८ "स्त्री समाज मनुष्यके बन्धनकी बेड़ी है" यह कहना हमारी अज्ञानता है। बन्धनका मूल कारण अपनी आत्माकी विभाव परिणति है और उस विभाव परिणतिमें यह मन नोकर्म है। यह सर्वथा विभाव परिणामके उत्पादक नहीं।

(२८।७।५०)

७९ मनुष्योंके नाना प्रकारके परिणाम होते हैं। उनके होने में उपादान कारण आत्मा है और बाह्य कारण कषायोदय है।

(२९।७।५०)

८० आत्माका सुख इसीमें है कि निरन्तर ज्ञाता द्रष्टा बना रहे। ज्ञाता द्रष्टाका अर्थ है कि पदार्थोंको देखे जाने परन्तु उनमें न तो मोह करे और न रागद्वेष करे। यह तब हो जब कि पर पदार्थमें निजत्व बुद्धि मिटे। निजत्व बुद्धि मेटनेका कारण भेदज्ञान है, भेदज्ञानका कारण आगम ज्ञान है, आगम ज्ञानका कारण विद्योपार्जन है, विद्योपार्जनका कारण विनय और सदाचार

है, विनयका कारण निरभिमानता और सदाचारका कारण विषयोंमें लोलुपताका अभाव है।

(३०, ११ । ० । ४०)

३१. परका वैभव देख ईर्षा मत करो। अपने आत्म द्रव्यमें अनन्त पदार्थोंके अवलोकनकी जो शक्ति है उसका विकाश करो। विकाशका कारण अपने स्वरूपको देखनेका अभ्यास करो। अभ्याससे कठिनसे कठिन कार्य सरल हो जाते हैं किन्तु अभ्यास का यह क्रम सतत होना चाहिये। भङ्ग होना कार्यका बाधक है।

(३० । ८ । ४०)

३२ मनुष्यको माया और कीर्ति कामिनीसे सदा बचते रहना चाहिये।

(२६ । १० । ४०

३३ अन्तरङ्गकी बातको व्यक्त करनेसे भी लाभ नहीं, क्योंकि उसमें यह भाव रहता है कि देखो हमारी परिणति इतनी सरल है कि अपनी भावनाको व्यक्त कर दिया। अत उत्तम मार्ग तो यह है कि निरन्तर अपने भावोंको शुभ और अशुभके कलङ्कसे रक्षित रखें।

(२४ । ११ । ४०)

३४ जो समय जाता है वह नहीं आता। मत आवे। पर्यायका जाना आना तो होता ही रहता है। हां, यदि पूर्वकी पर्यायें असत्कार्यकी उत्पादक थीं और चली गईं, अच्छा हुआ। उनका पश्चात्ताप करना निरर्थक है। वह काम करो जिससे इस चक्रमें ही न फँसना पड़े।

(१ । १२ । ४०)

३५ निसंकोच अपनी प्रवृत्ति करो। भय कषाय है और यही आत्माको पतित करनेमें सहायक है। किसीके प्रभावमें

आकर अपने पौरुषको भूल जाना श्यालवृत्ति है। सिंहवृत्ति बनो। सिंहका बच्चा गजराजसे भी नहीं डरता।

(२३।१२।४०)

३६ 'कोई किसीका नहीं' यह केवल अज्ञानी जीवोंको समझानेकी प्रक्रिया है। वस्तु स्वरूपसे कोई किसीका नहीं परन्तु मोहके उदयमें सबके सब हैं। यदि परमार्थ दृष्टिसे यह मान लिया जाय और व्यवहारका लोप कर दिया जाय तो परस्परमें हमारा जो गुरु शिष्य, पिता-पुत्र, आदि व्यवहार है सभीका लोप हो जायगा। और इसके न होनेसे संसार मोक्ष पदार्थोंका अपलाप हो जावेगा।

(२४।१२।४०)

३७ केवल बोझेसे सिर दुखता है न कि बाहर। इसी तरह जीवमें ही सुख दुख है न कि बाहर।

३८ आकुलताके चले जानेसे विलक्षण सुख होता है यह सामान्य सुख तो सबमें है, फिर अदा हमारेमें भी है।

३९ सूर्यसे प्रकाश हो या दीपकसे। इसी तरह सिद्धोंके सुख हो या अविरतिके। अविरतिके उस सुखका स्वाद आनेमें घनको चले जाते हैं। यहाँ विशेष सुख निराकुलता होना ही है।

४० बारहवें गुणस्थानमें मोहके अभावसे सुख तो हो गया परन्तु अनन्त नहीं बनाया। अनन्त वहीं बनाया जहाँ ज्ञान अनन्त होता है।

४१ ज्ञानने जता दिया कि राग द्वेष ये हैं। उनके लिए चारित्र ही धारण करना पड़ेगा। उससे ही मोक्ष है।

४२ आपमें रुचि होनेसे ही हम मालूम होता है कि अब हमारा संसार तट निकट है।

४३ नियम बिना कार्य नहीं चलता। सूर्य या दिया क्या

करेंगे। ज्ञानने प्रगट करना चाहिए वह इस पञ्चमकालमें भी हो सकता है।

४४ मोहके नाशसे भी मोक्ष है और मोहसे भी मोक्ष है।
(२६।८।५१)

४५ कषायके उदयमें कार्य होता है। महाव्रती भी महाव्रत नहीं करता, महाव्रत होते हैं। जैसे सम्यग्दृष्टि विषयभोग नहीं चाहता परन्तु वे होते हैं।

४६ सामान्य और विशेष वस्तुमें दोनों हैं। विशेषका परिणमन होता है, सामान्यका नहीं।

४७ चीज शुद्ध नहीं, केवल व्यामोह है। उसी व्यामोहको छेदनेवाली प्रज्ञा (ज्ञान) छेनी है।

४८ अब अनन्तकाल भटके अब शेष नहीं भटकना। सावधान होओ, जो गई सो गई।

४९ ज्ञानको उपार्जनकर उसका फल नहीं लिया तो क्या

५० रागादिक मेटनेसे आत्मा नहीं मिटता बल्कि आत्मा शुद्ध हो जाता है। रागादिक जो औपाधिक हैं वे मिट जाते हैं ऐसा कहनेमें कोई हानि नहीं है।

५१ भेद विज्ञान तो एक दर्पणसे भी होता है। क्या दर्पणमें तुम घुस गए, नहीं, कोई किसीमें नहीं जाता। समझनेके लिये केवल दृष्टिकोण बदलना है।

५२ शरीरके पीछे प्रतिज्ञा भङ्ग कर देना कोई अच्छा कार्य नहीं। जब अपनी चीज अपने काम नहीं आई तब दूसरा क्या आएगा ?

५३ सिद्धान्तका सेवन करना चाहिए। ज्ञानसे ही काम नहीं चलेगा। पापसे ही दीनता होती है बिना पाप कौन किसीकी सेवा करेगा।

५४ कषाय ही निग्रह करने योग्य है, कषाय नाशमें ही सुख है।

५५ संसारके मार्गका निश्चय होनेसे मोक्षके मार्गका निश्चय हो जाता है।

५६ एक क्षमासे ही सब गुण सिद्ध हो जाते हैं। क्रोधका न होना ही क्षमा है।

५७ बिना पानी छुए जैसे तैरना नहीं आता वैसे ही बिना मोह राग-द्वेषके त्यागे अपना रूप प्रकट नहीं हो सकता।

(२७।८।५१)

५८ शुद्ध परिणामोंसे क्रियाजन्य श्रम होता है अन्यथा कष्ट है।

५९ जो हमारी थालीमें आगया वही अमृत है।

६० भेद विज्ञान होनेपर कष्ट कष्ट नहीं उसके अभावमें कष्ट है।

६१ प्रमाद हिंसाका मूल है, अभिलाषा विषयका मूल है।

६२ शल्य छूट जानेसे ही आनन्द है।

६३ परम शुक्लध्यान अपने ही आपमें होता है कोई मलीन नहीं कर देती।

६४ दूसरेको कथा कहनेमें सार नहीं। अपने परिणामोंके अनुकूल कार्य करो यही सम्यग्ज्ञान है।

६५ जिस कार्यके उत्तर कालमें आकुलता न हो वही त्याग है। नहीं तो त्याग नहीं।

६६ धर्ममें मायाचारी मत करो, मायाचारी कभी सुखी नहीं। कुटिलता जानेसे मायाचारी गई, विश्वास होगया तो इसमें क्या चला गया?

६७ दान पूजन सरलभावसे सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं।

(२८।८।५१)

६८ सम्यग्ज्ञानी बन्ध आदिको जानता है। कर्ता नहीं, नेत्रकी तरह।

६९ सुखका कारण मोहका अभाव है, धन नहीं।

७० दुखीको दान दिया इससे क्या किया, अपना दुख दूर किया, न कि दूसरेका।

७१ सम्यग्ज्ञानी रागादिकका भोगी नहीं।

७२ हे भगवान! हमने चौरासी लाख नाटक दिखाए, इसका फल दो यानी हमारे भव भ्रमणको मेट दो, अगर हमारे यह नाटक अच्छे नहीं लगे तो इस नाटकको मेट दो।

७३ पुद्गलसे पुद्गलका उपकार हुआ, तुमने क्या किया? इसका अभिमान छोड़ो। अपने शरीरका खिलानेमें भी लज्जा आती है इससे मालूम होता है कि परद्रव्य बुरा है।

७४ एक वस्तुका जब दूसरी वस्तुमें सम्बन्ध नहीं तब तुम कर्ता भोक्ता कैसे बन गए, विचार करो।

७५ हा व्यवहारमें रागादिक भावकर्मोंका आत्मा कर्ता भोक्ता है।

७६ मिथ्यादृष्टिको मिटा देना कहाकी बात है, मिथ्यात्वका नाश करना चाहिए।

७७ सम्यग्दर्शनका फल ससार बन्धनका टूटना है।

७८ मिथ्यात्वके उदयमें धर्म कटुक लगता है। मिथ्यात्वमें अपने परिणाम बदलते हैं पदार्थ जैसेका तैसा है।

७९ भैया! जिस ससारके दुखसे भगवान डर गए, तुम नहीं डरते? बडे बलवान हो। जो सर्प घरमें बैठा है, उसे निकालो, यही सवेग है।

८० जिन्हें ससारसे भय नहीं वे क्या डरेंगे?

८१ अपनी आत्माकी रक्षा करनी सच्ची दया है।

८२ मोहमें भलाई नहीं चौपट हो जाता है।

८३ सत्यसे बड़ी प्रतिष्ठा है। सत्यसे उपकार हो जाता है। लिखो तो सत्य, बोलो तो सत्य, सत्य धर्ममें मन दुख दूर हो जाते हैं।

८४ कर्मके उदयको कर्त्ता समझो। उनके लेनेमें क्या दुख धर्मात्मा क्यों बनते हो?

८५ जैनधर्मकी कोई भी क्रिया रागद्वेष निवृत्ति रूप है। चारित्र भी उसहीके लिए है बार बार चिन्तवन करनेसे मोहका अभाव हो जाता है। कायरता मत करो—पुरुषार्थी बनो।

८६ द्रव्य दृष्टिसे वही कर्ता वही भोक्ता है, पर्याय दृष्टिमें कर्ता भिन्न है, और भोक्ता भिन्न है।

(२९।८।५१)

८७ सूत्र रहित मोती हार नहीं कहलाते, इसी तरहमें क्षणिक आत्मा नहीं बनता, चैतन्यका सम्बन्ध चाहिए कर्तृत्व और कर्मत्व जुदे नहीं हैं।

८८ चेष्टा और चेष्टा-फलका भोगनेवाला आत्मा है।

८९ मिट्टीके घड़ेमें मिट्टी मौजूद है कुम्हारका आत्मा नहीं घुस गया, गुरु शिष्यको अपना ज्ञान नहीं देता, आँखमें रोशनी सूर्य नहीं देता।

९० रागद्वेष दूर करनेका भाव होगा तभी श्रावक-मुनि-धर्म रुचेगा।

९१ अपनेको बड़ा समझा, तुम्हारा ठाठ है।

९२ दूसरेमें दूसरी वस्तु नहीं जाती। १० दिनमें ही संयम करे। भुजुटकी तरह २५० दिनके लिए निश्चलता होनी चाहिए।

९३ ज्ञानमें चञ्चलता कषायसे होती है उसको छोड़ना चाहिए। इच्छाको दूर करो, मनकी शुद्धतामें सब शुद्धता है।

मद करना अच्छा नहीं। जिनके ज्ञान होता है, उनके रक्षाकी बात सूझती है।

९४ स्नान आदिसे शरीरकी पवित्रता है, आत्माकी नहीं, मछली और धीवर जलमें ही रहते हैं तब भी पवित्रता नहीं।

(१०।८।५१)

९५ पदार्थ दुखी नहीं करता, जीव स्वयं दुखी होता है, लोग बाह्य वस्तुमें मोह करते हैं और कहते हैं राग नहीं घटता क्या करें।

९६ सत्कारोंके कारण चारित्र नहीं होता सब शान्ति नहीं मिलती।

९७ तलवारसे हिंसा होती है तलवारको सजा नहीं।

९८ मैल निकालनेके लिए कपड़ेको गरम पानीमें देना पड़ेगा। इसी तरह विभाव हटानेको ज्ञानमें ज्ञेयका प्रवेश नहीं। शुद्ध स्वभावका उदय है।

९९ मोहकी कभी अवस्थामें ज्ञान आता है, ज्ञान ज्ञान बन जानेपर फिर शुद्ध नहीं बनता। यह ज्ञानमय है सो भी ज्ञानकी उपासना नहीं करता है।

१०० आलस्य बड़ा भारी शत्रु है, व्रत उपवास आदिका यही फल है कि स्वाध्यायपूर्वक ज्ञान हो।

१०१ राग छोड़ो, वस्तु छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वस्तु तो रागके अभावमें स्वयं छूट जायेगी, रोटी खानेसे, पेट तो खुद भर जाएगा।

१०२ संयमके बिना इहलोक और परलोकमें काम नहीं चलता है। आत्मामें निर्मल परिणामोंसे ही काय बल मिलता है। अपने उपयोगको सम्हालो, चित्तको वशमें करो। दया अनुकम्पा करो, परमार्थको विचारो। कम बोलो, गम खाओ।

१०३ जैसे नेत्र बिना सुन्दर मुख और शरीरकी शोभा नहीं उसी तरह संयमके बिना मनुष्य जन्मकी शोभा नहीं।

१०४ संयमीसे दुनियाकी रक्षा होती है, माँ बाप संयम पालें तो लड़के भी संयम पालेंगे। जीवकी रक्षा करो एक घड़ी भी मत बिसारो, यही मनश्रेष्ठ है।

(२। १८। ४१)

१०५ प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना ही चारित्र है, अच्छी चीजके होते क्या कायर बनो?

१०६ सम्यग्दृष्टिको करना पड़ता है, कर्त्ता नहीं। इसमें संयमको करना पड़ता है।

१०७ जो दान देते हैं उसको अपने स्वाध्यायकी उन्नतिमें लगाते हैं।

१०८ शल्य मिटाना चाहिए, चौथा काल अभी हो जायगा।

१०९ सम्यग्दृष्टि फल भोगनेमें उदास है, भावना अच्छी बनाओ जिससे रागादिक घटें।

११० अपनेको सम्यग्दृष्टि समझो तभी चारित्रकी सिद्धि होगी, नहीं तो ढोंगमें रहोगे।

१११ किसीने श्रावक अवस्थामें दान देनेको कहा और वह मुनि हो गया तो कौन माँगे और कौन दे?

११२ पत्ता हरा रहता है तबतक रस खींचता है, पकनेपर गिर जाता है। सम्यग्दृष्टिका यही माहात्म्य है।

११३ पूरा बन गया, अब और देनेकी आवश्यकता नहीं। मझार चेतनाको हटाओ, वही जीव निराकुल हो सकता है।

११४ शास्त्रका रूप रस, गन्ध, अध्यवसान आदि ज्ञान नहीं ज्ञानमें आते हैं।

११५ द्रव्य लिङ्ग ग्रहण मत करो आत्माको नग्न करो।

द्रव्य लिङ्गसे मोक्ष मानना मिथ्यात्व है। पाँच पापोंके त्यागसे और मिथ्यादर्शनके अभावमें व्रत होते हैं।

(१।९।५१)

११६ सामान्य विशेषात्मक तत्त्व है, अभेदकी दृष्टिमें भेद मिथ्या है। अज्ञान निवृत्ति और आनन्द दोनों ही ज्ञानके फल हैं।

११७ वीतरागताका दर्शन मूर्तिसे होता है। पर मूर्तिमें वीतरागता है नहीं, वह तो आत्माकी है। शब्दको पूज्य मानते हो, मूर्तिको माननेमें क्या दोष है?

११८ धर्मात्मे धर्मकी प्रतीति होती है। जड़ अपने मोहसे दुखी होता है। धर्म अपनेमें ही है, कहीं और नहीं।

११९ शरीरको जीव कहना बड़ी भारी विरुद्धता है। क्या लाभ लिया? जिस अज्ञानसे मोहको ग्रहण किया उसे छोड़ा। मोह छूट जायगा तो आत्मा भिन्न हो जायेगी।

१२० रागका त्याग असली त्याग है। धन आदिकके पीछे क्यों पड़े हो, गुणस्थानोंके त्यागे बिना सिद्ध पद नहीं मिलता।

१२१ औषधि दान दो, रोगादिक दूर होंगे, दीन दुखियों का दान दो, करुणा बुद्धि करो। त्याग गुण सीखना बड़ी भारी बात है। दान सबको करना चाहिए।

(२।९।५१)

१२२ विकल्प सहित वचन विकल्पमय हैं, निश्चय और व्यवहारमें क्या भेद है? निश्चय अभेद रूप है दृष्टान्त रहित है, भगवान दोनों नयोंका स्वरूप जानते हैं, ज्ञाता दृष्टा हैं, नयके पक्षपात रहित हैं। केवल व्यवहारको अनुभव करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। वस्तु व्यवहार करनेके लिए व्यवहारकी आवश्यकता है। तीर्थकी स्थितिके लिए दोनोंकी जरूरत है। कोयलेकी, कण्डे-

की अग्नि यह व्यवहार नय है। अग्निको छूना निश्चय नय है। इन दोनो नयासे अतीत श्रद्धानुभूति है।

१२३ शुभ परिणामाके लिए मूर्तिका आश्रय लो।

१२४ अत स्वपरका स्वरूप जानना चाहिए, करणानुयोग, चरणानुयोग सभीको जाननेकी जरूरत है।

१२५ ध्यानकी पूर्वावस्था भावना है। थिरता ध्यान है सो तप है, समितिका पालन प्रमादयोग हटानेके लिए है, महाव्रत रक्षाके निमित्त हैं, दोषोंको दूर करना चाहिए।

१२६ शरीर तो पर है, विषयोंमे रागादिक निवृत्ति इन्द्रिय सयम है, और प्राणियोंपर मैत्रीभाव इन्द्रिय सयम है। परिग्रहमें आकुलता होती है, मुनिको नहीं होती।

१२७ अरिहन्त पद आकिंचनतामे मिलता है।

१२८ विवेक उत्पन्न करा यही आकिंचन है।

१२९ यह विषय मेरे नहीं, मैं क्या मेरान करूँ। परमेष्ठीके आकिञ्चन धर्म है।

१३० तीर्थङ्कर मोक्षमार्गमे आकिञ्चनताके प्रकारसे लगे। यहाँ उपाय किया वहाँ मोक्ष मिला।

१३१ ऋषिगण सदा वन्दनीय हैं, पूज्य हैं, यह आकिञ्चन्यका प्रकार है। दुष्ट विकल्पोका त्याग करो।

(१।९।५१)

१३२ द्रव्य लिङ्गीसे सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ है।

१३३ नदियोंमे समुद्र नहीं, समुद्रमें नदियाँ हैं, प्रमाणमे दोनो नय हैं नयमें प्रमाण नहीं। यही पदार्थोंके जाननेका रास्ता है। यह अपने अन्दर है, भगवानने दिखला दिया। भगवान बतानेवाले हैं, बनानेवाले नहीं, सूर्यकी तरह।

१३४ भगवानकी गृहस्थ अवस्थामे सुन्दरता कर्मसे थी,

केवलज्ञानकी सुन्दरता कर्मके क्षयसे है। यह स्वाभाविक होती है,
यही अन्तर है।

१३५ सिद्ध भगवानके पूरा भार उतर गया, और सम्य
ग्दृष्टिके सरसों बराबर रह गया।

१३६ आत्माका कर्तव्य समझकर ब्रह्मचर्यका पालन करो
जम्बूस्वामीकी तरह।

१३७ आप यह दशधा धर्मको यथाशक्ति पढ़ा, सुन
सुनाया, मनन किया क्या आनन्द आया? इसका अनुभव जिसरे
हुआ हो, सो जाने। पूर्ण आनन्द तो इसका परम दिगम्बर दीक्षा
के स्वामी श्री मुनिराज जाने। आंशिक स्वाद तो व्रतीके भी आत
है, क्योंकि इस पवित्र दशधा धर्मका सम्बन्ध उन्हीं पवित्र आत्मा
ओंसे है। व्यवहारस्त तो इसकी गन्धको भी तड़फते हैं, क्योंकि
व्यवहार करना अन्य बात है और उससे धर्म मानना अन्य बात
है। व्यवहारकी उत्पत्ति मन, वाणी, काय और कषायसे होती
है और धर्मकी उत्पत्तिका मूल कारण केवल आत्मपरिणति है।

(४ । ९ । ४१

१३८ पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आयु बीत गई परन्तु तृप्तिक
अंश भी नहीं पाया। केवल अन्तरङ्ग तृष्णा ही इनमें प्रवृत्ति
कराती है। तृष्णाका मूल अभिलाषा है तथा हिंसादिकका मूल
प्रमाद है।

(७ । २ । ४४

१३९ दयालु मनुष्य परोपकार कर सकता है परन्तु आज
कल दयाके भाव नहीं।

(१४ । ३ । ४४

१४० 'प्राणियोंका कल्याण हो' ऐसी चिन्ता करना भ
महती अज्ञानता है। जब तुम्हें यह निश्चय है कि जो भगवान

ज्ञानमें आया वही होगा तब क्या तुम उसको अन्यथा कर सकते हो ? नहीं, तब तुम केवल अपनी कषाय परिणतिसे संक्लेशताके पात्र क्यों होते हो ? सब पदार्थोंसे ममता त्यागो, केवल बननेका प्रयत्न करो।

(२२।५।४४)

१४१ अनेक मनुष्य आत्मचिन्ता न कर, अन्यकी चिन्ता द्वारा, आत्म कल्याण करनेकी अभिलाषा करते हैं, यही भ्रम संसारका मूल कारण है।

(२६।५।४४)

१४२ धन्यवाद देनेकी परिपाटी प्रायः उत्तम भी है और दूषित भी है। बहुतसे मनुष्य जहाँ कार्य करनेको प्रोत्साहित होते हैं वहाँ बहुतसे लोभमें अपना सर्वस्व भी खो देते हैं।

(३१।५।४४)

१४३ आजकल प्रायः लोगोंकी रुचि ऊपरी ठाठमें रहती है। अभ्यन्तर धर्मके मर्मको अल्प मनुष्य ही जानते हैं।

(२९।६।४४)

१४४ आजकल सभी मनुष्योंमें त्रुटि पाई जाती है। जो कोई व्रतादि धारण किये हैं वे कुछ न कुछ अंशमें सदोष हैं। और जो मानादि कषाय कर व्रत पालन करते हैं उनका व्रत पालना चरणानुयोगके अनुसार शुद्ध होने पर भी अन्तरङ्ग मलीनताके कारण मोक्षमार्गका साधक नहीं। मोक्षमार्गमें अन्तरङ्ग सम्यग्दर्शन होना चाहिये। जिनके सम्यग्दर्शन है उनके बाह्यमें व्रत भी न हो तब भी वह जीव देवगतिको छोड़कर अन्य गतिका बन्ध नहीं करता।

(११।६।४८)

है। चञ्चलतासे इष्ट सिद्धि नहीं, एकाग्रता नहीं अतएव ध्यान सिद्धि भी नहीं।

(२।१०।४४)

१५२ विवेक पूर्वक की गई भक्ति ही कल्याणकारिणी है। भक्ति उसकी उपयोगिनी है जिनके रागादि दोष व आवरणादि कर्म दूर हुए हों। उसे आप्त कहते हैं।

(१०।११।४४)

१५३ संसारमें सभी मनुष्य उत्कर्ष चाहते हैं, कुछ हानि नहीं परन्तु उसके अभ्यन्तरकी प्रभुताका अभाव है, यही आत्मोत्कर्षका बाधक है। यदि यह न हो तब कोई हानि नहीं। जगतका मूल कारण यही ईर्षा है।

(१४।१२।४४)

१५४ किसी मनुष्यसे दैन्य व्यवहार न करना। मनुष्यकी तो बात छोड़ो परमात्मासे भी दैन्य शब्दों द्वारा प्रार्थना न करना। होगा वही जैसी परिणामोंकी निर्मलता रहेगी। कोई कुछ नहीं कर सकता, केवल हमारे विकल्प ही हमें दुखदायी हैं।

(१५।११।४४)

१५५ यह पापी पेट है जिसके लिये मनुष्यको संसारके अनर्थ करना पड़ते हैं। इसका कार्य उदरपूर्ति-भोजन है। भोजन की इच्छाका नाम ही आहार है। इस आहार संज्ञाके कारण संसारमें महान् अनर्थ होते हैं। अनर्थकी जड़ भोजनकी गृध्नता है। अच्छे अच्छे महान् पुरुष इसके वशीभूत होकर जो जो क्रियाएँ करते हैं वह किसीसे गुप्त नहीं। भोजनकी लालसा अच्छे अच्छे पुरुषोंका तिरस्कार करानेमें कारण होती है।

(२१।५।४६)

१५६ पदार्थसे भिन्न आत्माका निश्चय कर जो पर पदार्थोंमें

राग-द्वेषका त्याग कर देता है वही पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करने वाला होता है। लौकिक मनुष्य केवल जननेन्द्रिय द्वारा विषय सेवनको ही ब्रह्मचर्यका घात मानते हैं परन्तु परमार्थसे सभी इन्द्रियों द्वारा जो विषय सेवनकी इच्छा है वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यकी घातक है।

(२९ । ५ । ४८)

१४७ अदत्त वस्तुके ग्रहण करनेका भावमात्र चोरी है। चाहे वस्तुका ग्रहण हो चाहे न हो। आत्मातिरिक्त जो भी वस्तु है पर है। आत्माका वास्तव रूप ज्ञान-दर्शन है। रागादिक औदयिक भाव हैं, अतएव वे औपाधिक हैं। उनको निज मानना चोरी है। पर वस्तु न ग्रहण हुई और न होती है उसे निज माननेका भाव ही चोरी है।

(३० । ५ । ४९)



दैनन्दिनी के पृष्ठ



दैनन्दिनी के पृष्ठ

वि० सं० १९९३–९४

संसारका सर्व सम्मत दुःखका आलय अभिमत है परन्तु जब विचार किया जावे तब दुःखका कारण केवल स्वीय अज्ञानकी परिणाम है। आत्माकी विभाव परिणतिका नाम ही रागादिक है। अन्य संसार कुछ नहीं। जो शास्त्रमें चतुर्गतिरूप है यह उसका कार्य है अतः रागादिककी निवृत्ति ही मोक्षका मार्ग है। इसके विरुद्ध रागादिकी प्रवृत्तिका नाम ही संसार है।

(प्रथमभाद्र बदी ९, वि० सं०१९९३)

जहाँपर अधिकांश अहम्मन्य पुरुषोंका समागम हो वहाँपर रहना आत्माके संयमका घात है। विद्वानोंके समागममें अपमानित होकर भी रहनेमें हित होसकता है किन्तु मूर्ख मण्डलीके समागममें आत्मा जघन्य प्रवृत्तिके सन्मुख हो जाता है।

पवित्रताका कारण स्वात्मभावना है। समयपर मन लगाया। समयका समागम कठिनतासे प्राप्त हुआ है अतः इसका उपयोगकर संसारका अन्त करना ही अपना कर्तव्य समझो।

(प्रथम भाद्र बदी १०)

स्थायी शान्ति तभी आती है जब कार्यके करनेके पहिले अशान्तिसे चित्तकी व्यग्रता न हो।

(प्रथम भाद्र सुदी २)

केवल पराराधनमें काल जाता है यही संसारसे पार न होनेका मुख्य हेतु है।

यदि कल्याणकी अभिलाषा है तो अपनेसे जो उत्तम पुरुष है उनके सहवासमें काल यापन करो। मूर्खोंका सहस्र आदर उत्तम चरित्रवान् पुरुषोंके तिरस्कारके सामने तुच्छ है।

(द्वितीय भादों वदी ९)

लोक प्रसन्नताके निमित्त अपनी आत्माको गर्तमें पटकना बुद्धिमत्ता नहीं।

(द्वितीय भादों सुदी २)

केवल बातासे कार्य नहीं चलता। धर्ममें दृढ अध्यवसाय ही सुखका कारण है।

(कुवार सुदी ११)

विचार धाराकी सुचारुता इसीमें है कि विकल्पोंकी परम्परा न आवे।

(कार्तिक वदी ११)

शान्तिके अर्थ बहुत प्रयास किया किन्तु यथार्थ पथ विना शान्तिकी आशा आकाशकुसुम सदृश है।

(द्रोणगिरि कार्तिक वदी १२)

प्रतिदिन अनेक कल्पनाओंका साम्राज्य होता है और साथ ही नष्ट हो जाता है। कल्पनाओंमें कहीं सुख मिलता है ?

(कार्तिक सुदी ३)

बड़ागाँव (टीकमगढ) में जैन पाठशालाके लिये प्रबन्ध हुआ कि प्रतिगृहमें प्रतिदिन एक सेर अनाज व्यय हो तो एक छटाक पाठशालाको दिया जावे, सबने यह सहर्ष स्वीकार किया।

(बड़ागाँव, कार्तिक सुदी ५)

जाति बहिष्कृत अजुध्याको और उसके घरके अन्य व्यक्तियों को जातिमें मिलाया।

(मऊनोर, कार्तिक सुदी ८)

ससारकी दशा अत्यन्त ही भयानक है, [illegible] हो गया वही मनुष्य जन्म पाकर पवित्रात्मा [illegible] है।

([illegible])

श्री अतिशय क्षेत्र अहारजीमें श्रीशान्तिनाथ [illegible] मूर्तिके दर्शन कर बहुत ही आनन्द हुआ। मूर्ति, [illegible] भव्य है कि एकदम वीतराग भावोंका स्मरण [illegible] भी बहुतसी मूर्तियाँ यहाँपर हैं जो प्राय [illegible] है। [illegible] होता है कि यह नगर किसी कालमें बहुत ही [illegible] गणकी वेदी भी यहींपर है। रात्रिको [illegible] आये, श्रीशान्तिनाथ पाठशालाके निमित्त [illegible] अगहन वदि ५ को प्रात काल शान्तिनाथ [illegible] पाठशालाका उद्घाटन हुआ। जातिच्युत [illegible] प्रायश्चित्त लेकर जातिमें मिलाया।

([illegible])

केवल मुदरसाने कारण ८ वरस [illegible] महाशयोंने ७५) गनरसाही लेकर गाये [illegible]

([illegible])

निश्चयसे जन पर पदार्थ [illegible] स्पादक है तब अध्यवसानका [illegible] समुचित है।

सर्वथा सङ्कोच मत करो, सङ्कोच [illegible] लज्जा कषाय है। इनके रखनेमे [illegible] त्पादक है उसे त्यागो। आजतक [illegible] होकर ही ससार बन्धनमें पडा है, [illegible] हैं। इसके वशीभूत होना ही दुखका [illegible] है।

([illegible])

आजके दिन यह बात सुननेमें आयी कि अष्टम एडवर्डने एक प्रेयसीके प्रेमसे विह्वल होकर इतने विपुल साम्राज्यको कि जिसके सदृश वर्तमानमें अन्य राज्य नहीं जीर्ण तृणवत् त्याग दिया! इससे प्रत्येक मानवीय सृष्टिको आजीवन यह शिक्षा लेना उचित है कि संसारमें सबसे प्रबल बन्धन प्रेमका है। उस बन्धनमें न तो रूपका आदर है और न बुद्धि आदि गुणोंका ही। केवल मनो व्यापारकी प्रबलता है।

यह भी सुननेमें आया कि एक महाराणी जो कि पतिके स्वर्गवासके अनन्तर पुत्रके लालन पालनमें तथा राज्यभारके सभा लनेमें अपना समय स्वाधीनताके सुखमें बिताती थी आज एक नर पिशाचके स्नेह जालमें ऐसी जकड़ी गयी कि राज्या धिकारी पुत्रको सूपकार (रसोइयों) द्वारा विष दिलानेमें उद्यम शीला हुई! परन्तु पुत्रका पुण्य था कि रसोइयाने यह बात राजकुमारसे स्वयं कहदी कि महाराज! आजका भोजन न कीजिये, इसमें आपकी माताने अधम पिशाच व्यभिचारीके प्रेम जालमें फसकर आपका मारनेके लिये विषका मिश्रण कराया है। यह भी सुननेमें आया कि वह नर पिशाच स्वयं मोटर द्वारा मरणासन्न हो चुका है। धिक् कामके इस वेगको जिसके द्वारा यह कृत्य हो रहे हैं।

(अगहन सुदि १)

कर्तव्य पथपर स्थिर रहना ही मोक्षमार्गका प्रथम सोपान है। जिसने प्रथम सोपानपर पग नहीं रखा वह पामर मोक्ष मन्दिरके स्पर्शका पात्र नहीं। पात्रताके लिये इस बातकी परमावश्यकता है कि स्वकीय द्रव्यगुणोंका जो विकृतभाव हो रहा है उसे परिमार्जन करनेमें निरन्तर प्रयत्न शीलताका अभ्यास होना योग्य है।

(अगहन सुदि २)

रात्रिको ७ बजे [illegible] पहुंचे। श्री शान्तिनाथ [illegible] दर्शन किये। १० हाथकी अनुपम दर्शनीय मूर्ति है। [illegible] बहुत सुन्दर मूर्तियां हैं। लगभग ७८ होंगी। सभी [illegible] प्राचीन हैं। सहस्रों मूर्तियाँ भग्नावस्थामें हैं जिन्हें [illegible] विरक्तता आती है। सहस्रकूट चैत्यालयका निर्माण [illegible] कारीगिरीके साथ किया गया है। जिसका बीजक यह है—

श्री हादपुर श्रीगाहल

आचार्य श्रीदेवचन्द्र शिष्यकुमुदचन्द्र

सम्वत् १०११ समये निजकुलधवलोऽयं [illegible] शमदमगुणयुक्त सर्वसत्त्वानुकम्पी [illegible] राजेन मान्य प्रणमति जिननाथोऽयं [illegible] १ [illegible] वाटिका चन्द्रवाटिका पञ्चाङ्कतलवाटिका २ [illegible] ३ [illegible] वाटिका ४ लघुचन्द्रवाटिका ५ [illegible] अपरवंशे य कोऽपि तिष्ठति तस्य [illegible] पालयेत्। गुरु महाराज श्रीवासवचन्द्र।
वैशाख सुदि ७ सोमदिने

हादपुर श्रीदेवशर्मा जयतु—

*

७	१२	१	१४
२	१३	८	११
१६	३	१०	५
९	६	१५	४

वैष्णव सम्प्रदायके मन्दिर [illegible] प्राचीन और सुन्दर

* इस बीजकके अङ्कोंको [illegible] किसी भी तरफसे जोड़िये, योगफल ३४ होता है। चौंतीसा यन्त्र [illegible] बहुत प्रसिद्ध है। बच्चोंको [illegible] गलेमें बांधा जाता है।

हैं। करोड़ो रुपयोंकी लागतके हैं। यहाँपर महादेवजीकी इतना मोटी मूर्ति है कि जिसका व्यास ३ फीटसे भी अधिक है। ऊंची ८ फीट होगी। एक वराहावतार ३ हाथ ऊंचा होगा। एक नन्दी बैठा हुआ ? हाथ ऊंचा होगा।

चक्रेश्वरका मन्दिर अति सुन्दर और उन्नत है। यहाँपर कालीजीका मन्दिर भी अतिभव्य और रम्य है। किन्तु मूर्ति वैसा नहीं है जैसी कि जगदम्बा (संसारकी माता) कहनेकी कल्पनामें आती है। माकी ममता और स्नेहको लोगोंने भयङ्करतासे ढक दिया है। मूर्ति दर्शनसे जो विरक्तता आना चाहिये वह नहीं आई तो मूर्ति दर्शनसे क्या लाभ ?

(खजराहा, पौष वदि ११-१२-१३)

लोककी प्रशंसासे जो अपनेको जालमें फँसा रहे हैं वे कदापि श्रेयोमार्गके पात्र नहीं। श्रेयोमार्गका पात्र वही जीव हो सकता है जो औदयिक भावोंमें मोह राग द्वेपसे शून्य है। राग द्वेष मोहसे स्वात्माकी रक्षा करना बहुत ही कठिन काम है या कहिये कि बुद्धि पूर्वक असम्भव ही है। अतः अन्ततोगत्वा यही उचित है कि—

जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि।
णादं जिणेण णियदं जम्मवा अहव मरणं वा॥
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अह जिणिंदो वा॥

अतः जो तुमसे बने उत्तम विचार धारासे प्लावित रह शान्तिमार्ग प्राप्त करनेकी चेष्टा करो। यही मार्ग विद्वानोंने निर्णीत किया है। विशेष—

१—किसीकी क्रिया देखकर मत हँसो। कर्मज भाव अस्थायी हैं

२—समयसारकी भावनाको स्थान दो। वचनका व्यय व्यर्थ मत करो। यह योग बड़े पुण्यसे मिलता है।

(बवा, पौष सुदी ■)

संसारकी दशा अति शोचनीय है। इससे विरक्त होना सामान्य मनुष्योंके वशकी बात नहीं। जिनका संसार तट भगवानके ज्ञानमें अल्पस्थिति वाला देखा गया हो वही इस संसारसे विरक्त हो सकते हैं। इष्टानिष्ट कल्पनाकर किसीको अच्छा बुरा मानना नितान्त असङ्गत है। अपने-अपने कर्माधीन सभी प्राणी अपने-अपने कार्योंमें संलग्न रहते हैं। जब कर्म सिद्धान्त है तब केवल लौकिक पद्धति सभी बीजरूपसे चली जावे इसीके लिये चरणानुयोगका शासन है।

(पौष सुदी १०)

धर्म निरीहवृत्तिमें है। लोगोंने बाह्याडम्बरोंसे धर्मका स्वरूप आवृत कर रखा है। समझमें नहीं आता कि भविष्यमें क्या गति होगी?

(दीवाँ, माघ वदी ■)

मनुष्य पर्यायकी सरलता संयममें है। बहुतसे मनुष्य ज्ञानार्जनकर अपनेको कृतकृत्य समझ लेते हैं। यह बड़ी भूल है। ज्ञानसे केवल अज्ञान दूर होता है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसकी आत्मा शुद्ध हो गई किन्तु बहुतसे मानव तो इतने नीच प्रकृतिके होते हैं जो ज्ञान अर्जनकर संसारकी वञ्चना करने ही में अपनी चतुरताका दुरुपयोग कर ज्ञान गुणकी अवहेलना कराते हैं। हम लोग केवल लोकैषणाके वशीभूत होकर नाना प्रकारके कष्ट सहन करते हैं, निज परणतिके ऊपर दृष्टि नहीं देते। शारीरिक, मानसिक, वाचनिक परिश्रम करते करते अपनी आयुको पूर्णकर फिर उसी चक्रमें आकर संसारसे पार होनेका मार्ग नहीं पाते।

माघ वदी ■)

असाताके उदयमें दुःखका अनुभव मोह द्वारा होना उचित ही है। नियम पूर्वक चलकर पार्श्व प्रभुके पादतलमें जाकर इस ससार भीमारण्यसे अपनेको सुरक्षित करनेमें ही स्वकीय सर्व शक्तिका सदुपयोगकर निर्मलताकी पात्रताका लाभ लेनेमें इस मनुष्य जन्मकी सार्थकता है। यों तो अनेक मनुष्य जन्म मृत्यु करते हैं किन्तु जन्म उन्हींका सार्थक है जिन्होंने इस ससारके मूलस्तम्भ रागादिकोंको समूल नष्ट कर दिया।

(माघ वदी ८)

प्रायः निर्लोभता ही मोक्षका मार्ग है यदि साथमें सम्यग्दर्शन हो।

(रायपुर थाना, माघ वदी ९)

भारतके विनाशका मूल कारण पक्षपात है। सत्यके अन्वेषक अल्प रह गये हैं। केवल जो वश परम्परा चला आया है, चाहे उसमें तथ्यका अश भी न हो, उसे ही लोगोंने धर्म मान लिया है। धर्म साधन निराकुलतामें है। जिनका ससर्ग अनेक व्यक्तियोंसे है वही निमित्त कारणापेक्षया अधिक दुःखके मार्गमें पड सकता है किन्तु जो बहुजन सघात होनेपर भी स्वात्म तत्त्वसे च्युत नहीं होता वह कभी भी पतनोन्मुख मार्गमें नहीं पड सकता।

(कछुरिया, माघ व० १२)

इस रागने ससारको दुःख सागरमें डुबो रखा है। इसके उद्धारका कोई भी उपाय नहीं। उपाय तो केवल वीतराग सर्वज्ञ-प्रणीत धर्ममें है परन्तु ससारी उसका आदर नहीं करते। करें कैसे? जिनका ससार दूर है उन्हें वीतराग सर्वज्ञका मार्ग नहीं रुचता।

तत्त्वदृष्टिसे समयसारादि ग्रन्थोंका अवलोकन करना ही आत्माका हित है। ज्ञानार्जनका उद्देश्य एव फल स्वात्म परणतिमें

कलुषताकी क्षीणता होना ही उचित है। हमारी वासना इतनी मलिन हो रही है कि हम केवल लोक प्रसन्नताके अर्थ ही दान स्वाध्याय ज्ञानादि अर्जन करनेमें संलग्न रहते हैं। न तो इन कार्योंसे आत्म लाभ होता है और न परको ही लाभ हो सकता है। जिस परिणाममें कलुषताकी मात्रा है वह स्वयं आत्माको पीड़क है, अन्यको कहाँतक सुखकर होगा?

(बहरामगञ्ज, माघ बदी १३)

रात्रिको एक बीमार बटोही आया। रात्रिभर जागता रहा, बहुत प्यासा था, हमने बहुत विचार किया—"आज चतुर्दशीके दिन किस तरह पानी देवें?" अन्तमें दयाके वशीभूत होकर पानी दे ही दिया।

(शाहगञ्ज, माघ बदी १४)

सदाचार वह वस्तु है जिससे प्राणी संसार बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(साहपुरा, माघ सुदी १)

बलिहारी क्रोधकी, किंवा इस कषायकी, जो जीव इसके वश होकर स्वकीय पर्यायकी हानि करकर भी इस पिशाचके वशमें रहता है।

(बेलमनराय, माघ सुदी ४

सब धर्मोंमें धर्म अहिंसा ही है। हमको धर्मकी आवश्यकता क्यों है? और वह क्या वस्तु है? 'दुःखनिवृत्तिरेव धर्मः' दुःखकी निवृत्ति ही धर्म है। 'जीवा दुःखिनः सन्ति अतोऽवश्यमेव मह स्यावश्यकताऽस्य प्रत्येकप्राणिनः स्वाभाविकी निरारेका।' जीव दुःखी हैं, इसीलिये इसकी महती आवश्यकता प्रत्येक प्राणीको होना स्वाभाविक है।

(मिर्जासराय, माघ सुदी ५)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दर्शनीय स्थान है। यहाँ पर मुख्यता हिन्दू धर्मकी है, उसीका विशेष प्रचार है। यहाँपर एक जैन प्रोफेसर प० सुखलालजी सघनी हैं, उनसे मिले। बहुत ही सहृदय विचारक विद्वान् व्यक्ति हैं।

(काशी, माघ सुदी ७)

तीन बजे सारनाथ जिसे सिंहपुरी भी कहते हैं, पहुँचे। यहाँ एक विशाल जैन मन्दिर है सो तो अनुपम है ही किन्तु एक बौद्ध मन्दिर जो अभी केवल पत्थरका बनाया गया है बहुत ही मनोहर है। उसकी भीतरी दीवालपर बुद्धदेवका चरित्रचित्रण जापानके कुशल शिल्पकारों द्वारा किया गया है, जो अति चित्ताकर्षक है। सामने राजा बल्देवदासजीने एक विशाल धर्मशाला ४००००) की लागतसे बनवा दी है। एक बड़ा भारी स्तूप है। एक अजायब घर है, जिसमें प्राचीन मूर्तियोंका संग्रह है। दो आने आदमी कर लगता है जो कि अनुचित है। सर्वोपयोगिनी वस्तुपर कर लगाना अति लोभ का परिचायक है। जैन धर्मशाला भी उत्तम है।

(सारनाथ, माघ सुदी ८)

समागम उत्तम हो तो अच्छा अन्यथा एकाकी रहना ही श्रेष्ठ है। कल्याणकी उत्पत्तिका मूल कारण स्वान्तकी स्वच्छता है। सद्विचारोंको आश्रय दो। कभी भी कुत्सित विकल्पोंसे अपनेको कुत्सित करनेकी चेष्टा मत करो। केवल कल्पनाओंकी परम्परासे अभ्यन्तरकी शोभा नहीं। कल्पनाओंकी निवृत्तिसे आत्माकी उन्नता है। श्रुतज्ञानमें जब आत्मा विकल्प रहित हो जाता है तभी शुद्ध ज्ञानका उदय होता है। श्रुतज्ञानके विकल्पोंका मूल कारण मोहका सद्भाव है।

(कुमौली, माघसुदी १३)

परपदार्थकी लिप्सा ही संसार नगरकी सोपान श्रेणी है। सदा संयत भाषाका उपयोग करो। किसीके प्रभावमें आकर अन्यथा मत कहो। संयमकी रक्षाका मूल हेतु प्रमादका टालना है यद्यपि पञ्च समिति मुनियोंके मूल गुण हैं परन्तु गृहस्थ धर्म भी इनके बिना नहीं चल सकता। अतः आंशिकरूपेण श्रावकको भी पालना श्रेयस्कर है।

उत्तम ग्रन्थके अध्ययनका फल शान्ति लाभ होना निश्चित है। यह तो अनुभवमें नहीं आता केवल बाह्य पदार्थोंके संसर्ग जो बने हुए हैं यही दृष्टिगोचर होते हैं, अतः शान्ति लाभके लिये इन पुद्गल पर्यायोंको जो मिश्र रूपमें प्रत्यय हो रही हैं त्यागना चाहिये। वास्तव दृष्टिसे तो अभ्यन्तर अध्यवसान भाव ही त्याज्य है, बाह्य वस्तु अकिञ्चित्कर है क्योंकि बाह्य पदार्थ छोड़कर भी अध्यवसान भावका उदय होता है। अतः इनका त्याग मोक्ष-मार्गमें प्रशस्त नहीं है परन्तु चरणानुयोगमें यही उपदेश मिलता है कि इन्हें त्यागो।

श्रुतज्ञानकी अपेक्षा मतिज्ञानका विषय विशद है, क्योंकि श्रुतज्ञानसे जिस रीतिसे वस्तु बोध होता है वह परोक्षमात्र है। वस्तुका ज्ञानपन मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका ही होगा। जैसे किसीने कहा—"घट लाओ।" यदि वह नेत्र द्वारा घटको नहीं जानता है तब श्रुतज्ञानसे घट शब्द वाच्य जानकर भी उसे घटका भाव नहीं हो सकता। केवल कहे कि घट शब्दका वाच्यार्थ घट होता है परन्तु इससे अर्थ कुछ भी नहीं निकला। इसी तरह 'आत्मा अस्ति (आत्मा है) इस वाक्यको कितने ही सुन्दर व्याख्यानसे वह समझावें कि 'आत्मा ज्ञानादि गुणोंका आश्रय है' परन्तु जबतक उसे मानस प्रत्यक्ष न होगा तबतक इन वक्तव्यतासे कुछ भी लाभ नहीं। अब हमको सीखनेमें यह निश्चय

करना परमावश्यक है कि केवल शास्त्रके वाच्यार्थको जाननेसे कल्याण नहीं होगा। कल्याणका पथ आत्माको रागादि दोषोंसे सुरक्षित रखना है। स्वामी समन्तभद्र महाराजने इस विषयमें बहुत ही उत्तम कहा है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसञ्ज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

(जहानाबाद, माघ सुदि १४)

एक सिद्धान्त स्थिर करो। पराश्रित मत बनो। परमात्माका आश्रय भी यदि रागादि सहित है तब किसी कामका नहीं। आत्मामें जिस कलङ्कसे आकुलता हो रही है उस कलङ्कके प्रक्षालनका उपाय केवल पराश्रितताका त्याग ही मुख्य है। भोजन सम्बन्धी गृध्नताका त्याग ही स्वास्थ्यवर्धक है। तथा चिन्ताकी व्यथासे रक्षित रहना भी स्वास्थ्य कर है।

(मामाराम, माघ सुदि १५)

उपवास निर्जराका कारण है परन्तु इच्छा निरोध होना मुख्य है। यदि वह नहीं है तब बाह्य भोजनका त्याग सुखकर नहीं, केवल शरीर शोषक ही है।

(मधुवन, फागुन सुदि ७)

शान्तिका कारण रागादि परिणामोंकी अनुत्पत्ति है सो तो होती नहीं। केवल बाह्य कारणोंके अभावमें शान्ति भावकी कल्पना कर ली जाती है परन्तु वस्तुतः होती नहीं है।

(मधुवन, फागुन सुदि ८)

स्वतन्त्र बननेकी चेष्टा करो, परापेक्षी मत होओ। लिखने मात्रमें आत्म भावकी व्यक्ति नहीं। उसकी अभिव्यक्ति तो तभी होगी जब उस ओर लक्ष्य देनेकी चेष्टा करोगे।

(फागुन सुदि १०)

जिनको आगम ज्ञान नहीं उनसे दूर रहना। साधर्मियोंका सहवास मिले तब उनसे अपनी त्रुटियाँ व्यक्त कर निःशल्य होना उत्तम है।

(फागुन सुदि ११)

यदि सुखी बनना चाहते हो तो प्रत्येक प्राणीकी हाँमें हाँ न मिलाओ। बिना प्रयोजन किसीसे भाषण मत करो। अपने दृढ निश्चयको मत छोडो। जितना अभ्यास करो उससे कम उसका शतांश भी पालन करो। बहुत बोलनेकी अपेक्षा अल्प कार्य करना उपादेय है। केवल लोकके अनुरञ्जनके लिये क्रिया न करो। आत्मा रागादि दोषोंसे बचे ऐसा उपाय करो।

(फागुन सुदि १२)

आकुलतासे न लौकिक कार्य होते हैं न पारमार्थिक कार्य होते हैं। कोई भी कार्य हो उसके सम्पादनके लिये धीरता पूर्वक सम्यग्ज्ञानके विषयीभूत उपायोंका अवलम्बन ही कार्यकारी होता है। देखादेखी किसी कार्यमें पड़ना विज्ञानीका काम नहीं।

(फागुन सुदि १३)

कभी भी अपनी प्रतिज्ञासे च्युत मत होओ, क्योंकि जन समुदाय तो अपने अपने प्रकृति परिणमन पर ही नाचेगा। यदि आप भी वैसे होगये तब आप और उनमें कौनसा अन्तर रह गया? केवल शाब्दिक भेद रहा। किन्तु परिणमनमें जो वास्तविक वस्तुकी दशा है उस कालमें है उससे कोई अन्तर नहीं। चाहे लकड़ीकी अग्नि हो, चाहे तृणकी, दाहकता दोनोंमें है। अत किसी भी तरहका समागम हो स्वकीय परिणतिसे च्युत नहीं होना चाहिये। भला विचारो तो सही अग्निसे तप्तायमान होकर क्या सुवर्ण सुवर्णत्वको त्याग सकता है, नहीं। तद्वत् मानी

जनोंको अज्ञानी मनुष्योंके सदृश अपने निर्मल श्रद्धान को कलुषित नहीं करना चाहिये।

(ईसरी, चैत्रवदि २)

अन्तरङ्गसे ज्ञानका समादर आत्मोन्नतिका परिचायक है।

(चैत्र वदि ४)

बहुत ही उत्तम हो कि दूसरोंकी अपेक्षा अपनी ही समालोचना की जावे। अन्यको भला बुरा कहनेका अर्थ यही है कि हम भी वैसे ही हैं।

कषायकी जातिको जान लेना ही कषायके दूर करनेका सबसे उत्तम उपाय है। अन्य उपाय चाहे असफल भी हों परन्तु यह उपाय निज लक्ष्यको भेदन करनेमें रामबाणकी तरह अचूक ही रहेगा।

(चैत्र वदि ५)

परिणामोंकी सम्हाँल रखना बहुत कठिन बात है।

(चैत्र वदि ६)

किसी भी कार्यके लिये वचनोंसे कह देना उतना ही सरल है जितना कि कल्पनासे राजा बन जाना। परन्तु उद्यम और बाह्य कारणों द्वारा कार्यकी निष्पत्ति सम्पन्न हो, यह दुष्कर है।

(चैत्र वदि ८)

वास्तवमें आत्माकी वृत्ति शान्त है, केवल कलङ्कसे दूषित है। निमित्त तथा स्वीय उपादानके विकाश होने पर आत्मविकाशमें विलम्ब नहीं।

(चैत्र वदि ९)

निरन्तर वाचनकी अपेक्षा स्वात्म चिन्तन अधिक हितकर है। परके साथ मानसिक शक्तिका दुरुपयोग अन्धेकी लालटेन सदृश है।

(चैत्र वदि १४)

अन्तरङ्गकी भावनाको तब प्रगट करना जब कि उसपर पूर्ण रूपसे अपना अधिकार हो जावे। केवल जन-समुदायको मोहित करनेके लिए सुन्दर भाषाका प्रयोग कर लोगोंको प्रसन्न कर अपनी महत्ताको आदर देना जघन्य मार्ग है। यह मार्ग कभी भी हित-मार्गका साधक नहीं हो सकता। मोक्षमार्गमें कषायोंकी वासनाओंको कदापि स्थान नहीं मिल सकता। जिन्होंने वर्तमानमें ही क्लेशसे अपने गुणोंकी रक्षा की है, लोक प्रभुताके मदमें मत्त नहीं हुए, परमार्थिक भावकी अवहेलना नहीं की है, उद्योगहीन पुरुषोंके सहवासमें जिन्होंने समयका दुरुपयोग नहीं किया, अध्यात्मके पोषक गुरुओंकी अभ्यन्तरमें उपासना की है तथा निवृत्तिमार्ग पर सवस्व त्याग दिया है वे ही महान् आत्मा शिखरजी जैसी पवित्र निर्वाणभूमिमें निवास करनेके पात्र हैं। यहाँ केवल रहनेको न रहे, किन्तु उन परिणामोंको उत्पन्न करे जो संसारवल्लीका अन्त कर देवें। परिस्थिति अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा करे, आप पास क्षेत्रकी परिस्थितिके अनुकूल न हो जावे। ऐसी प्रवृत्ति करे जिसे अनायास अन्य प्राणियोंमें भी इतनी निर्मलता आ जावे कि वे स्वयं मोक्षमार्गके पथिक हो जावें।

(चैत्र सुदि ८)

यदि हितकी ओर लक्ष्य है तब इन बाह्य कारणोंसे पृथक् रहो। बाह्य कारणोंसे तात्पर्य यह नहीं है कि इन निमित्त कारणों को हटाया जावे किन्तु जिन परिणामोंमें यह सहकारी कारण होते हैं वे परिणाम ही हेय हैं। उनकी पहिचानके बिना केवल बाह्य कारणोंको हेय विचारना व्यर्थ है।

(चैत्र सुदि ९)

जहाँ आत्मामें रागादि भावोंको आश्रय मिलेगा वहाँ सम्यक्

गुणका परिणमन असम्भव है। क्योंकि विरोधी दो परिणमन एकत्र अवस्थित नहीं रह सकते।

(चैत्र सुदि १०)

शास्त्राध्ययन करना बहुत ही उत्तम है परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि देना और अधिक लाभप्रद है। अनन्त जन्मार्जित ज्ञानकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त कालावधि भी कार्य पद्धतिको लक्ष्य कर तद्रूपानुकूल उद्यम करना श्रेयोमार्गकी प्राप्तिका साधन है। केवल आजन्म मरणावधि मोक्ष कथा का ही अभ्यास करनेसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति जलविलोलन क्रियासे हस्तमें चिक्कणता लाने जैसी है। केवल क्रियाहीन तथा उपयोगिनी नहीं। पुरुषार्थका कथन और है पुरुषार्थके अर्थ तद्रूप होकर पुरुषार्थकी प्राप्ति कर लेना अन्य बात है। बात कहनेमें जितनी सरल है, करनेमें उतनी ही कठिन है। "रागादि विषयोंको छोड़ो" यह कथा करना और बात है, रागादिको त्याग देना और बात है। क्या इसका नाम पुरुषार्थ है कि हमने रागादिकके विषयीभूत पदार्थोंको छोड़ दिया ? इसके माने पुरुषार्थ नहीं। तब क्या करें ? कोई ऐसा उपाय दृष्टिगोचर न तो बाह्य में ही है और न अभ्यन्तर ही है। शास्त्रोंमें जो उपाय लिखे हैं वे उत्तम हैं पर केवल उनका जानना कदापि हितकर नहीं हो सकता। वही भाव सुन्दर और उत्तम है जो आत्माको इस अपावन कषायभूमिसे पृथक् कर पवित्र शुद्ध परिणामोंके जहाँ अङ्कुर समुदाय हों वहाँ ले जावे। परन्तु यह चेष्टा केवल कहनेकी नहीं। इस ओर कुछ प्रयत्न करनेकी चेष्टा करना स्वीय पुरुषार्थका कार्य है। केवल वाक् पटुता तो छल है। छलसे मृगतृष्णावत् कुछ नहीं मिलता।

(चैत्र वदि १३)

त्यागका मार्ग अभ्यान्तर कुशलतामें है। यदि अन्तरङ्गमें

पवित्रताका सञ्चार न हुआ तब यह बाह्य आचरण दम्भ है। अभ्यन्तर जनन शक्तिके बिना बीजकी तरह अभ्यन्तर निर्मलता शून्य बाह्य आचरणकी कोई प्रतिष्ठा नहीं। लौकिक प्रशंसाके वशीभूत होकर केवल कायकी कृशतासे यथार्थ लाभकी तो कथा ही दूर रही, केवल शारीरिक कष्ट ही सहन करना पड़ता तब भी कुछ हानि न थी किन्तु साथमें तीव्र बन्धकी भी स्थिति पड जाती है! अहह! मोहकी कैसी प्रभुता है जिसके शासनमें यह जीव मोक्षमार्गका तो पात्र ही नहीं साथमें उसके तीव्र विपाकमें शुभ परिणामोंसे भी वञ्चित रहता है।

(चैत्र वदि १०)

परिमित भाषण हो, वह भी ऐसा कि दूसरोंको अहितकर न हो। जिसके समागममें दुःख हो उस समागमसे दूर रहो। चरणानुयोगका मूल तात्पर्य आत्माको रागादि परिणामोंसे रक्षित रखना अर्थात् नवीन रागादिकोंकी उत्पत्ति न होना ही चारित्रका तत्त्व है। यदि केवल बाह्य कृशताकी मुख्यता है तब उसका क्रियाकाण्डके अन्तर्गत समावेश करना ही उचित है, क्योंकि जिस क्रियामें अन्तस्तत्त्वकी प्राप्तिका उद्योग नहीं उस क्रियाकी कोई विशद कीर्ति नहीं।

(चैत्र सुदि १ सं० १९९४)

चित्तकी चञ्चलताका कारण अन्तरङ्ग कषाय है। वैसे चित्त तो चैतन्य आत्माके चेतना गुणका परिणमन है, किन्तु कषाय न्यायीकी इसके ऊपर इतनी अनुकम्पा है कि जागृत अवस्थाकी तो कथा दूर रहे, स्वप्नावस्थामें भी उसे प्रेमका प्याला पिलाकर बेहोश बनाये रहती है। और यह प्याला भी ऐसा है कि मद्यसे भी अधिक उन्मत्त करता है। मादक द्रव्यका पान करनेवाला तो इतना उन्मत्त नहीं होता, बाह्य शरीरकी चेष्टाएँ ही उसकी

अन्यथा दीखती हैं, घर जाना हो तो स्वलद्गमन करता हुआ घरके सम्मुख ही जाता है परन्तु यहाँ तो उसके विपरीत आत्मतत्त्वसे बाह्य शरीरमें ही स्वतत्त्वका अध्यवसाय करके अहर्निश उसीके पोषणमें पूर्ण शक्तियोंका उपयोग करके भी यह मोही जीव आनन्दका पात्र नहीं होता। बलिहारी इस मिथ्यादर्शनकी।

इस संसारमें प्रथम तो इस सिद्धान्तका निश्चित होना कठिन है कि हम कौन हैं, क्योंकि इसमें अनेक विप्रतिपत्ति हैं। उनका निराकरण करके स्वसिद्धान्तको स्थिर कर देना साधारण बुद्धिशाली मनुष्योंके वशकी बात नहीं। समय बहुत ही अल्प है। यदि कोई शास्त्र द्वारा इन बातोंका निराकरण करना चाहे तब यह बुद्धिमानोंका कार्य है। फिर भी यह निर्विवाद है कि जो 'अहम्' प्रत्ययका विषय होता है वही द्रव्य आत्मद्रव्य है, उसकी ज्योंकी त्यों अवस्थाका लाभ ही हमारा हित है। 'ज्योंका त्यों' इसका यह अर्थ है कि पर निमित्तसे आत्मा स्वीय परिणतिमें कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका कर्ता भोक्ता बनता है और इसका अभाव ही ज्ञानचेतनाका मूल कारण हो जाता है। अर्थात् जब यह प्राणी यह जान लेता है कि यह जो विविध रागादिक भाव मेरे आत्मामें हो रहे हैं, तात्त्विक दृष्टिसे मैं इन भावोंका कर्ता नहीं हूँ। अर्थात् वर्तमानमें तो मैं अवश्य इन भावोंके साथ तन्मय हो रहा हूँ क्योंकि यह सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस काल व जिस क्षेत्रमें जिस रूप परिणमनको अङ्गीकार करता है, उस कालमें तन्मय हो जाता है। तब जब हम अपनी परिणतिको कषायसे लिप्त कर देंगे उस कालमें हम स्वयं तन्मय हो जावेंगे। आगामी कालमें परिणाम द्वारा अर्जित कर्मबन्धके विपाकमें जो दशा होगी वह तो भोगना ही होगी। यह तो दूर रहो, किन्तु वर्तमानकालमें हम स्वयं कषायाग्निसे सन्तापित रहेंगे और परिणामोंमें कलुषता

की कालिमा ही [illegible]
परिणतिजन्य सुधारसका [illegible]
समझमें आती है कि [illegible]
पड़ती है। अत हमको [illegible]
को आश्रय न दें।

विशेष रूपसे किसी [illegible]
दुरुपयोग करना ज्ञानी जीवोंके [illegible]

पर्यायकी स्थिरताका [illegible]
है। केवल बातोंकी [illegible]
ठगाया ही जाता है,

जिन्होंने सकट [illegible]
अपने आत्माके [illegible]
नहीं आता।

आजके दिन [illegible]
प्रभु श्रीमहावीर [illegible]
आत्माने यह [illegible]
हितकर है उसे [illegible]
करो केवल [illegible]
व्यर्थ प्रशसाके [illegible]
ही वञ्चना है।

... नहीं आता।
(वैशाखवदि ५)
... कुसुम सम धवल
... श्री कुन्दकुन्द
... गमाभिलाषा इस
... की प्राप्तिमें बहुत
महान आचार्यकी
करते। परन्तु यहाँ
कि और रग मन
आत्मामें तिरोहित

(वैशाखवदि ७)
... आवे तब अनायास
... सुगम है, परन्तु हम
अन्वेषण करते हैं।
... के लिये रहती है।
... द्रव्यागमके भाषा-
... शक्तिका व्यय करके
... प्रणाली अनुकूल

(वैशाखवदि ८)
... मादको टालकर
... लेकर भोजनकी
... भोजन मन्त्र
... न्तर स्वकीय
... की कल्पना

लिये है। चित्तकी चञ्चलतासे आत्माकी हानि नहीं है हानि तो रलुपता मिश्रित चञ्चलतासे है। चञ्चलता वह परिणति है जो भटिति भटिति हो। ऐसा परिणमन दु खका जनक नहीं। जिस परिणमनमे रागादि भावोंका सम्मिश्रण है वही तो आकुलतोत्पादक होनेसे दुःखद है।

(चैत्रसुदि १४)

सभी ओरसे चिन्ताओंकी चिन्ता छोड़ना ही ध्यानकी सामग्री है।

(चैत्रसुदि १५)

निस्पृहताके लिये बाह्य परिग्रहकी न्यूनता ही कार्यकारिणी है। बिना आभ्यन्तर मूर्च्छाके यह बाह्य वस्तुएँ बलात्कार द्वारा कौनसी निस्पृहतामें बाधक हैं? परमार्थसे तो स्वोत्थ मूर्च्छा ही इनमें स्वीय प्रयोजनपनेके सद्भावकी कल्पना द्वारा इनका समह करानेमें जीवको लालच उत्पन्न कराती है और तब जीव यद्वा-तद्वा नाह्य द्रव्य हिंसा चोरी आदिमें प्रवृत्ति करता है। यद्यपि औदारिक शरीरके लिये अन्नादिक बाह्य पदार्थोंकी आवश्यकता है इसको सभी विज्ञानी व मूर्ख स्वीकार करेंगे, किन्तु मर्यादासे अधिकका समह बिना तीव्र मूर्च्छाके नहीं होता। एकबार अन्तरङ्गकी निर्मलताको उत्तेजना देकर इनको त्याग कर स्वीय स्वरूपकी निर्मलताका उपाय तो करो। देखो, महामुनि भी असाताकी उदीरणामें क्षुधाजन्य वेदनाके प्रतीकारार्थ आहारके लिये ईर्या पथादि करते हुए उद्यम करते हैं। यदि निरन्तराय आहारकी प्राप्ति होगी तब ग्रहण करते हैं किन्तु अनुकूल भिक्षाका निमित्त न मिले तब खेदखिन्न न होकर सन्तोष पूर्वक स्वाध्याय आदि क्रियाओंको चरणानुयोगके अनुकूल करते हुए स्वकीय काल यापन करते हैं।

(वैशाखवदि ४)

मार्मिक आनन्दका आस्वादन राग द्वेषके बिना नहीं आता।

(वैशाखवदि ५)

श्री १०८ दिगम्बर, अन्तरङ्ग निर्मल, कुन्दकुसुम सम धवल कीर्ति, ग्रीष्म मध्याह्न मार्तण्ड चण्ड तेज सम तपस्वी श्री कुन्दकुन्द स्वामीकी सेवाको त्याग कर जन्मान्तरकी समागमाभिलाषा इस बातकी अनुमापक है कि अभी हमारे श्रेयामार्गकी प्राप्तिमें बहुत काल है। यदि ऐसा न होता तब हम एक महान् आचार्यकी प्रणालीको अभ्यन्तरसे ग्रहण करनेमें संकोच न करते। परन्तु यहाँ तो ऐसा पक्का रंग कलमपनाका चढ़ा हुआ है कि और रंग सब ऊपर ही ऊपर रहते हैं, उस पक्के नील रंगकी आभामें तिरोहित हो जाते हैं।

(वैशाखवदि ७)

यदि मनोवृत्तिको चञ्चल न बनाया जावे तब अनायास विशेष शान्ति मिलती है। कल्याणका पथ आपमें है, परन्तु हम अज्ञानी जीव व्यामोहमें आकर समस्त परमें अन्वेषण करते हैं। निमित्त कारणमें प्रायः प्राणियोंकी प्रवृत्ति उसके लिये रहती है। कोई तो उनमें शास्त्रार्थके पक्षपाती हैं जो बिना द्रव्यागमके भावागम नहीं होता अतः द्रव्यागममें अपनी सर्व शक्तिका व्यय करके भी पार नहीं पाते। कोई गुरुकी परिपाटी प्रणाली अनुकूल बनाकर आत्महित करनेकी प्रबल चेष्टा करते हैं।

(वैशाखवदि ८)

यदि आत्मामें दयाका अङ्कुर है तब प्रमादको टालकर अहिंसक होनेका प्रयत्न करो। केवल पराधीन होकर भोजनकी उहापोह करना तथा भृत्यों पर रोष गाँठना, तथा भोजन सम्बन्धिनी अभ्यंतर लालसाकी सन्तानमें मग्नता, निरन्तर स्वकीय अहम्मन्यता, पर निन्दा, आत्म प्रशंसा, एवं व्यर्थकी कल्पना

इत्यादि परिणामोंका होना अनन्त संसारका अनुमापक है। धर्म बाह्य बनावटसे नहीं होता, उसका परमार्थ रूप तो मन, वचन और कायके व्यापारसे परे है। उसकी प्रत्यक्षतामें इन्द्रिय मनकी सामर्थ्य नहीं। मेरा तो यह दृढ़तम विश्वास है कि यह वस्तु परमावधि, सर्वावधि तथा मन पर्यय ज्ञानियोंके ज्ञानगम्य नहीं। मोहका अभाव होने पर जिसे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती जीव वास्तविक निर्ग्रन्थ व्यपदेश को प्राप्त होकर भी इस आत्म द्रव्यमें अपूर्व अनन्त सुखका कारण विद्यमान होने पर भी उसके अनुभव करनेमें अक्षम है। उसकी महिमा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायके नाश होने पर केवलज्ञानी ही जान सकते हैं।

(वैशाखवदि १०)

अब इस दृश्य जगत्‌में केवल हमारे ज्ञानमें अनुभूत दो तरह से ज्ञेय भासमान हो रहे हैं—एक तो पञ्चेन्द्रियके विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द तथा यह जिनके आश्रय हैं वह पदार्थ, और जिसमें यह विषय हो रहे हैं। मानना ही होगा कि दर्पणमें जो बिम्ब भासित हो रहा है वह नैमित्तिक है किन्तु जिस निमित्तसे यह बिम्ब प्रतिफलित हुआ है वह और जिसमें यह प्रतिबिम्बित हो रहा है वह दो पदार्थ हैं। इसी प्रकार यह मूर्त पदार्थ जिसको कि हम पुद्गल द्रव्यसे व्यवहार करते हैं और जिसमें यह भासता है वह दो पदार्थ हैं। शेष आकाशादि अमूर्त पदार्थ केवल आगम ज्ञानके द्वारा ही जाने जाते हैं। थोड़े समयको उनके विचारको गौण कर दो। हमारी इतनी प्रखर बुद्धि नहीं कि हम उनका विशेष विचार कर सकें। हमें उन पदार्थोंका विचार करना है जिनके विलक्षण सम्बन्धसे यह दुःखमय संसार हो रहा है। वे पदार्थ यही हैं जो पञ्चेन्द्रियोंके विषय होते हैं और जिन्हें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दसे

हम व्यवहार करते हैं। यद्यपि पुद्गल द्रव्य भी अखण्ड है किन्तु पञ्चेन्द्रिय द्वारा उसे हम पाँच प्रकारसे निरूपण करते हैं। अब एक स्पर्शको लीजिये। जब स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शका ज्ञान होता है, तब उसे स्पर्शन प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ पर होता क्या है? स्पर्शका ज्ञान हमें हो जाता है, ज्ञान स्पर्शमय नहीं होता। जब स्पर्श पृथक् रहा और ज्ञान पृथक् रहा फिर भी हमारी उस स्पर्शमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है वह क्यों होती है? इसका कारण मेरी तुच्छ बुद्धिमे यह आता है कि हमारी अनादि कालसे ऐसी वासना है कि हम देहको ही आत्मा मान रहे हैं। अब जब शीत काल होता है तब शरीरमें शीत स्पर्शका सम्बन्ध होनेसे हमें शीत स्पर्शकी प्रतीति होती है। उसके लगनेसे शरीरमें कम्प होता है वह हमें सुहाता नहीं है अतः हम झटिति उस ज्ञेयमें अनिष्ट कल्पना कर लेते हैं, क्योंकि उस कालमें शीतके सम्पर्कसे पुद्गल शरीरमें कम्प होने लगता है। कम्पके दो कारण हैं— अभ्यन्तर मोह और शीतल वस्तुका सम्पर्क। अब शीतका स्पर्श न हो, प्रायः लोग ऐसा ही यत्न करते हैं। इस यत्नसे यद्यपि तात्कालिक शान्ति मिल जाती है किन्तु नित्य शान्ति धारा बहे यह नहीं होता। उसका यत्न तो यह है कि आत्मामें वैभाविक परिणाम न हो। उसका कारण तत्त्व विचार है क्योंकि आत्मद्रव्य पृथक् है और पुद्गल द्रव्य भिन्न है। इन दोनोंका अनादि कालसे एक ऐसा सम्बन्ध है कि दोनों ही स्व स्वरूपसे च्युत हैं। पुद्गलकी विभाव पर्याय रहो, उससे हमारी क्षति नहीं, क्षति तो हमारा जो ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव है उसके स्वस्वरूप न रहकर, इष्टानिष्ट कल्पना द्वारा विपरीत एवं आकुलित रहनेमें है।

(वैशाख वदि ११)

रागद्वेषके विजयकी कथामें अनेक प्राणी सिद्धहस्त होते हैं,

किन्तु जब उन भावोंका उदय काल आता है उस समय आत्म-स्वरूपसे च्युत न होना श्रद्धावान मनुष्योंके ही वशकी बात है।

(वैशाख वदि १२)

रागादिककी कथा करते करते कुछ आनन्द नहीं आया। यदि कोई शत्रुके गुण गणोंकी निरन्तर भूरिशः प्रशंसा करता रहे और उनसे निरन्तर पराभव पावे, शत्रुके निपातकी सामग्री भी पास न हो तब केवल उस कथोपकथन द्वारा दुःख ही होगा।

यदि स्वकीय पुरुषार्थमें रागादिकके विजय करनेकी शक्ति नहीं तब उसकी प्रशंसाकी क्या दुःखावहा ही है।

जो मनुष्य स्वायत्त एवं स्वजन्य शत्रुका विजित करनेमें अक्षम है वह क्या परका कल्याण करेगा?

(वैशाख सुदि १)

प्रतिज्ञाका तात्पर्य यह है कि हमें करणानुयोगके द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थके लिये चरणानुयोग द्वारा प्रतिपादित आचरणको द्रव्यानुयोगके अनुसार पालन करनेमें यत्नशील होना चाहिये। केवल चरणानुयोगमें है अतः हमें पालना चाहिये यह मान लेना समुचित नहीं। चरणानुयोग क्या वस्तु है सो अभ्यन्तरसे विचारो। अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषायके क्षयोपशमकी तरतमता तथा प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायके उदयकी तरतमतासे जीवका जो कुछ आचरण है उसीका नाम श्रावक धर्म और मुनिधर्म है। यह वस्तु बनानेसे नहीं बनती। घट विषयक ज्ञानके प्रयत्नसे घट ज्ञान उत्पन्न होता है या घट ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे घट विषयक अज्ञानकी निवृत्ति होती है? इसकी मीमांसा करो। मेरी तो यह श्रद्धा है कि अभ्यन्तर क्षयोपशमसे ही यह बात होती है। फिर भी उसमें क्वचित् बाह्य कारण होनेसे क्षयोपशमकी सत्ता बनी रहती है। किन्तु ज्ञानोपयोग नहीं होता। परन्तु यहाँकी कथा

इससे कुछ विसदृश है। यहाँ तो प्रतिपक्षी कषायके क्षयोपशममें चाहे बाह्य प्रवृत्ति न भी हो, फिर भी प्रतिपक्षी कषायके उदयमें जिन प्रवृत्तियोंका बन्ध होता था वह रुक जाता है। अभ्यन्तरमें शान्तिका उदय हो जाता है। यहाँ पर केवल क्षयोपशमसे ताव त्काल बाह्य कारण द्रव्येन्द्रियादि न मिलने पर वह ज्ञान उपयोगमें नहीं आ सकता। और न तज्जन्य इष्टानिष्ट कल्पना भी होती है।

(रहती है) इससे कुछ विवेकसे कार्य लेनेकी आवश्यकता है। चरणानुयोगके अनुकूल चारित्र पालनेका ध्येय आत्म शान्ति है, वह क्या है? जब राग द्वेष निवृत्तिके लिये वह क्रिया की जाती है। केवल बाह्य दृष्टिसे व्रत धारण करनेका फल मात्र लोक प्रतिष्ठा अवश्य हो जाती है पर यह प्रतिष्ठा हमें गर्त पतनकी परम्परा कारण हो जाती है, क्योंकि संसारमें उस प्रतिष्ठाके द्वारा हमें अभिमान कषायकी जाग्रत अवस्था होती है तथा प्रतिष्ठा करने वाले व्यक्तिमें रागका उदय होती है। एक ही कारणसे विरुद्ध कषायोंके हम पात्र हो जाते हैं। मान होनेसे द्वेष और प्रेम होनेसे राग कषाय तथा यही विपरीत अभिप्राय होनेसे मिथ्यादर्शन, तथा मिथ्यात्वके सहकारसे जो कुछ हमारा ज्ञान और आचरण है वह मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रके व्यपदेशमें प्रयोजक होता है और इन तीनोंकी एकता ही संसार गर्तमें पतनका हेतु हो जाता है। अत केवल बाह्य दृष्टिसे चरणानुयोग पालना श्रेयस्कर नहीं।

(वैशाख सुदि १)

अभ्यन्तर शान्तिके अभावमें कभी तो हम बाह्य कारणोंको दोष देते हैं, कभी अपनेको दोष देकर समाधान कर लेते हैं, कभी भगवानने ऐसा ही देखा है कहकर आत्मसम्बोधन कर लेते हैं। समझमें नहीं आता ऐसा निश्चय भाव कबतक चलावेगा? उठो,

एकबार स्वात्माकी दिव्य शक्तिका सहारा लेकर इन कल्पित कल्पनाओंका निपातकर उस आनन्द समुद्रके तटकी सुखद समीर का सस्पर्श कर सावधान होकर साहस कर इस अनादि संलग्न दुराग्रहसे समर्जित संसार भ्रमणके मूल कारण मोहके पौरुषको कम्पायमान कर दो। एकबार भी यदि उसे नीचा दिखानेका प्रयत्न कर तुम सफल हुए तब फिर उसकी शक्ति आपके सम्मुख आनेकी न होगी परन्तु यहाँ तो हम मोह शत्रुके साथ लड़ाई करनेको उद्यम नहीं करते किन्तु इसकी जो सेना है और उस सेनाके उद्गम होनेमें जो बाह्य निमित्त हैं, उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा करते हैं। कोई शत्रुकी मियानको लेकर चूर्ण कर देता है, इस तरह यदि असि (तलवार) को रखनेका स्थान ही नष्ट हो जावे तब शत्रु अनायास असि फेंकनेका प्रयत्न करेगा। इसी तरह हमारा भी भगीरथ प्रयत्न स्त्री पुत्रादि बाह्य पदार्थोंके त्याग में उपक्षीण हो जाता है। यदि बहुत लम्बा प्रयास किया तब पौद्गलिक शरीरके पोषक घृतादि रसके त्यागमें पर्यवसान हो जाता है। बहुत दूर गये तब शुभोपयोग साधक अरिहन्तादिको बन्धका कारण समझ केवल निरुद्यमी होकर अभ्यन्तर संक्लेश जालमें फसकर न इधरके और न उधरके रह जाते हैं। चौबेजी छब्बे बनने जाते हैं पर दुबे बनकर रह जाते हैं। परमार्थ तत्त्व तो यह है कि जैसी कषायकी मन्दता हो, अथ च बाह्य द्रव्यादि सामग्रीकी अनुकूलता हो, उस समय त्यागका जो भाव हो, उसका निर्वाह आजन्म करे। तथा परिणाम विशुद्धताके अनुकूल पूर्व व्रतोंकी रक्षा करता हुआ उत्तर वृद्धि करे।

त्याग आत्मासे सम्बन्धित है और मन, वचन कायके व्यापारसे परे हैं। यह तो अभ्यन्तर शुद्धिके सहकारी कारण हैं, इनका व्यापार मुख्य शुद्धिका प्रयोजक नहीं किन्तु न यह संसारके

कारण हैं और न उसके अभावके ही कारण है। जैसे यदि अभ्यन्तर प्रमाद है तब बाह्य शरीरादि द्वारा हिंसा हो या न हो, पर बन्ध अवश्यम्भावी है। और प्रमादके अभावमें बाह्य हिंसा भी हो जावे तब भी बन्ध नहीं। अतः बाह्य भोजनादि सामग्रीका परित्याग कर तपस्वी भी हो जावें किन्तु अन्तरङ्ग लालसाके सद्भाव में पारमार्थिक तपस्वी नहीं। तपस्विता तो दूर रहे, प्रत्युत मिथ्या चारित्री हैं। अतः अन्तरङ्ग भावके बिना बाह्य आचरण दम्भ है। व्रत इस वास्ते नहीं कि लोग हमें व्रती कहें अपितु हम संसार दुःखसे बचें इसलिये है।

दूसरी परिभाषा आकुलता है। उसकी विरोधिनी निराकुलता है। आकुलताका जनक रागादि जबतक जीवित है तबतक निराकुलताकी जनन शक्ति वीतरागता नहीं। जब वीतरागता ही नहीं तब निराकुलता कैसी? त्यागका तात्पर्य तद्विषयक रागादि न होना है। यहाँ तो एकको छोड़ अन्य द्वारा शान्ति करना प्रत्युत विषय उपाय कर आकुलताकी ही उत्पत्ति कर लेना है। अतः यह त्याग मेरी समझमें तो कालान्तरमें विशेष रागादिकका ही उत्पादक है।

(वैशाख सुदि ४)

पदार्थके परिणमन पृथक् पृथक् हैं। जैसे मयूरके जो नील पीतादि वर्ण हैं। वह जो स्वद्रव्य स्वभावेन परिणमते हैं वह मयूर ही है। तद्वत् जो पुद्गल द्रव्यात्मक मोह कर्मकी विपाकावस्था है उसका तादात्म्य उसी पुद्गल द्रव्यमोह कर्मसे है। किन्तु उसके निमित्तको पाकर जो आत्माकी स्वकीय चारित्रात्मक निश्चल परणति है वह रागादि रूप परिणमती है। अथ च आत्मामें ज्ञान गुण है जिसका स्वभाव पदार्थ प्रतिभासित होनेका है अतः वह परिणति उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। उससे हमें यह प्रतीत

होने लगता है कि ज्ञान रागादि रूप हो गया। वस्तुत ज्ञानमें रागादिक तो प्रतिभासित हुए पर ज्ञान रागादि रूप नहीं हुआ। जैसे मयूरके प्रतिबिम्बसे दर्पणकी स्वच्छता शुद्ध मयूररूप नहीं हुई। यदि नहीं हुई तो उसमें जो भासमान होता है वह मिथ्या हुआ और हमें जो उसका ज्ञान होता है वह भी मिथ्या हुआ सो भी नहीं। किन्तु दर्पणकी स्वच्छता मयूर सन्निकटतासे विकृत हो गई और वह विकृति रूप परिणमन दर्पणका ही है और यही हमें ज्ञात होता है। इसका अर्थ यह कि वैसे दर्पणको देखकर हमारे ज्ञानका परिणमन दर्पणवत् भासमान होने लगता है, न कि ज्ञान दर्पण हो जाता है। अब देखो परम्परा कहाँ तक जाती है? अब यहाँ पर यह विचारणीय है कि हमको इष्टानिष्ट कल्पना होती है उसमें क्या पर पदार्थ कारण है? नहीं, हमारे ज्ञान का ही परिणाम हमें इष्टानिष्ट कल्पना करा देता है, क्योंकि सभी जीवमें रागद्वेषकी कल्पना प्राय पदार्थके ज्ञानमें प्रतिभास होते ही अन्तर्मोहकी सत्ताके उदयमें बलात्कार हो जाती है। अत जहाँतक बने बाह्य वस्तुकी संगति अभ्यन्तर अध्यवसानका निमित्त जान त्यागना किन्तु इसीके ऊपर अवलम्बित न रहना। अभ्यन्तर कलुषताकी ओर भी निरन्तर परामर्श करते रहना तथा उसका उपाय उसकी कथा ही न करना केवल उपयोगको शुद्ध चिद्रूपमें लगा देना चिद्रूपमें न लगे तब यह विचार प्रणाली चिद्रूपके साधक जो तत्त्व हों उनमें रमा देना। ऐसी रमाना कि चिद्रूप बाधक कलङ्ककी कालिमा धोकर ही निकले। यदि चिद्रूप साधक तत्त्वमें परिणाम न जावे तब कुछ प्रयास न करना, चिद्रूप साधकके जो बाधक तत्त्व हैं उन्हींमें तल्लीन हो जाना, शुद्धोपयोगकी कथा तक भूल जाना किन्तु पर्यवसानमें इतना ही फल निकालना जो यही परिणति चिद्रूपकी बाधिका

है। यह सम्यग्ज्ञान यदि आपके विचारका अन्तिम निष्कर्ष हो जावे तभी आप चिद्रूपको पा सकेंगे। चिद्रूपकी प्राप्ति कोई दुर्लभ नहीं। दुर्लभ तो यों हो रही है जो हम उस ओर लक्ष्य नहीं देते। केवल जो पदार्थ सम्मुख आवे कूप मण्डूक के सदृश मान सरोवरकी कल्पना कर आत्मामें सन्तोष कर लेते हैं। अथवा मनमें जो शुद्ध कल्पना हुई उसीको यथार्थ मार्ग समझ आगे क्या है इसकी ओर लक्ष्य नहीं देते। बिना पूर्व स्थान छोड़े उत्तरका मिलना जैसे असम्भव है तद्वत् शुभाशुभ परिणामोंके अभाव बिना शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति प्राय दुर्लभ ही है।

(वैशाख सुदि ९)

क्षमाकी याचना करना अपराधी बनना है। यदि तुमने अभ्यन्तरसे अपराध ही नहीं किया है तब क्षमा माँगनेकी आवश्यकता ही क्या है? क्षमा भी कोई क्या करेगा, जिनसे क्षमा याचना कर रहे हो वे यदि भीतरके दयालु और व्रती हैं तब तो वह चरणानुयोगकी पद्धतिसे सहर्ष आपके परिणामोंमें विशुद्धताके निमित्त हो जावेंगे और यदि वक्राभिप्रायवाले हैं तब यही होगा कि जिससे क्षमा माँगी वह यही समझता है कि हमसे यह पराजित हो गये हैं, हार मान गये हैं, हमारी शरण आये हैं अतः क्षमा माँगनेकी चीज नहीं किन्तु अन्तरङ्गसे किसी बाह्य वस्तुके ऊपर स्वप्नमें भी अनिष्ट कल्पना न करो, यही परमार्थसे क्षमा है। यदि तुमने वास्तविक अभिप्रायसे अन्यके अनिष्ट होनेके भाववेशमें स्वात्माको कलङ्कित कर लिया है तब क्षमा माँगनेसे ही क्या लाभ? भविष्यमें कभी भी ऐसा भाव न हो, यही क्षमा है। दिखावटी या बनावटी लौकिक शिष्टाचार क्षमा नहीं है, उससे आत्मशुद्धि सम्भव नहीं है। शुद्ध होनेका सरल उपाय तो यह है कि निरन्तर शुद्ध चिद्रूपका स्मरण करें।

आपत्ति यह है कि अशुद्ध चिद्रूपके सद्भावमें शुद्ध चिद्रूपकी उपासना कैसे हो, क्योंकि जैसे जब शरीर अशुचि होता है तब मनुष्य पूजन आदि पवित्र कार्योंका अधिकारी नहीं हो सकता है। आपका यह कहना तथ्य है पूजनादिका पात्र न हो परन्तु स्मरणका पात्र तो रहता ही है। अतएव—प्रतिदिन पूजामें पढ़ा भी जाता है—

'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् परमात्मानं सः बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥'

तद्वत् अशुद्ध चिद्रूपके सद्भावमें शुद्ध चिद्रूप परिणमन न हो सके किन्तु शुद्ध चिद्रूपके श्रद्धा ज्ञानमें क्या क्षति है?

(वैशाख सुदि १२)

शान्तिका उपाय संसारमें नहीं तो क्या मोक्षमें है? नहीं,शान्ति का उपाय मिथ्याभावोंके त्यागसे ही उदय होता है। जब यह जीव मिथ्याभावोंके मन्द होने पर तत्त्वज्ञानका अभ्यास करता है, उस समय अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता है और फिर भ्रमात्मक बाधाओंको पृथक् कर स्वरूप साधक कारणोंके अर्जन करनेमें स्वकीय भावोंको निर्मल करनेमें प्रयत्नशील होता है तथा उन कार्योंके कारणोंको जो कि संसारके वर्धक थे तिलाञ्जलि दे देता है तब अनायास एक समय वह आता है कि अनायास घुणाक्षर न्यायेन स्वात्मोपलब्धिके भावोंको प्राप्त कर अतुल सुखामृतके भोक्तृत्वका पात्र हो जाता है।

(वैशाख सुदि १३)

'दुःख क्या है?' इस बात पर यदि विचार किया जाय तब स्पष्ट होगा कि आत्मामें सुख नामक जो एक शक्ति है, जिसे आह्लाद, आनन्द, तृप्ति, सन्तोष इत्यादि नामोंसे भी व्यवहृत करते हैं, जिसके लिये संसारके समस्त प्राणी प्रयत्न करते हैं, उसी

शक्तिमें या गुणमें रागादि विकृत भावके द्वारा आकुलता रूप जो परिणति हो जाती है उसीका नाम दुःख है।

(जेठ वदि ५)

केवल बाह्य वचन सुन्दरता स्वात्मतत्त्वमें उपयोगिनी नहीं। जहाँतक हो सके अब वचन पटुताको त्यागकर वह पटुता सम्पादन करो जिससे स्वात्मशान्ति मिले। शान्तिका एक उपाय यह है कि किसी ज्ञेयको राग-द्वेष पूर्वक न जानो, यदि सहजमें जानना हो जावे, तो हो जावे, जाननेके लिये व्यर्थ क्लेश क्या करते हो? वस्तुका जो परिज्ञान हो उसका ही अभ्यास करो। पाण्डित्य सम्पादनकी ख्यातिकी कामना न करो। यह बहुत ज्ञानी है, हम कुछ भी नहीं जानते, अथवा हम कैसे ज्ञानी हैं यह विचारे मूर्ख लोग मार्मिक सिद्धान्त क्या समझें? ऐसा जो मोह जन्य भाव है वही दुःखप्रद है।

(जेठ वदि ७)

जो बात अन्तरंगसे होती है अर्थात् अन्तरङ्गमें उस विषयका राग नहीं होता स्वयमेव त्रव हो जाता है। चरणानुयोगमें जो उपदेश है वह कषायके मन्द उदयमें सम्यग्ज्ञानी जीवोंके बाह्य वचन कायकी चेष्टा होती है तद्रूप प्रत्ययमें आती है। अभ्यन्तर मनोव्यापारकी यही अनुमापिका होती है। अतः कहनेका यही तात्पर्य है कि जो कार्य करो बुद्धि पूर्वक करो। जगतके मनुष्य हमारी प्रवृत्तिको अच्छा कहें या बुरा कहें, इस पर कभी भी ध्यान न दो, क्योंकि यह तीव्र कषाय है इससे लाभ नहीं प्रत्युत हानिकी ही अधिक सम्भावना है। अतः यदि आत्म कल्याण करनेकी अभिलाषा है तब इन लौकिक आकाङ्क्षाओंको त्याग कर अपने ध्येयकी ओर लक्ष्य देनेमें ही मनुष्य जन्मकी सार्थकता है। केवल वस्तु तो केवल ही है, उसमें इतरका

सम्पर्क बाधक ही है। बाधक ही नहीं उसके केवलत्वका घातक भी है। घातकसे तात्पर्य यह है कि पर पदार्थके संसर्गसे अभ्यन्तर परिणति कलुषित रहती है, इससे केवल परणति दुर्लभ ही है।

(जेठ वदि ८)

दुःख की कथा करना भी दुःख है, अतः उपयोगको केवल उपयोग रहने दो।

(जेठ वदि ९)

त्याग और ग्रहण की प्रणालीमें ही अगाध सुख समुद्रकी गम्भीरताकी अनुभूति नहीं। जिस त्याग और ग्रहणमें उस अगाध सुख समुद्रका स्पर्श न हो वह त्याग और ग्रहण गुड़ियोंका खेल है। जिस त्याग और ग्रहणमें आकुलताकी उत्पत्ति हो वह क्या त्याग है ? जिस त्यागमें निराकुलताकी छटा प्रतिभासित होने लगे वही सच्चा त्याग है। जिन पर वस्तुओंके त्यागको हम त्याग मान रहे हैं वह तो मिथ्याज्ञानकी वासना है। जिन भावोंके द्वारा 'पर वस्तु समुदाय मेरा है' ऐसा भाव प्राणीका होता है वही भाव त्यागने योग्य है। अर्थात् पर वस्तुके त्याग होने पर यदि शान्तिका उदय हो तो समझो कि यही सत्य त्याग है और यदि हर्षके साथ शान्तिका उदय हो तो तब समझो अभी उसमें मन्द कषायका उदय मिल रहा है। उसमें जो हर्ष मिल रहा है उसे सम्यग्ज्ञानी स्वरूप घातक ही जानता है।

(जेठ वदि १०)

प्रायः प्रत्येक मनुष्य अपना पराभव नहीं चाहता या अन्य शब्दोंमें यों कहिए कि अपने उत्कर्षकी आकांक्षा अपने हृदयमें मुद्राङ्कित किये है और यही कारण है कि प्रायः हर एक प्राणी दुःखी रहता है और निरन्तर असंख्य कल्पनाएँ करता

करता पर्यायको पूर्ण कर ससार चक्रका ही पात्र रहता है। जिस महापुरुषने इस क्षुद्र भाव पर विजय पाई वही इस विषम परिस्थितिसे उत्तीर्ण होनेकी नौकामें आरोहण करता है।

(जेठ वदि १०)

बहुत ही गम्भीर बुद्धिसे देखा जाय तब यही निष्कर्ष निकला कि अन्धे प्राणियोंकी तरह लाठीसे चले जाओ और पूछते जाओ नानाप्रकारके आघात प्रत्याघात द्वारा यातनाओंको सहते जाओ अभी मोक्षमार्गकी रथ्या अतिदूर है। केवल कायरताने सब पुरुषार्थका विध्वस कर रखा है। उस पर विजय पानेकी आपके इच्छा नहीं, क्योंकि कहनेको अवसर है कि—'पञ्चम काल है।' इस हीन पुरुषार्थमे आपकी पात्रता होना बहुत कठिन है। पञ्चम कालमें साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं परन्तु बीचमें सुन्दर स्थानो पर नानाप्रकारके लौकिक चमत्कारोंको देखते हुए कोई न कोई स्थान पर पहुच कर वहींसे साक्षात् मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो सकती है। किसीको यदि ऊर्ध्व जाना पड़ा तब एक बार फिर स्वर्ग भूमिकी शोभाको देखकर कुछ समय विश्राम कर फिर इसी मध्य क्षेत्रमें आकर उसी अनुपम मार्गकी साक्षात् प्राप्ति हो सकती है। अत कायरताको छोड़ो और पुरुषार्थ करो और जो आपके अधीन शत्रु (रागादि) आया है उसका निर्दयतापूर्वक नि पात करनेका प्रयत्न करो। प्रतिदिन अमली मनुष्योंकी कथाका अनुकरण मत करो, शूरवीर बनकर स्वदेशके हित प्राणपनसे सन्नद्ध होकर युद्ध करनेका उद्यमी हो जाओ, अवश्य ही तुम साम भिन्न मुनिकी तरह विजयी होंगे।

(जेठ सुदि १)

परकी समालोचनामें आत्मपरणति क्षीण होती है और आत्महित दूर होता है।

(जेठ सुदि २)

निमित्त कारण कल्पित हैं। इनका नियम नहीं कि जो एकको शुभ उपयोगके साधक हो वह दूसरोंको भी हो, अत निमित्तके ऊपर निर्भर रहना सर्वथा अनुचित है।

(जेठ सुदि ८)

ज्ञान उपासनाके बिना चारित्रकी उपासना सर्वथा असम्भव है। ज्ञान वह वस्तु है जो आत्माको भेदज्ञान करानेमें समर्थ होकर शान्तिका पात्र बनाता है।

(जेठ सुदि ६)

ससारका जो स्वरूप है वही रहेगा, क्योंकि जिस वस्तुका जो स्वरूप है उसकी सत्ता कभी भी उससे पृथक् नहीं होती अत जो महाशय दो वस्तुओंकी पर्यायोंको या उन वस्तुओंको एक करनेकी चेष्टा करते हैं वह वस्तु स्वरूपसे अनभिज्ञ हैं।

(जेठ सुदि ८)

प्रयास हीन प्राणीका जीवन निरर्थक है। जीवनका लक्ष्य आत्महित है। जिन प्राणियोंके मोक्षमार्ग विषयक प्रयास नहीं उनकी जीवन लीला क्रीड़ामात्र है।

(असाढ सुदि १)

धीरता वही हितकर है जिसमें कलुषित परणति न हो।

(असाढ सुदि ९)

इस भव वनमें भटकते प्राणियाको जो कष्ट होता है उसे वही जानता है। उसकी कथा करना एक कौतुहली प्रथा है। तत्त्व दृष्टिसे अपने परिणाम परिपाटीको विचारो शान्तिके उत्पादमें कौन बाधक कारण है।

(असाढ सुदि ११)

सङ्कोचकी जड़ पापमें है।

(श्रावण बदि २)

कल्याण पथकी प्राप्तिका सरल उपाय यह है कि अखिल विश्वको मध्यस्थ भावसे देखो। पर पदार्थमें परत्व और निज पदार्थमें निजत्व ही इस देखनेमें मूल है।

(श्रावण वदि ८)

जिन पर पदार्थोंके निमित्तसे कलुषता हो उनका दूरसे ही परिहार करना चाहिए। वही महापुरुष विजेता है जो निमित्तकी प्रबलतामें उपयोगको कलुषतासे रक्षित रक्खे। भार्य्याभावे (स्त्रीके अभावमें) तो सभी ब्रह्मचारी हैं। नेमि प्रभुके सदृश सुन्दरी राजुल जैसी नारीरत्न आदि प्रत्यर्थ कारणोंके सद्भावमें काम शत्रुको विजय कर स्वात्मलाभकी पात्रता प्राप्त करनेवाले ही सच्चे विजेता हैं।

(श्रावण वदि ११)

आत्माका स्वभाव सुख और शान्तिमय है। केवल उसके बाधक कारण हमने कल्पनारूढ कर रक्खे हैं। असल परमार्थ दृष्टिसे पर पदार्थ तो उसके बाधक ही नहीं चाहे वह चेतन हो, अचेतन हो, या मिश्र हो। केवल स्वयं आत्मा ही अपने सुखका बाधक और साधक है। जब यह आत्मा बाह्य दृष्टिके ऊपर ही स्वकीय परणितिको तन्मय बनाता है अर्थात् बाह्य पदार्थका अवलम्बनकर सङ्कल्प करता है तभी अज्ञान चेतनाको अवकाश मिल जाता है।

(कुआँर वदि ९)

संसारमें शान्ति है परन्तु निरन्तर उसकी कथा करनेकी परणतिने उसे छिन्न भिन्न कर रक्खा है। जो कोई उसे उपार्जन करना चाहे उसे यह कथोपकथनकी परिपाटी छोड़नी होगी।

(कुआँर सुदि ४)

उपयोगकी स्थिरता ही कार्यसिद्धिमें प्रयोजक है। जिनके

उपयोग स्थिर नहीं वह सहयातु कदापि भवसागरसे उत्तीर्ण नहीं हो सकते।

(कुआँर सुदि ५)

भोजनकी गृध्नताका अभाव नीरोगताका कारण है।

(कुआँर सुदि ६)

धर्मका मूल निरालस और ध्येयकी निश्चलता है।

(असाढ़ सुदि ११)

अभ्यन्तर शान्तिके बिना ऊपरी शान्ति अशान्तिका रूपान्तर है।

([1] कार्तिक वदि २)



१ जहाँ तारीखके साथ गाँवका नाम नहीं दिया है वहाँ पूर्वमें गाँवका जो नाम दिया हो वह गाँव जानना चाहिए।

गागर में सागर

गागर में सागर

मङ्गलाचरण—

आदीश्वर जिन वन्द कर आगम गुरु जिन लाय।
अन्य वस्तु को त्याग कर मेटहु जगत उपाय ॥ १ ॥

दुहा—

जो सुख चाहो मित्र तुम तज दो बातें चार।
चोरी जारी दीनता और पराई नार ॥ २ ॥
जो सुख चाहो मित्र ! तुम तज दो परकी आश।
सुख नाहीं संसार में सदा तुम्हारे पास ॥ ३ ॥
जो सुख चाहो आत्मा ! परकी संगति त्याग।
लोहे की संगति पिटै जगमें देखहु आग ॥४॥
जो सुखकी है लालसा छोड़ो व्यर्थ पलाप।
आतमगुण चिन्तन करो यह ही मुख्य उपाय॥५॥
जो सुख चाहो देहका तज दो बातें चार।
बहु भोजन बहु जागना बहु सोना बहु जार॥६॥
जो सुख चाहो आत्मा ! तज दो बातें चार।
कुगुरु कुदेव कुधर्म अरु दुराचार असदाचार ॥७॥

जो सुख चाहो आत्मा ! परका छोड़ो संग ।
परकी संगतिके किये होत शान्ति में भङ्ग ॥८॥

जो सुख चाहो आत्मा ! तज दो पर का संग ।
परमें निजकी कल्पना यही जगत का अङ्ग॥९॥

आप बड़ाई कारने निन्दा कार्य करन्त ।
उन मूढ़नके संगसे होगा नहिं दुख अन्त॥१०॥

जो चाहत हित होय हम तज दो पर का सङ्ग।
बात बनाना छोड़ दो मनहि बनाओ नङ्ग॥११॥

जो चाहत दुख से बचें करो न परकी चाह ।
पर पदार्थ की चाहसे मिटे न मनकी दाह ॥१२॥

जो सुख चाहो आपना तज दो पर का नेह ।
अन्य जनों की बात क्या मीत न तुमरी देह॥१४॥

जो निज परिणति में रमे त्याग सकल परपञ्च ।
सो भाजन निज अमर सुख दुख नहिं व्यापे रञ्च॥१४॥

शान्ति—

शान्तिमार्ग अति सुलभ है परका छोड़ो मोह ।
यही मार्ग कल्याणका क्यों करते हो कोह ? ॥१५॥

चाहत जो मन शान्ति तुम तजहु कल्पना जाल।
व्यर्थ भरमके भूतमें क्यों होते बेहाल ॥ १६ ॥

आत्मज्ञान—

गल्पवादमें दिन गया विषयभोग में रात।
भोंदू के भोंदू रहे रात दिना निललात ॥ १७ ॥
आप आपकी बात कर परको निज मत मान।
आत्मज्ञानके होत ही हो आतम कल्याण ॥१८॥
शिव मारग निर्द्वन्द है जो चाहो सो लेय।
मूरख माने द्वन्द्व में नहिं जाने निज भेय ॥ १९ ॥
जो ससार समुद्रसे है तरने की चाह।
भेदज्ञान नौका चढो परकी छोडो राह ॥ २० ॥
*सत्तर छह के फेर में गया न मनका मैल।
खाड लदा भुस खात है निन विवेकका बैल ॥२१॥
जन तन धन विद्या विभव नहिं दुर्लभ जग मात।
पर दुर्लभ निज तत्त्व है याते तुम भयभीत ॥ २२ ॥
जो चाहत निज तत्त्वको परसे छाडहु नेह।
नहिं तो फिर पछताओगे नर्क मिलेगा गेह ॥२३॥

* यह दोहा वर्णी जी ने दैनन्दिनी में अपनी ७६ वर्ष की आयुको लक्ष्य करके लिखा है।

कल्पतरु निज आत्मा पग्की करते आश।
सुधा सिन्धुको छोड़कर चाटत ओस प्यास ॥२४॥
आत्मनिधीको त्यागकर घर घर डोलत दीन।
निज तनमें समझे बिना यह मृग भटकत दीन॥२५॥
जिन निज खोजा पाइया यामें नाहीं फेर।
ऊपर ऊपर जे फिरत उनहिं लगत अति देर ॥२६॥
थोथी बातोंमें नहीं मिलता आतमस्वाद।
पानी मन्थन में नहीं मिलता मक्खन स्वाद ॥२७॥
जन्म गमाया भोगमें फीनी पर की चाह।
दुखी हुआ संसार में मिटी न मन की आह ॥२८॥

आत्म निर्मलता—

अभिप्राय दूषित किये नहिं जानत निजधर्म।
निर्मल आतमके सभी कर्म होत सद्धर्म ॥ २९ ॥

संयम—

मनुषजन्मको पायकर संयम नाहिं धरन्त।
हाथीसम होकर सभी गर्दभ भार वहन्त ॥ ३० ॥

चातुर्य—

बहु सुनवो कम बोलवो सो है चतुर विवेक।
तब ही तो हैं मनुजके दोय कान जिभ एक ॥३१॥

दया—

चाहे कितना हू करो तपधारण अतिघोर।
एक दया बिन निफल है रात्रि बिना ज्यों भोर ॥३२॥

असार संसार

राजा राणा रङ्क अरु पण्डित चतुर सुजान।
अपनी अपनी बीरिया रहे न एकहु मान ॥३३॥

परिग्रह—

तजहु परिग्रह कामना जो चाहत निजरूप।
अर्थचाह जिनकी गई तिन सम नाहीं भूप ॥३४॥

परप्रपञ्च—

परकी ममता छोड़ कर भजलो आतम राम।
याके कारण मिटत है जीवन के यमधाम ॥३५॥
छोडो परकी बात तुम इसमें नहिं कुछ सार।
परप्रपञ्चके कारने होय न आतम सुधार ॥३६॥

नेह-मोह-माया—

नेह दुःखका मूल है यह जाने सब कोय।
इसकी सङ्गति तिलोंका घानी पीलन होय ॥३७॥
मोहोदयमें जीव के होता है संकल्प।
परमें आपा मानकर करता नाना जल्प ॥३८॥

जिसने त्यागा मोहको वह शूरों में शूर।
जो इसके वश हो रहे वह क्रूरोंमें क्रूर ॥ ३९ ॥
महिमा अपरम्पार है मायावी की जान।
ऊपरसे नौका लगे भीतर विषकी खान ॥ ४० ॥
करनेको कछु और है मनमें ठाने और।
वचनों में कुछ और है इनकी आओ न पौर ॥४१॥

अपनी भूल—

परम धरम को पायकर सेवत विषय कषाय।
ज्यों गन्ना को पायकर नींमहिं ऊँट चबाय ॥४२॥

खेद—

खेद करो मत आतमा खेद पापका मूल।
खेद किये कुछ न मिले खेद करहु निर्मूल ॥४३॥

सदाचार—

भवदुख सागर पारको गुरुवच निश्चयधार।
सदाचार नौका चढ़हु उतरत लगहि न वार ॥४४॥

वर्णी वाणी

'वर्णीवाणी' मैंने पढ़ी। 'सफलताके साधन' एवं 'विद्यार्थियोंको शुभ सन्देश' नवयुवकोंके लिये विशेष रूपसे उपयोगी हैं। इस पुस्तक द्वारा वर्णीजीके उत्तम विचारोंका प्रचार करनेमें सहायता मिलेगी। इस उत्तम पुस्तकका सङ्कलन करनेके लिये, मैं श्री नरेन्द्रजीको बधाई देता हूँ। आशा है हिन्दी संसार इस पुस्तकके नवीन संस्करणका उचित आदर करेगा।

प्रयाग
३।२।४९

दयाशङ्कर दुबे
एम. ए. एल-एल. बी.
अध्यक्ष—अर्थशास्त्र परिषद्
प्रयाग विश्वविद्यालय